नागानन्दम्

राम नारायण लाल बेनी माधव
२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२११००२

Bhavan's Sanskrit
Department
18.8.92

MUNSHIRAM MONOHARLAL
PUBLISHERS PVT. LTD.
Sanskrit Religious Music & Ayurvedic Book Sellers
4416, Nai Sarak, Delhi-110006
Phone : 2911154

Nj-7

श्रीहर्षदेवप्रणीतम्

नागानन्द - नाटकम्

[अन्वय, संस्कृत व्याख्या, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत टिप्पणी,
विशद भूमिका समेत]

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya - Bharatiya Vidya
730

व्याख्याकारः

तारिणीश झाः

व्याकरणवेदान्ताचार्यः

रामनारायणलाल विजयकुमार

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२

प्रथम संस्करण] १९८१ [मूल्य [redacted] रुपये

Ram Narain Lal Vijay Kumar, 2, Katra Road Alld.
१९७२ Revised Price Rs. 25/-

प्रकाशक
रामनारायणलाल विजयकुमार
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद- कटरा रोड, इलाहाबाद-२११००२

Bhawan's Sri Sankaracharya ... Bharatiya Vidya ... Mahavidyalaya
730

१४ जनवरी, १९८१

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद-२

भूमिका

कृतिकार एवं कृति

(१) कृतिकार

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नावली के आमुख में लिखा है--'नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः--'यत्तदस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनाऽलङ्कृतं विद्याधरजातकप्रतिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतम्। इससे स्पष्ट है कि इस नाटिका के कृतिकार हर्षदेव हैं। पर प्रश्न उठता है कि कौन हर्षदेव इसके रचयिता हैं, क्योंकि संस्कृतसाहित्य में तीन हर्ष का नाम मुख्यतया आता है--एक नैषधकार श्रीहर्ष, दूसरे काश्मीराधीश श्रीहर्ष और तीसरे स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन के पुत्र हर्ष, जिनके जीवन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने अपना 'हर्षचरित' लिखा है। प्रथम श्रीहर्ष को नागानन्द का कर्ता इसलिए नहीं माना जा सकता कि एक तो उनकी भाषा-शैली तथा प्रौढि नागानन्द की रचना में नहीं पायी जाती। दूसरे नैषधकार श्री हर्ष राजा नहीं थे, प्रत्युत कन्नौज के राजा के आश्रयवर्ती कवि थे, जैसा कि उन्होंने अपने नैषधचरित के अन्तिम श्लोक 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' में स्वयं स्वीकार भी किया है। इसके अतिरिक्त इनका स्थितिकाल ईसा की १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है।

दूसरे काश्मीराधीश श्रीहर्ष के विषय में कवि कल्हण ने लिखा है--

सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः।
कृत्स्नविद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि ॥ (राज० ७, ६११)

इसी श्लोक के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों न काश्मीराधीश को ही हर्षरचित ग्रन्थत्रय--प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द--का प्रणेता मान लिया है। किन्तु इसका खंडन इसी से हो जाता है कि महाराज भोजदेव ने, जो काश्मीराधीश श्रीहर्ष के पितामह अनन्तदेव के सम-सामयिक थे, अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'रत्नावली' के श्लोक उद्धृत किये हैं।

अनन्तदेव का समय ईस्वी सन् १०६५ के आसपास माना जाता है। ऐसी स्थिति में ७वीं शती में ही प्रख्यात हुई रत्नावली अनन्तदेव के पौत्र की रचना कैसे हो सकती है? दूसरे प्रकार से भी देखिए कि दशरूपक के रचयिता धनञ्जय धारा के विद्याप्रेमी राजा मुञ्ज (९७४-९४ ई०) के दरबारी पण्डित थे--

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठ्यां वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ।।

(दशरूपक)

धनञ्जय ने 'दशरूपक' में 'रत्नावली' के उद्धरण दिये हैं। मुञ्ज के समय तक काश्मीराधीश अनन्तदेव की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, फिर उनके पौत्र हर्षदेव कहाँ से हुए होंगे और रत्नावली कैसे उनके द्वारा लिखी गई होगी। अतः पाश्चात्त्य विद्वानों की उपर्युक्त मानना सर्वथा असंगत है।

फलतः प्रभाकारवर्धन के पुत्र हर्ष देव को ही 'रत्नावली' का प्रणेता मानना चाहिए।

(२) हर्षदेव की जीवनी

महाकवि वाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में हर्षदेव की पूरी जीवनी अंकित की है। तदनुसार--

स्थाण्वीश्वर (=थानेसर, जि० कर्नाल) में प्रभाकरवर्धन नामक राजा हुआ। उसका दूसरा नाम प्रतापशील था। उसने हूणों को मार भगाया तथा सिन्ध, गुर्जर (पंजाब, मारवाड़), गान्धार (कन्धार, पेशावर) लाट (दक्षिणी गुजरात, गुजराततट, भड़ौच, सूरत) और मालव को जीता। वह बड़ा वीर और उदार था। उसकी प्रजा धार्मिक और सुखी थी।

उसकी रानी यशोवती (यशोमती) बड़ी पतिव्रता थी। कालक्रम से उसने राज्यवर्धन नामक पुत्र को प्रसव किया। पुनः कई वर्षों के बाद ज्येष्ठ-कृष्ण-द्वादशी को कृत्तिका नक्षत्र में संध्यासमय के बीतने पर रानी ने हर्ष नामक द्वितीय पुत्र को जन्म दिया (ज्योतिष के गणनानुसार हर्ष का जन्म ४ जून ५९० ई० को हुआ था)। जब राज्यवर्धन छह वर्ष का और हर्ष दो वर्ष के हुए तब रानी ने राज्यश्री नामक पुत्री को पैदा किया।

इसी समय रानी यशोवती के भाई (मालवराज) ने प्रायः आठ वर्ष के भण्डि नामक अपने पुत्र को कुमारों के अनुचर रूप में अर्पित किया। दोनों कुमारों को समुचित शिक्षा दी गई। उन्होंने शास्त्रों का अभ्यास किया। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई।

राज्यश्री ने नृत्यगीत आदि कलाओं की शिक्षा पाई। क्रमशः वह युवती हुई। रानी से परामर्श करके राजा ने मौखरि-वंश के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री का विवाह कर दिया।

एक बार राजा ने राज्यवर्धन को, जो कवच पहनने के योग्य हो गया था, हूणों को मार भगाने के लिए उत्तरापथ (थानेसर से उत्तर या उत्तर-पश्चिम के भू-भाग) में भेजा। हर्ष भी उसके पीछे-पीछे कुछ दूर तक गये। किन्तु वे हिमाचल के अंचल में ही शिकार खेलते रहे। कुछ समय के बाद राजधानी से राजा की अस्वस्थता 'दाहज्वर' का समाचार आया। हर्ष तुरन्त थानेसर की ओर लौट पड़े। रास्ते में बिना खाये-पीये तीसरे दिन वे राजधानी पहुँचे। राजा का रोग बहुत बढ़ गया था। उसे मरणासन्न समझकर रानी यशोवती चिता जलाकर सती हो गई। शोकाकुल हर्ष को अन्तिम उपदेश देते हुए राजा ने कहा--'प्रजा का पालन करो, शत्रुओं को निःशेष करो'। इतना कहते ही राजा ने सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं। नगर के समीप ही सरस्वती नदी के किनारे राजा का दाह-संस्कार हुआ।

हूण-विजय के पश्चात् राज्यवर्धन के लौटने पर दोनों भाई एक दूसरे से गले मिले, दोनों के हृदय दुःख से मानो फटने लगे। राज्यवर्धन की राज्य ओर से विरक्त होकर संन्यास-ग्रहण की बात सोचने लगा और हर्ष ने भी अग्रज का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर समझा। इतने में ही राज्यश्री का परिचारक संवादक आ पहुँचा। उसने कहा--'देव! जिस दिन महाराज (प्रभाकरवर्धन) के मरने की बात फैली उसी दिन दुरात्मा मालवराज[1] ने अपने पुण्य सहित देव ग्रहवर्मा (राज्यश्री के पति) को इस संसार से पृथक् कर दिया। राज-

---

१. उस समय मालव नाम के दो-तीन प्रान्त थे--जैसे पूर्वी मालव, पश्चिमी तथा मालव खास। यह मालवराज पूर्वोक्त मालवराज से भिन्न है।

कुमारी राज्यश्री भी, जिनके चरणों को लोहे की काली बेड़ियों ने चूमा, चोर स्त्री की भाँति बाँधी जाकर कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई। और, किंवदन्ती है कि सेना को नायकहीन समझकर वह दुर्बुद्धि इस देश को भी अधीनस्थ करने की इच्छा से यहाँ आना चाहता है।' मालवराज द्वारा किये गये इस अपमान के प्रकट होने पर शोक का स्थान क्रोध ने ले लिया। दश सहस्र घुड़सवारों के साथ भण्डि को लेकर राज्यवर्धन ने मालव के विरुद्ध प्रयाण कर दिया।

बड़े भाई के चले जाने पर जब हर्ष उदास होकर किसी तरह दिन काट रहे थे तो एक बार राज्यवर्धन के घुड़सवार कुन्तल ने आकर निवेदन किया—'यद्यपि राज्यवर्धन ने मालव-सेना को अनायास ही पराजित कर दिया, तो भी गौड़पति ने मिथ्या उपचारों से उनका विश्वास-भाजन बनकर अपने ही घर में उन निःशस्त्र, एकाकी और विश्रब्ध को मार डाला।'

यह सुनकर गौडाधम के प्रति हर्ष का क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठा और सेनापति सिंहनाद ने अपने उत्तेजक भाषण से उसमें मानों घी की आहुति दे डाली। फिर क्या था, हर्ष ने दिग्विजय एवं पृथ्वी को निर्गौंड (गौडपति से रहित) करने की भीषण प्रतिज्ञा की और युद्धोद्योग की आज्ञा दी।

दिग्विजय के लिए प्रयाण करने पर हर्ष ने एक बार अपने एक शिविर में पहुँचकर राजकुमारों के ये उद्योग-द्योतक वार्तालाप सुने—'हिमालय और गन्धमादन का अन्तर अत्यल्प है, उत्साही व्यक्ति के लिए तुर्क देश हाथ भर और शक-स्थान खरगोश के एक पग के समान हैं। पारियात्र (विन्ध्याचल और अरावली पर्वत से पश्चिम, पश्चिमी मालवा) देश की युद्धयात्रा आसान है। शौर्य रूप शुल्क से दक्षिणापथ सुलभ है, इत्यादि'।

उसी समय आसाम के राजकुमार के यहाँ से प्रचुर उपहारों के साथ मित्रता का संदेश लेकर हंसवेग नामक दूत आया। हर्ष ने मित्रता की प्रार्थना स्वीकार की और अपनी ओर से वहुत-सा उपहार भेजा। मार्ग में एक दिन उसने पत्र-वाहक से सुना कि राज्यवर्धन के भुजबल से उपार्जित मालराज का अशेष साधन लेकर भण्डि आ गया है। भेंट होने पर भण्डि ने भाई की मृत्यु की सारी घटना कह सुनाई तथा राज्यश्री के बारे में बताया—'देव, राज्यवर्धन के स्वर्गीय

होने पर तथा गुप्त नामक व्यक्ति के द्वारा कान्यकुब्ज ले लिया जाने पर बन्धन से निकलकर देवी राज्यश्री ने परिचारिकाओं समेत विन्ध्यवन में प्रवेश किया, यह बात मैंने लोगों से सुनी। उनकी खोज में अनेक जन भेजे गये, किन्तु वे अब तक नहीं लौटे हैं।'

हर्ष ने मालव-राज के साधन का निरीक्षण किया और यथाधिकारी अध्यक्षों को स्वीकार करने के लिए आदेश दिया। राजा ने भण्डि को गौड़ की ओर बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं राज्यश्री की खोज में विन्ध्यवन की ओर चल पड़े।

विन्ध्यवन में पहुँचने पर राजा को जंगल के सामन्त शरभकेतु के पुत्र व्याघ्रकेतु से भेंट हुई। उसने भूकम्प नामक शबर-सेनापति के भागिनेय निर्घात को राजा के समक्ष उपस्थित किया। निर्घात ने बताया कि वहाँ से कोस भर पर एक पहाड़ी नदी के तीर पर छात्र-समूह के बीच दिवाकरमित्र नामक एक भिक्षु रहता है। कदाचित् वह राज्यश्री का समाचार जानता हो। निर्घात के बताये रास्ते से वह आचार्य दिवाकरमित्र के आश्रम में पहुँचा। वहाँ एक भिक्षु से अग्नि-प्रवेश के लिए उद्यत युवतियों के बारे में सुना। उन भिक्षु के बताये मार्ग से उस स्थल पर पहुँचकर उन युवतियों के बीच राज्यश्री और प्रज्वलित चिता को देखा। राजा के प्रयत्न से राज्यश्री का अग्नि-प्रवेश तो रुक गया; किन्तु पति एवं अपत्य से रहित उसने राजा से काषाय (संन्यास-वस्त्र) ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। यह सुनकर राजा ने आचार्य दिवाकरमित्र से कहा-- 'भाई का वध करने वाले रिपु-कुल का नाश करने की मैंने प्रतिज्ञा की है। जब तक मैं यह प्रतिज्ञा पूरी न कर लेता हूँ तब तक मेरी बहन मेरे समीप रहे, आप धार्मिक कथाओं और विमल उपदेशों से इसे प्रतिबोध कराते रहें। जब मैं अपना काम (गौड़विनाश एवं दिग्विजय) समाप्त कर चुकूँगा तब मेरे ही साथ यह काषाय ग्रहण करेगी।'

हर्षचरित के ये वाक्य हर्ष की विजयों पर प्रकाश डालते हैं--

१. इस विजेता ने सहायकों से युक्त चंचल राजाओं को (जीतकर) निश्चल किया।

२. इस भूपति ने शेष राजाओं को क्षमादान दिया।

३. इस नरपुंगव ने सिन्धुराज को जीतकर राज्यलक्ष्मी प्राप्त की ।

४. सम्राट् ने हिमालय के दुर्गम प्रदेशों से कर लिया (दुर्गम प्रदेशों से नेपाल, कश्मीर या अन्य पहाड़ी इलाकों का बोध हो सकता है) ।

अन्य सूत्रों से पता चलता है कि हर्ष ने वलभी-नरेश ध्रुवसेन को पराजित करके उसके साथ अपनी एक मात्र सन्तान (पुत्री) का विवाह कर दिया । गौड़-विजय के लिए जो उतनी तैयारी की गई थी, उसका क्या परिणाम हुआ, यह हर्षचरित से ज्ञात नहीं होता । संभवतः बौद्ध आचार्य दिवाकरमित्र के प्रभाव में आकर हर्ष ने गौड़ पर बौद्धोचित क्षमा दिखलाई हो । हर्ष ने 'दक्षिण भारत की ओर अपनी विशाल सेना के साथ प्रयाण किया । किन्तु नर्मदा नदी के किनारे चालुक्यनरेश पुलकेशी द्वितीय (६०८-४२ ई०) ने उसे पराजित किया और आगे बढ़ने के रोक दिया । तब से दक्षिण भारत और उत्तर भारत के इन दोनों समकक्षी सम्राटों ने नर्मदा नदी को मध्यवर्ती सीमा मान लिया । इस प्रकार उस समय प्रायः सम्पूर्ण भारत इन दो प्रतापी सम्राटों के बीच विभक्त हो गया । दक्षिण भारत के शिलालेखों के अनुसार हर्ष 'सकलउत्तरापथेश्वर' अर्थात् सारे उत्तर भारत के सम्राट् थे। ह्वेनसांग के अनुसार भी हर्ष पंचभारतों (सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला और उड़ीसा) के अधीश्वर थे । निश्चित है कि हर्ष की प्रभुता विन्ध्याचल के उत्तर प्रायः सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। उनके राज्य में पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, विहार, बंगाल और कोंगोद (=गंजाम) सहित उड़ीसा सम्मिलित थे । वलभी, पूर्वी मालवा, सिंध तथा आसाम उसके प्रभावक्षेत्र में थे।

६०६ ई० में हर्ष ने अपने अभिषेक का संवत् चलाया । उनके राज्य के आरंभिक छह वर्ष लड़ाई-भिड़ाई में बीते । उसके बाद ३६ वर्ष तक उन्होंने शान्तिपूर्वक राज्य किया। 'बुद्ध के समान शान्तचित्त, मनु के समान वर्णाश्रम-व्यवस्था के पालक और धर्मराज के समान दण्डधारी सम्राट् हर्ष के' शासन में प्रजा निर्भय और सुखी थी। किन्तु कहीं-कहीं चोर-डाकुओं और लुटेरों का उपद्रव हो ही जाता था । चीनी यात्री ह्वेनसांग दो बार डाकुओं से बचा था । बाण ने भी चोरों और लुटेरों का उल्लेख किया है ।

(३) हर्षदेव का व्यक्तित्व

ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष अपने सर्वस्व का दान किया करते थे। उनकी लक्ष्मी बन्धुओं की भलाई के लिए, उनका ऐश्वर्य दुःखियों के उपकार के लिए और उनका सर्वस्व द्विजों की भलाई के लिए था। उनके दान के लिए याचक पर्याप्त नहीं थे। हर्ष कवियों को भी भरपूर दान करते थे। उन्होंने बाण को भी विपुल धन-राशि दी थी--

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्॥

(काव्यप्रकाश की व्याख्या सारसमुच्चय)

हर्ष विद्वानों और कवियों के आश्रयदाता थे। बाण के अतिरिक्त मयूर और मातङ्गदिवाकर भी हर्ष के दरबारी कवि थे--

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

(राजशेखर)

सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष एव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥

(४) हर्षदेव की विद्वत्ता

महाराज हर्ष केवल कवियों और पण्डितों के ही आश्रयदाता और गुण-ग्राही नहीं थे; बल्कि उन्होंने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरस ग्रन्थों की रचना करके सरस्वती के विपुल भाण्डार को भरा है। बाणभट्ट के अनुसार हर्ष काव्य-कथाओं में अमृत उगलते थे, जिसे उन्होंने पहले नहीं पिया था। उनकी प्रज्ञा के लिए शास्त्र पर्याप्त नहीं थे। पीयूषवर्ष जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' नाटक में हर्ष को कविताकामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक चम्पू में श्रीहर्ष की, सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण, 'गीर्हर्ष' कहकर प्रशंसा की है--

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः ।।

इसी तरह दामोदरगुप्त ने 'कुट्टनीमतम्' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' का नाम लेकर संकेत किया है । यह पुस्तक किसी राजा के द्वारा बनाई गई है और उसके निर्माता महाराज हर्ष हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने हर्ष की काव्य-चातुरी की अत्यन्त प्रशंसा की है । इस प्रकार हर्ष के विषय में, महाकवि कालिदास की यह सूक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है--'निसर्गभिन्नास्पदमेक-संस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च' ।

(५) हर्षदेव की धर्मप्रियता

हर्ष के पूर्वज पुष्पभूति शिव के अनन्य उपासक थे । हर्ष के पिता प्रभाकर-वर्धन सूर्य के बड़े उपासक थे । उनके अग्रज राज्यवर्धन बुद्ध के समान पर-हित-निरत परम बौद्ध थे । स्वयं हर्ष शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों के भक्त थे । विन्ध्यवन के एक आश्रम में उन्होंने जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के विद्यार्थियों को बौद्ध आचार्य दिवाकरमित्र के चरणों में बैठकर शास्त्राभ्यास करते देखा था । सब धर्मों के प्रति समान भाव रखने वाले हर्ष के शिविर के एकान्त स्थान में जैन, आर्हत, शैव, पाराशरी भिक्षु और ब्रह्म-चारी बैठे हुए थे । आरंभ में आचार्य दिवाकरमित्र के प्रभाव में आकर और पीछे चीनी यात्री ह्वेनसाँग के सम्पर्क में रहकर यद्यपि हर्ष की बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा बहुत बढ़ गई, तथापि वे अन्य धर्मों के प्रति भी आदर-भाव रखते थे । उन्होंने सामवेदी और ऋग्वेदी ब्राह्मणों को ग्राम देकर पुरस्कृत किया था । (दे० बँसखेर और मधुवन के ताम्रलेख) । सर्वधर्म-समन्वय के अभिलाषी उस राजा के राज्य में सब धर्मों और सम्प्रदायों को स्वतन्त्रता प्राप्त थी । वे धर्माचार्यों की परीक्षा के लिए शास्त्रार्थ तथा जनता के लाभ के लिए धर्म-गोष्ठी का आयोजन किया करते थे । ह्वेनसाँग ने कन्नौज और प्रयाग में हर्ष द्वारा आयोजित धार्मिक सभायें देखी थीं । उन्होंने लिखा है कि कन्नौज से बड़ी सज-धज के साथ यह उत्सव प्रारंभ हुआ और प्रयाग तक चलता रहा ।

यह मेला लगभग ढाई मास तक होता रहा। १८ अधीनस्थ राजा और वलभी के करदाता नरेश श्रीहर्ष की सेवा में उपस्थित रहते थे। प्रयाग में उत्सव के पहले दिन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई। इसी तरह मेला के दूसरे दिन सूर्य और तीसरे दिन शिव की मूर्ति स्थापित हुई। इन उत्सवों में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध मतावलम्बी साधु-संन्यासियों तथा निर्धन लोगों में श्रीहर्ष का सारा राजकीय कोष वितरित कर दिया जाता था। यह वितरण इस सीमा तक किया जाता था कि केवल शासन-तन्त्र चलाने भर के लिए उनके पास धनराशि बच जाती थी। जब उत्सव समाप्त हो जाता था तब अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना अँगरखा माँगकर उसे धारण करते थे। यह था प्राचीन भारतीय राजतन्त्र का आदर्श। काश, आज का भारतीय शासनतन्त्र धर्मनिरपेक्ष न होकर सर्व-धर्मसमन्वयी तथा त्यागप्रधान होता।

(६) हर्षदेव के ग्रन्थ

हर्षदेव के तीन ग्रन्थ माने जाते हैं—(१) प्रियदर्शिका, (२) रत्नावली और (३) नागानन्द। हर्षदेव की रचना के नाम से तीनों ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख धनञ्जयकृत 'दशरूपक' में मिलता है। उक्त ग्रन्थत्रय एक ही लेखक की रचना है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि तीनों में घटनाओं का आश्चर्यजनक साम्य है। रत्नावली में सागरिका अपने चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र खींचती है। नागानन्द में जीमूतवाहन उसी उद्देश्य से मलयवती का चित्र बनाता है। दोनों स्थलों पर चित्रों के द्वारा ही पात्रों के स्निग्ध हृदय तथा प्रणय की कथा का परिचय दर्शकों को मिलता है। रत्नावली में अपमानिता होने पर सागरिका अपने गले को लतापाश से बांधकर प्राण देने की चेष्टा करती है। नागानन्द में भी यही घटना है। नायिका मलयवती प्रणय में अपना अनादर होने पर लतापाश से ही अपने गले को जकड़कर मरने का प्रयत्न करती है। परन्तु दोनों स्थानों पर नायक के द्वारा उसके प्राणों की रक्षा हो जाती है। इतना ही नहीं, बहुत-से गद्य-पद्य इनमें परस्पर उद्धृत किये गये हैं। कुछ तो ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं और कुछ में शब्दों का थोड़ा-सा हेर-फेर हो गया है। जैसे—नागानन्द के दो पद्य—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' (१,१५) और 'अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः' (४,१) ज्यों के त्यों प्रियदर्शिका में मिलते हैं। 'भो वयस्य!

प्रेक्षस्व। प्रेक्षस्व, वयस्य सम्यगुपलक्षितम्। सखि ! अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते। दास्याःपुत्रि, हताश, लघु' इत्यादि शब्दप्रयोग तीनों ग्रन्थों में एक जैसे मिलते हैं। कुछ गद्य-वाक्यों पर दृष्टिपात कीजिए—'कन्यका निर्दोषदर्शना भवन्ति' (नागा० १) तथा 'निर्दोषदर्शना कन्यका खल्वियम्' (प्रिय० २) 'अये मध्यमध्यास्ते भगवान् सहस्रदीधितिः:' (नागा० १) तथा 'अये कथं नभोमध्यमास्ते भगवान् सहस्रदीधितिः' (प्रिय० २) 'भो वयस्य, प्रच्छादयानेन कदलीपत्रेणेमां चित्रगतां कन्यकाम्' (नागा० २) तथा 'भो वयस्य, प्रच्छादयैतच्चित्रफलकमनेन कदलीपत्रेण' (रत्ना० २) इत्यादि। इन ग्रन्थों में विचार-साम्य भी पाया जाता है। जैसे—'न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः' इत्यादि (नागा० १) तथा 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः' इत्यादि (रत्ना० १) 'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति' इत्यादि (नागा० ३) तथा 'प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्कया' (रत्ना० ३)। इस प्रकार विचार-साम्य के अतिरिक्त तीनों ग्रन्थों की भाषा और शैली भी एक-सी ही है। भाषा और शैली की यह एकता भी तीनों ग्रन्थों के एककर्तृत्व का निर्धारण करती है। फलतः ये तीनों एक ही लेखक की रचनायें है, और हर्षदेव की हैं, यह निःसन्दिग्ध है।

कथावस्तु

प्रियदर्शिका की कथावस्तु रत्नावली के समान है। नायक उदयन ही है और नायिका है आरण्यका, जो रत्नावली की सागरिका की तरह उदयन के अन्तः पुर में वासवदत्ता की सखी की भाँति रहती है। वह अंगराज दृढवर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका है। दृढवर्मा उसका विवाह उदयन से कराना चाहता था पर उसी बीच कलिंगराज ने अंगराज को पराजित किया, क्योंकि वह स्वयं प्रियदर्शिका को प्राप्त करना चाहता था। प्रियदर्शिका को कंचुकी विनयवसु ने बचाया। वह उसे लेकर आरण्यक प्रदेश के राजा विन्ध्यकेतु की शरण गया। मित्र की कन्या होने के नाते प्रियदर्शिका को वहाँ आश्रय तो मिल गया, पर शीघ्र ही उदयन के सेनापति विजयसेन ने विन्ध्यकेतु को जीतकर प्रियदर्शिका को बन्दी बनाया। उस कन्या पर उदयन की सहानुभूति हुई। उसने वासवदत्ता को उसे सौंप दिया। वहाँ वह आरण्यका के नाम से रहने लगी।

एक दिन उदयन ने सरोवर में कमल-चयन करती हुई आरण्यका को देखा। उसे भौंरों के उत्पात से बचाने के लिए उदयन स्वयं जा पहुँचा। इस मिलन में प्रणय का सूत्रपात हुआ, जिसके निर्वहण के लिए अन्तः पुर में एक नाटक सहायक हुआ। इस नाटक में वासवदत्ता के परिणय की कथा अभिनेय थी। पात्र थे नायक-रूप में उदयन की भूमिका के लिए मनोरमा एवं वासवदत्ता की भूमिका के लिए आरण्यका। प्रधान दर्शक थी वासवदत्ता। चाल यह चली गई कि स्वयं उदयन को मनोरमा के स्थान में रंगमंच पर ला दिया गया। इस बात को आरण्यका भी नहीं जानती थी। नाटक इतना सफल हुआ कि वासवदत्ता सब दृश्य देखकर लज्जित-सी होकर समय के पहले ही प्रेक्षागार से निकल गई। तब उसे रहस्य ज्ञात हुआ कि उदयन स्वयं आरण्यका के साथ रंगमंच पर थे। आरण्यका बन्दिनी बनाई गई।

इधर वासवदत्ता को जब अपने सम्बन्धी दृढवर्मा की दुर्गति का समाचार मिला तब वह सब कुछ भूलकर उदयन के सहारे दृढवर्मा के उद्धार की योजना बनाने लगी। ऐसे वातावरण में जब एक दिन समाचार मिला कि विजयसेन ने दृढवर्मा को पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करा दिया और आरण्यका उसी की कन्या प्रियदर्शिका है तो वासवदत्ता ने उदयन और प्रियदर्शिका का विवाह करा दिया।

रत्नावली--की कथावस्तु भी राजा उदयन के अन्तः पुर की प्रेमकथा से ओत-प्रोत है। सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नावली के विषय में पहले से ही किसी ने भविष्यवाणी की थी कि वह किसी सार्वभौम राजा की रानी बनेगी। फलतः उदयन ने उससे पाणिग्रहण का प्रस्ताव किया, किन्तु उदयन से विवाह कराने के लिए जिस जलयान में वह लायी जा रही थी, वह एकाएक समुद्र में नष्ट हो गया, पर राजकुमारी किसी तरह जहाज के टूटे हुए एक काष्ठ-फलक के सहारे किनारे लग गई एवं बाद को राजा उदयन के अन्तःपुर में पहुँचाई जाकर सागरिका नाम से रानी वासवदत्ता की दासी बनकर रहने लगी। एक दिन कामदेव के उत्सव-प्रसंग में वासवदत्ता सद्यः कामवपुः राजा उदयन की ही पूजा की, जिसे पेड़ों की झुरमुट से छिपे तौर से सागरिका ने प्रथम बार देखा, राजा को कामदेव समझा तथा प्रणय के मधुर भाव के अंकुरण के लिए वह

पात्र बन गई। सागरिका ने अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र अंकित किया जिसके पास सुसंगता ने सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना दिया। वाजिशाला से एक बन्दर के भागने से महल में कोहराम मच गया। इसी हल्लागुल्ला में ये दोनों भाग खड़ी हुईं। चित्रफलक वहीं छूट गया और राजा के हाथ पड़ने से वह गुप्त प्रेम के प्रकटन का साधन बना। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारणकर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आई, परन्तु असली वासवदत्ता का इनसे पहले ही आ जाने के कारण सारा गुड़ गोबर हो गया। असली और नकली के विभेद ने बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पैदा की तथा अपने को अपमानित मानकर सागरिका लतापाश के द्वारा मरने गई, परन्तु राजा ने उसे बचा लिया। अनन्तर वासवदत्ता ने सागरिका को कारागृह में डाल दिया। इस बीच एक षड्यन्त्र के फलस्वरूप कोई जादूगर अन्तःपुर में भेजा गया, जिसने खेल ही खेल में जादू का अग्नि पैदा किया और बात की बात में सारा महल अग्नि से जलने लगा। रानी घबरा गई और राजा से अनुरोध करने लगी कि वे अन्तःपुर के भीतरी कमरों में बंद हुई सागरिका को बचाने का प्रयत्न करें। राजा ने एक वीर पुरुष की तरह अग्नि की ज्वालाओं में कूद कर सागरिका को बचा लिया। इसी क्षण वहाँ उपस्थित सागरिका के पिता के मन्त्री वसुभूति तथा कंचुकी बाभ्रव्य ने उसे विदूषक के गले में लटकने वाली 'रत्नावली', जिसे सागरिका ने लतापाश से मरने के पूर्व ही अपने गले से उतारकर दान में विदूषक के पास भिजवा दिया था, की सहायता से पहचान लिया। जिससे यह रहस्य खुल गया कि सागरिका सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नावली है और रानी वासवदत्ता की चचेरी बहन है। तब सच्ची हिन्दू पत्नी के समान, जो पति के सुख के लिए सदा अपने सुखों की बलि देने को तैयार रहती है, वासवदत्ता ने रत्नावली का विवाह उदयन के साथ करा दिया।

नागानन्द—की कथावस्तु किसी बौद्ध अवदान पर आश्रित है, जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को समुज्ज्वल करती है। इसकी अंकगत कथा इस प्रकार है—

प्रथम अंक

विद्याधरों का सम्राट् जीमूतकेतु वृद्धावस्था आने पर राज्यभार अपने पुत्र जीमूतवाहन को सौंपकर वानप्रस्थ हो गया। जीमूतवाहन ने भी पिता से रहित राज्य को कष्टप्रद समझकर माता-पिता की सेवा करने के लिए मित्र आत्रेय के साथ उनका अनुगमन किया। यद्यपि विदूषक आत्रेय ने जीमूतवाहन के प्रतिपक्षी मतङ्गदेव द्वारा राज्य हस्तगत कर लिये जाने का भय दिखाकर जीमूतवाहन को माता-पिता के साथ वन जाने से रोकना चाहा, पर उसने विदूषक की बात नहीं मानी। वन पहुँचने पर जीमूतकेतु ने जीमूतवाहन को आज्ञा दी कि वह कोई अच्छा-सा स्थान ढूँढ़े, जहाँ वे अपना आश्रम बना सकें। जीमूतवाहन अपने मित्र विदूषक के साथ मलयपर्वत पर चढ़ गया। वहाँ उसे एक मनोहर तपोवन मिला। उसमें पहुँचने पर एक गौरी-मन्दिर से मधुर संगीत-ध्वनि उसके कानों में पड़ी। दोनों आगे बढ़े तो देखा कि सखी सहित एक परम सुन्दरी वीणा हाथ में लिये गौरी देवी की आराधना कर रही थी। जीमूतवाहन और विदूषक झाड़ियों के पीछे छिप गये और संगीत समाप्त होने पर दोनों का वार्तालाप सुनने लगे। सखी ने सुन्दरी से कहा कि इस निष्करुण देवी के आगे वीणा बजाना व्यर्थ है। इस पर सुन्दरी नें उसे रोककर कहा—'ऐसा मत बोलो। आज गौरी देवी ने स्वप्न में मुझे दर्शन दिये और कहा कि वत्से! मैं तुम्हारी अतिशय भक्ति और वीणावादन से बहुत प्रसन्न हूँ। अतः विद्याधरों का सम्राट् शीघ्र ही तुम्हारा पति बनेगा।' यह स्वप्न-वृत्तान्त सुनकर सखी प्रसन्न हो गई। इधर जीमूतवाहन अनुकूल अवसर विचार कर मित्र के द्वारा प्रेरित होने पर मंदिर में कन्याओं के समीप चला गया। कन्यायें सहसा उन्हें देखकर चित्रलिखित की भाँति किंकर्तव्यविमूढ हो गईं। उनकी यह दशा देखकर विदूषक बोला—'क्या आपके तपोवन में यही रीति प्रचलित है कि वाणीमात्र से भी अतिथि का स्वागत न किया जाय'। यह सुनकर सखी बोली कि कृपया आप लोग इस स्थान को अलंकृत करें। वे दोनों बैठ गये और जीमूतवाहन की मलयवती से आँखें चार हुईं कि इसी बीच कुलपति कौशिक का भेजा हुआ एक तपस्वी मलयवती को बुलाने के लिए वहाँ आ गया। तब मलयवती अपनी सखी समेत चल पड़ी। जीमूतवाहन ने भी सूर्य को आकाश में देखकर (दुपहरिया जानकर) आत्रेय के साथ अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया।

द्वितीय अंक

मलयवती की आज्ञा से चतुरिका नाम की चेटी चन्दनलतागृह में चन्द्रमणिशिला को सुसज्जित करने के लिए गई। सब कार्य सम्पन्न हो जाने पर कामविकार से ग्रस्त मलयवती वहाँ आकर चन्द्रमणिशिला पर बैठी। चेटी उसके संतप्त हृदय पर चन्दनरस का लेप लगाने लगी। किन्तु नायिका को किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिली। चेटी के पूछने पर उसने अपनी उद्विग्नता का कारण बताया कि उस दिन गौरीमन्दिर में जो महानुभाव आये थे उन्होंने मेरे चित्त को चुरा लिया है। यह बात सुनकर चेटी बोली कि आप प्रसन्न होइए, मैं आपके चितचोर को ला दूँगी। इतने में पैरों की आहट सुनाई पड़ी। और डर के मारे वे दोनों दौड़कर पास ही अशोकवृक्ष के पीछे छिप गईं। उसी समय जीमूतवाहन भी विदूषक से अपनी विरहकथा की बातचीत करते-करते उसी लतागृह में पहुँच गया और वहाँ बठकर आत्रेय से अपनी स्वप्नानुभूत वृत्तान्त बताने लगा कि—'यहीं मणिशिलातल पर मैंने एक प्रणयकुपित परम सुन्दरी को देखा था। इसलिए यहाँ कुछ समय बिताना चाहता हूँ। तुम मैनशिल के कुछ टुकड़े ले आओ, ताकि इस शिला पर उसी का चित्र बनाकर चित्र के रूप में विद्यामान उस अपनी प्रियतमा से मनोविनोद करूँ।' आत्रेय पाँच रंग के टुकड़े ले आया। जीमूतवाहन ने उनसे अपनी स्वप्नानुभूत परम सुन्दरी का चित्र बना डाला। उन दोनों की बातचीत सुनकर नायिका को शंका हो गई कि नायक का हृदय किसी और रमणी पर लगा हुआ है। इतने में नायिका का भाई मित्रावसु अपनी बहन मलयवती का जीमूतवाहन के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर वहीं आ गया। किन्तु जीमूतवाहन ने अपनी स्वप्नदृष्ट नायिका में आसक्तचित्त होने के कारण मित्रावसु के बहन को तदितर समझकर विवाह करना अस्वीकार कर दिया। तब आत्रेय ने मित्रावसु को जीमूतवाहन के माता-पिता से प्रार्थना करने के लिए भेजा। भाई का अपमान देखकर मलयवती बहुत दुःखी हुई। चेटी, मित्रावसु गये कि नहीं, यह पता लगाने के लिए कुछ दूर जाकर छिप गई। इधर मलयवती उद्विग्नचित्त होकर फाँसी लगाकर आत्महत्या की चेष्टा करने लगी। यह देख चेटी जोर-जोर से चिल्लाने लगी कि—'बचाइए बचाइए, राजकुमारी फाँसी लगाकर आत्महत्या कर रही हैं। यह सुनकर जीमू-

तवाहन ने झट दौड़कर नायिका को रोक लिया और कारण पूछने पर सारा भेद खुल गया कि वही स्वप्नदृष्ट नायिका मित्रावसु की बहन थी। नायक ने साथ ले जाकर नायिका को दिखाया कि वह उसी का चित्र था और किसी दूसरी रमणी का नहीं। मलयवती वह चित्र देखकर अतिशय आनन्दित एवं लज्जित हुई। उसी समय, जीमूतवाहन के माता-पिता नें विवाह की स्वीकृति दे दी है––यह कहती हुई चेटियों ने सभी को हर्षनिमग्न कर दिया। तब चेटी के साथ मलयवती अपने घर को गई और नायक भी परस्पर दर्शन जन्य समागम की प्रशंसा करता हुआ वैवाहिक स्नान-विधि सम्पन्न करने के लिए मित्र के साथ चला गया।

तृतीय अंक

इस अंक का अधिक भाग हास्यरस से परिपूर्ण होने के कारण दर्शकों के लिए अतीव आनन्दप्रद है। जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह हो जाने पर खूब आमोद-प्रमोद मनाया जाता है। अंक के प्रारंभ में, हाथ में मद्य पीने का पात्र लिये विट तथा कंधे पर मदिरा से भरा मांड रखे चेट प्रवेश करते हैं। मद्यपान का रसिक तथा कामिनियों का अभिलाषुक विट बलदेव और कामदेव को छोड़कर अन्य किसी देव में श्रद्धा नहीं रखता है। वह पानगोष्ठी-सुख का अनुभव करने वाले विद्याधरों से सुशोभित कुसुमाकर उद्यान में अपनी प्रिया नवमालिका को ढूंढ़ता हुआ इधर-उधर घूम रहा है। इतने में मस्तक पर सन्तान नामक देववृक्ष के पुष्पों की माला धारण किये विदूषक दुष्ट भौंरों की बाधा से अपने को बचाने के लिए लालवस्त्र से सिर पर घूंघट काढ़कर उधर ही आ जाता है। विट उसे नवमालिका समझकर उसे मनाने के लिए पैरों पर गिरता है। उसी समय विट की प्रियतमा नवमालिका वहां पहुंच जाती है। चेट संकेत कर देता है। अपनी प्रिया को देखकर वह उसके पैरों पर गिरकर मनाता है। वह प्रसन्न हो जाती है और विदूषक के प्रति उसे अपराधी बताती है। तब विदूषक को मनाने के लिए विट नवमालिका के मुखकमल द्वारा आस्वाद लेकर सुवासित की गई मदिरा विदूषक को अर्पित करने की चेष्टा करता है। विदूषक कहता है कि मैं ब्राह्मण हूं, मदिरा नहीं पीता हूं। पर विट उससे हठ करता है। पश्चात् नवमालिका के कहने से विट किसी तरह उसे

छोड़ देता है। विदूषक जान बचाकर भागता है और पियक्कड़ों के संसर्ग से हुई अपवित्रता को दूर करने के लिए तालाब में स्नान करने के लिए जाता है। वहाँ नायक-नायिका को देखकर उनका पार्श्ववर्ती हो जाता है। तब नायक नायिका का हाथ पकड़े सखी और विदूषक के साथ पानोत्सव को देखते-दिखाते उद्यान में भ्रमण करने लगता है। फिर एक जगह बैठकर नायक नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करता है। उस समय सखी भी विदूषक का खूब वर्णन करती है। पर सखी द्वारा की गई एक दिल्लगी से रूठकर विदूषक वहाँ से चल पड़ता है। सखी भी उसे मनाने के लिए चल पड़ती है। एकान्त पाकर नायक-नायिका का प्रेमालाप होने लगता है। इतने में नायिका का भाई मित्रावसु यह समाचार लेकर नायक के पास आता है कि उसके शत्रु मातंग ने आक्रमण कर दिया है, अतः वह सिद्ध-सेना साथ लेकर शत्रु का विनाश करने की अनुमति माँगता है, पर भला जीमूतवाहन--जिसके हृदय में शत्रु-मित्र का भाव ही नहीं है और जो सभी के लिए कल्याण की समान भावना रखता है--क्योंकर हिंसा की अनुमति देता। वह मित्रावसु को समझा-बुझाकर शान्ति का ही मार्ग अपनाने का परामर्श देता है।

चतुर्थ अंक

इस अंक में जीमूतवाहन मित्रावसु के साथ एक दिन समुद्र का ज्वारभाटा देखने के लिए गया। समुद्र-तट पर उसे हड्डियों का एक विशाल ढेर दिखलाई पड़ा। पूछने पर मित्रावसु ने कहा--'नागकुल को विनाश से बचाने के लिए नागराज वासुकि द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार गरुड नित्य प्रति बारी-बारी से आने वाले एक-एक नाग को खाया करते हैं और जिन्हें वे खा गये उन्हीं नागों की ये हड्डियाँ हैं'। सुनकर जीमूतवाहन को गरुड की हिंसावृत्ति पर बड़ा खेद हुआ और सोचने लगा कि क्या मैं अपने प्राणों को देकर एक नाग को भी नहीं बचा सकता हूँ। इतने में किसी आवश्यक कार्य वश बुलाने के लिए दूत के आने पर मित्रावसु वापस चला गया और जीमूतवाहन भी कुछ देर के बाद वापस ही जा रहा था कि सहसा उसके कानों में किसी के रोने का शब्द सुनाई पड़ा। आगे बढ़ने पर उसने देखा कि शंखचूड नाम का एक नाग लाल वस्त्र पहने, गरुड की बलि बनने के लिए वध्यशिला की ओर ले जाया जा रहा था

श्रीर साथ में उस नाग की वृद्धा माता छाती पीट-पीट कर रो रही थी। नायक का हृदय भर श्राया श्रीर वह नाग के स्थान में अपने को बलि देने का आग्रह करने लगा। परन्तु शंखचूड, जो एक उच्च चरित्र का व्यक्ति था—अपने जीवन के लिए क्यों दूसरे के जीवन को बलि होने देता। उसकी माता भी इस बात के लिए राजी नहीं हुई। परोपकारार्थ जीवन अर्पण करने का अवसर न मिलने पर जीमूतवाहन को बड़ा दुःख हुआ। इतने में शंखचूड गरुड के आने में कुछ देरी देखकर पास ही में स्थित दक्षिण-गोकर्ण महादेव के दर्शनार्थ चला गया। संयोगवश इसी समय जीमूतवाहन के ससुराल से विवाह की प्रथा के अनुसार लगातार दस दिन तक पहने जाने वाले लाल वस्त्रों की जोड़ी लेकर एक व्यक्ति आया। जीमूतवाहन ने इसे परमात्मा की देन समझा और लाल वस्त्र पहनकर झट वध्यशिला पर बैठ गया। गरुड आया और झपट्टा मारकर जीमूतवाहन को उठाकर खाने के लिए मलयपर्वत की चोटी पर ले गया। इसी क्षण आकाश से पुष्पवृष्टि और दुन्दुभि-ध्वनि होने लगी। किन्तु गरुड यह सोचकर प्रमुदित हुआ कि उसी के कारण पुष्पवृष्टि और दुन्दुभिध्वनि हुई।

पञ्चम अंक

इस अंक में जीमूतवाहन को बहुत देर से घर आया न देखकर उसके माता-पिता को बड़ी चिन्ता होने लगी। ससुराल से पुछवाया तो वहाँ भी वह नहीं था। उन्हें अपशकुन होने लगे। इतने में सहसा रक्तरञ्जित जीमूतवाहन के शिर की चूडामणि वृद्ध पिता के चरणों के पास आ गिरी। उसे देखकर वृद्ध माता-पिता और नवविवाहिता वधू सबके हृदय अनिष्ट की आशंका से काँपने लगे। पुत्रवधू समेत माता-पिता पुत्र की खोज में निकले तो रास्ते में उन्हें विलाप करता हुआ एक नाग दिखाई पड़ा। जीमूतकेतु द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना सारा वृत्तान्त बता दिया। सुनकर जीमूतकेतु को निश्चय हो गया कि वह चूडामणि जीमूतवाहन की ही थी। इससे वे सब बहुत व्यथित हुए। शंखचूड भी उन सबको जीमूतवाहन का ही परिवार समझकर सीदित होने लगा। तब सबने एक साथ अग्नि में भस्म हो जाने का निश्चय किया। किन्तु शंखचूड के आश्वासन और परामर्श पर एक बार इस विचार से गरुड का पता लगाने की ठानी कि कदाचित् उन्हें पुत्र का अन्तिम दर्शन हो जाय। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते

वे अन्त में गरुड वाले पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। उधर गरुड बलि-जीव को भारी पाकर आश्चर्यचकित हो गया था कि यह कौन है। बुरी तरह नोचे और खाये जाने पर भी जीमूतवाहन प्रसन्नमुद्रा में था। उसके जो अंग खाये जाने से बचे हुए थे, उनमें हर्ष से रोमांच हो रहा था। यह देख-देखकर क्रूरहृदय गरुड का भी मन आश्चर्य से भरकर मांसभक्षण से विरत हो गया। उसे विरत देखकर जीमूतवाहन ने उससे निवेदन किया—'भाई! अभी तो मेरे शरीर में मांस है और आप भी भोजन से परितृप्त नहीं दीख रहे हैं, फिर खाते क्यों नहीं ?' यह सुनकर गरुड सोचने लगा कि मैं किस महापुरुष को नाग समझकर खा रहा हूँ। इतने में शंखचूड जीमूतवाहन के माता-पिता आदि के साथ वहाँ आकर गरुड से कहने लगा—'हे हरिवाहन! आपका भक्ष्य तो मैं नाग हूँ। मेरी केंचुली देखिए, विषाग्नि से मलिन तीन फणायें देखिए, मुझे ही नागराज वासुकि ने आपके आहारार्थ भेजा है। ये महामना तो विद्याधर कुमार जीमूतवाहन हैं।' यह सुनकर गरुड सोचने लगा कि उसने भूल से बोधिसत्त्व को ही मार डाला है। इसी क्षण अपने पुत्र को कण्ठगतप्राण देखकर वृद्धा माता अत्यन्त व्याकुल हो उठी। अपने अपराध के प्रायश्चित्त के निमित्त उपदेश देने के लिए गरुड ने जीमूतवाहन से प्रार्थना की। जीमूतवाहन ने कहा—'प्राणियों की हिंसा न करो और किये गये पाप के लिए पश्चात्ताप करो।' इसके बाद जीमूतवाहन ने माता-पिता को हाथ जोड़कर सदा के लिए आँखें मूँद लीं। गरुड अहिंसाव्रत ग्रहण करते हुए वहाँ से उड़कर जीमूतवाहन और मरे हुए साँपों को जीवित करने के लिए स्वर्ग से अमृतवृष्टि करवाने चले गये। इधर जीमूतकेतु आदि अग्नि में प्रवेश करने की बात करने लगे। उस समय मृत पति को देखकर मलयवती गौरी देवी को उलाहना देने लगी। इतने में गौरी वहाँ सद्यः प्रकट होकर कमण्डलु के जल से सींचकर नायक को जिला दिया। गरुड ने भी अमृत-वर्षण के द्वारा अस्थिमात्रावशेष सभी नागों को पुनरुज्जीवित कर दिया। तब भगवती गौरी ने जीमूतवाहन को विद्याधर-सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करके उसे सुवर्ण-रथ, सफेद हाथी, श्याम अश्व तथा मलयवती—ये चार रत्न दिये।

(७) हर्षदेव का संस्कृत-साहित्य में स्थान

संस्कृत-साहित्य में हर्ष को नाटिकाओं की परम्परा प्रारंभ करने का श्रेय

दिया गया है, पर नाटकीय गुणों की दृष्टि से भी उनकी कृतियाँ संस्कृत-साहित्य में अनुपम कृतियाँ मानी जाती हैं। उन्होंने पुराने आख्यान में नाटकीय व्यापार के लिए अपेक्षित परिवर्तन करके वस्तु-विन्यास में जो सुश्लिष्टता और गति उत्पन्न कर दी है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इसका प्रमाण यह है कि बाद के नाट्यशास्त्रियों ने नाट्याङ्गों में उदाहरण के लिए अधिकतर हर्षकृत रत्नावली को ही चुना है। धनञ्जय ने रत्नावली की कथावस्तु का विस्तृत तथा विशद विश्लेषण 'दशरूपक' में किया है। विश्वनाथ कविराज ने भी सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों के दृष्टान्त देने के लिए इसे ही विशेषतया प्रस्तुत किया है।

वस्तुगठन की दृष्टि से हर्षदेवरचित प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों नाटिकायें अत्यन्त सफल कही जाती हैं। रत्नावली में अन्तःपुर में अग्नि की घटना की योजना करके कवि ने सागरिका की पहचान के लिए सर्वथा नाटकोचित अवसर की रचना की है। सारिका के पिंजरे से निकलने, सागरिका और सुसंगता के वचनों को दुहराने तथा राजा द्वारा उसके वचन सुने जाने की कल्पना अत्यधिक सुन्दर है जो घटना एवं नाट्य-व्यापार को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है। ऐन्द्रजालिक का दृश्य तो बड़ा ही गतिमान् और विनोदपूर्ण है। वेश बदलकर सागरिका का अभिसरण और संकेत-स्थल पर होने वाली भ्रान्तियाँ बड़ी ही स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण है। प्रियदर्शिका में गर्भाङ्क की योजना भी उसे दो प्रणय-कथाओं में परिणत करके प्रेक्षकों और पाठकों को मुग्ध कर देने वाली है। नागानन्द का विशेष महत्त्व राष्ट्रिय चरित्र के अभ्युत्थान की दृष्टि से है। जीमूतवाहन अपने बलिदान के द्वारा भी आत्मगुणों का संवर्धन करते हुए आदर्शचरित-नायक है। नागानन्द में राजाओं के भोगविलासमय नगर से हटकर प्रधान घटनायें आश्रम के शान्त वातावरण में ही घटित होती हैं। उनके तीनों नाटक संविधान, पात्र-योजना, रसाभिव्यक्ति, कथोपकथन, अभिनेयता एवं भाषाशैली की दृष्टि से भी पूर्ण सफल हैं।

इस प्रकार नाट्यकला की दृष्टि से जहाँ हर्ष को संस्कृतसाहित्य में महनीय स्थान मिला है, वहीं काव्यकला की दृष्टि से भी उनकी कृतियों का महत्त्व कम नहीं है। बाणभट्ट, सोड्ढल, जयदेव आदि महाकवियों ने हर्षदेव की काव्य-

प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। नागानन्दम् (१,३) में हर्षदेव ने लिखा है—'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी' और इसकी प्रस्तावना में उन्होंने सूत्रधार के मुख से कहलवाया है—'अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तु-रचनालङ्कृतं विद्याधरजातकप्रतिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतम्'। इन कथनों से पता चलता है कि उन्हें अपनी कवि-प्रतिभा पर आत्म-विश्वास था और वे स्वयं को एक निपुण कवि मानते थे। यद्यपि श्रीहर्ष का कोई काव्यग्रन्थ अलग से नहीं मिलता, तो भी उनके रूपकों में ही जो छन्द मिलते हैं, उन्हीं से उनकी काव्य-प्रतिभा का पता चल जाता है। भाषा और शैली की सुबोधता तथा भावाभिव्यक्ति की सरलता में उन्होंने कविकुलगुरू कालिदास का अनुसरण किया है। कालिदास के समान उनके नाटकों में नाटक और काव्य के गुणों का मणिकाञ्चन-संयोग हुआ है। उनके नाटकों में नगर, प्रासाद, धारागृह, प्रभात, मध्याह्न, संध्या, आश्रम, वन, पर्वत और युद्ध आदि सभी वस्तुओं के सुन्दर और मार्मिक वर्णन हुए हैं, जिनका बहुधा संस्कृत-काव्यों में समावेश पाया जाता है। हर्षदेव को युद्धस्थल के भयंकर तथा प्रणय-लीला के कोमल दोनों प्रकार के चित्र खींचने में दक्षता प्राप्त है। उनकी भाषा भावों तथा वर्ण्य विषय के अनुरूप ही होती है। उनकी कृतियों में इस तरह के नाना चित्र मिलते हैं। वे अपने परवर्ती कलाकारों के लिए भाव-प्रेरणा-दायक भी रहे हैं। उदाहरण के रूप में उनका :—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः शान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता ।
हृत सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥ (५,३१)

यह पद्य भवभूति जैसे महान् नाटककार तक के :—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥

इस पद्य में छायारूप से प्रतिफलित हुआ दीख रहा है । राजशेखर तो अपनी कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका दोनों नाटिकाओं में इनकी रत्नावली के प्रति ऋणी हैं। यही सब कारण है कि महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव ने महाकवि हर्ष को कविता-कामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है । सोड्ढल ने सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण 'गीर्हर्ष' कहकर श्रीहर्ष की प्रशंसा की है—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः ॥

श्री बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में दो बार राजा हर्ष की काव्यव्याकरणचातुरी की प्रशंसा की है—'राज्ञां संभाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तम्, काव्य-कथास्वतीतममृतमुद्वमन्तमिति' । यह पूर्वोक्त बाणभट्ट का कथन हर्ष की काव्यचातुरी को प्रकट कर रहा है । 'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः' । इस प्रकार बाणभट्ट ने हर्ष की काव्यरचना की चतुरता को स्पष्ट ही प्रकट किया है।

इन उपरिलिखित प्रमाणों से हर्षदेव का संस्कृत-साहित्य में महनीय स्थान सिद्ध होता है ।

(१) कृति—नागानन्दम्

नागानन्द वीररस का एक नाटक है। क्योंकि इसमें नाटक के निम्नलिखित प्रायः सभी लक्षण घटित होते हैं—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्ध्र्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाङ्कं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।।
(साहित्यदर्पण)

नागानन्द का वृत्त बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है, जिसको हम आगे बतायेंगे । इसका नायक धीरोदात्त एवं प्रख्यात विद्याधरवंश का राजर्षि है। इसमें पाँच अंक हैं । एकही दयावीर रस प्रधान है और शृंगार आदि रस गौण रूप से वर्णित हैं । दयावीर रस का नाटक विरला ही मिलता है। क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होती है, इस कारण नाटकों में स्वार्थोपपादक विषयों का ही प्रतिपादन बहुधा दिखाई पड़ता है । परन्तु इस नाटक में हर्षदेव ने संसार के परम कल्याण के लिए परोपकार-निदर्शक पवित्र चरित्र का निबन्धन किया है । यही विशेषता नागानन्द को अन्य प्रचलित सभी नाटकों से ऊँचा उठा देती है । बौद्धधर्मानुसारिणी कथा का निबन्धन करते हुए भी कवि ने इसमें भगवती गौरी की कृपा से जीमूतवाहन को पुनर्जीवन तथा चक्रवर्ती राजपद की प्राप्ति दिखाकर बौद्धधर्म एवं वैदिक धर्म का मनोरम समन्वय स्थापित किया है । यह इस नाटक की महनीय विशिष्टता है ।

(२) नागानन्दीय कथा का मूल स्रोत

नागानन्दीय कथा का उत्स 'बृहत्कथा' या 'बृहत्कथामंजरी' है । कहते हैं कि ईसा की प्रथम या तृतीय शताब्दी में पैशाची भाषा में प्राचीन लोक-कथाओं और आख्यानों का एक 'बृहत्कथा' नामक विशाल ग्रन्थ गुणाढ्य ने लिखा था । महाकवि गुणाढ्य प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन की सभा के पण्डित थे। ईसा की प्रथम शताब्दी ही उनका समय माना जाता है । उनकी रची हुई 'बृहत्कथा' एक लाख श्लोकों में निबद्ध थी । जैसा कि दण्डी ने कहा है--

'भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्' ।

बाणभट्ट, धनञ्जय, त्रिविक्रम तथा गोवर्धनाचार्य आदि ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में 'बृहत्कथा' का स्मरण तथा प्रशंसा की है--

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना ।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ।। (बाणभट्ट)

पर खेद की बात है कि पैशाची भाषा में निबद्ध 'बृहत्कथा' की आज एक भी पंक्ति नहीं मिल रही है। हाँ, उन कथाओं के श्लोकानुवाद क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी', सोमदेव के 'कथासरित्सागर' और बुधस्वामी के 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' नामक तीन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। हम यहाँ पाठकों के सौकर्यार्थं 'बृहत्कथामंजरी' में उल्लिखित जीमूतवाहन-सम्बन्धी कथा उद्धृत कर रहे हैं--

अस्ति श्रीकाञ्चनपुरी मूर्ध्नि गौरीगुरोर्गिरेः ।
रत्नप्राकारकिरणैरश्रान्तोल्लिखिताम्बरा ॥१॥
जीमूतकेतुस्तस्याभूद्विद्याधरपतिः पतिः ।
यस्याभूच्छेषयशसः प्रख्याता काप्यनन्तता ॥२॥
विद्याधरेन्द्रदुहिता भार्याभूत्तस्य संमता ।
कान्ता कनकवत्याख्या ख्यातिक्षेत्रं मनोभुवः ॥३॥
तेनाजनि सुतस्तस्यां कल्पवृक्षवराद्वरः ।
जीमूतवाहनो नाम समूहो गुणसम्पदाम् ॥४॥
सोत्कण्ठं काञ्चनलताकुञ्जेष्वमरभूभृतः ।
गायन्ति त्यागसुभगं यस्य स्वर्गाङ्गणे यशः ॥५॥
तं सर्वगुणसम्पन्नमभिषिच्यात्मजं पिता ।
कल्पवृक्षं ददावस्मै नानासिद्धिसुधाफलम् ॥६॥
कान्ताकटाक्षचपलं चपलं यौवनं धनम् ।
जीवितं चेति स ध्यात्वा तमर्थिभ्यस्तरुं ददौ ॥७॥
तेन दारिद्र्यनाशाय जगति प्रतिपादितः ।
हेम्ना संपूर्य निखिलं क्षणात्सोऽन्तर्दधे द्रुमः ॥८॥
कुलक्रमागते तस्मिन्कल्पवृक्षे व्ययीकृते ।
अपूर्वत्यागिना तेन त्रिलोकी विस्मयं ययौ ॥९॥
ज्ञात्वा तं प्रति सामन्ता रहितं सुरशाखिना ।
तद्राज्यहरणोद्योगे बभूवुः संहता मिथः ॥१०॥
जीमूतवाहनो ज्ञात्वा विद्यया तद्विचेष्टितम् ।
तद्द्वेधाकूणितमना राज्यं तत्याज निःस्पृहः ॥११॥

स पित्रा सह मात्रा च तपसे सिद्धसेवितम् ।
मलयं खेचरवधूविलासनिलयं ययौ ॥१२॥
खेल्लद्भुजङ्गकटकं सिद्धमण्डलसेवितम् ।
चण्डीपतिमिवोत्सर्पन्नीलकण्ठप्रभावनम् ॥१३॥
संचरत्सिद्धललनाचरणाम्भोजकान्तिभिः ।
बिभ्राणमिव पर्यङ्कसक्ताब्धर्विद्रुमावलीम् ॥१४॥
निर्भरस्मेरहाराङ्कमकरन्दोज्वलांशुकम् ।
स त्वाद्यं भूभृतां धुर्यं चन्दनागरुभूषितम् ॥१५॥
स प्राप्य सर्वसिद्धीनामाश्रयं विषयं श्रियः ।
पित्रोः सपर्यानिरतस्तस्थौ जीमूतवाहनः ॥१६॥
कदाचिदथ विश्रम्भसारिणा सुहृदा सह ।
स्वैरं मधुकराख्येन चचारोपवनेषु सः ॥१७॥
स तत्र कान्तं कुसुममकरन्दं नाम काननम् ।
प्रविश्यापश्यदुच्छ्वासिसौरभाः पुष्पवल्लरीः ॥१८॥
यत्र खेचरनारीणां तारनूपुरराविभिः ।
अशोकाश्चरणाघातैरुत्फुल्ला भन्ति रागिणः ॥१९॥
यत्र विद्याधरवधूमधुगण्डूषनिर्भरैः ।
जृम्भेवारम्भि बकुलैः पुष्पाननविकाशिभिः ॥२०॥
यत्र दिव्याङ्गनातुङ्गस्तनोत्सङ्गतरङ्गिणः ।
मन्दारमकरन्दाढ्याः सुन्दरा वान्ति वायवः ॥२१॥
यत्रोद्धूतालिपटलं विलोक्य घनविभ्रमम् ।
नृत्यन्ति हेमकदलीकुञ्जेषु शिखियोषितः ॥२२॥
उत्कण्ठाकोमलं यत्र गीतं किन्नरयोषितः ।
शृण्वन्ति निश्चलाः साश्रुनयना हरिणाङ्गनाः ॥२३॥
ददर्श तत्र कैलाशशिखरस्फारविभ्रमम् ।
गङ्गायितपताकाङ्कं गौर्याः प्रासादमुन्नतम् ॥२४॥
स्वयमेत्य सितच्छायास्पष्टीकृतदिगन्तरम् ।
स्थितं दुहितृवात्सल्यादिव तत्र हिमाचलम् ॥२५॥

देवीगर्भगृहे तस्मिन्गीतं वीणास्वनाश्रितम् ।
शुश्राव श्रोत्रपीयूषं हृदयानन्दनिर्झरम् ।।२६।।

तच्छ्रुत्वा कौतुकाकृष्टः प्रविश्य गिरिजालयम् ।
कन्यामपश्यत् संसारसारं सरसिजेक्षणाम् ।।२७।।

प्रवालपल्लवच्छायपादाम्बुजयुगं बभौ ।
रागसागरसंचारादिव लग्नारुणद्रवम् ।।२८।।

लावण्यनलिनीबालमृणालयुगलोपमे ।
जङ्घाकाण्डद्वये तस्याः कान्तिहंसी व्यरोचत ।।२९।।

विलासबर्हिकदलीदण्डावूरू बभार सा ।
पुष्पायुधपुरीकान्तदन्ततोरणविभ्रमे ।।३०।।
पुलिने कान्तिसरितः पर्यङ्कशयने रतेः ।
मेखलापरिखं यस्या जघनं मान्मथं पुरम् ।।३१।।
मग्नो नाभिह्रदावर्ते हरकोपानलाकुलः ।
कामोऽनुमीयते यस्या रोमाली धूम्रलेखया ।।३२।।
तारहारांशुमुकुलैर्जातौ यस्याः पयोधरौ ।
चक्रवाकाविव मुखासक्तबालबिसाङ्कुरौ ।।३३।।
यस्या वलयकेयूरनीलरत्नांशुभोगिभिः ।
तारुण्यचन्दनलताललिते बभतुर्भुजे ।।३४।।
स्मरबालवसन्तेन कृतेवाधरकान्तिभिः ।
श्यामा ययौ वनस्या सा यस्याः किशलयावधिः ।।३५।।
सुस्पष्टनासा वंशोच्चललाटच्छत्रमाश्रिताः ।
यत्कटाक्षच्छटाः प्रापुरुत्पलोद्दामदायताम् ।।३६।।
वदनाम्भोजभृङ्गालीं या बभारालकावलीम् ।
प्रशस्तिमिव कामेन न्यस्तां सौभाग्यभूपतेः ।।३७।।
तां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनस्तन्मयोऽभवत् ।
क्षिप्रं नवावतारेण स्मरेण तरलीकृतः ।।३८।।
विस्तीर्णं सुकृतिप्राप्यं तारुण्यस्तनपादपम् ।
प्रशान्तविग्रहकथं न्यस्तचापमिव स्मरम् ।।३९।।

लक्ष्मीविलासभवनं भुजस्तम्भविभूषितम् ।
सापि लावण्यनलिनी राजहंसं विलोक्य तम् ॥४०॥
लज्जामज्जत्तनुलताकम्पसम्पत्तरङ्गिता ।
असूत्रमौक्तिकलता बभूव स्वेदबिन्दुभिः ॥४१॥
क्षिप्रं पुलकिता तस्या विरराज कुचस्थली ।
विशङ्किरिव पुष्पेषुशरैराकीर्णकेसरा ॥४२॥

ततः सहेलं तामेत्य प्राह जीमूतवाहनः ।
प्रागुर्वुपायनकर्पूरमिव दन्तांशुभिर्दिशन् ॥४३॥
आचाररुचिरः कोऽयं क्रमस्तव सुलोचने ।
संभाष्य तेन यत्पूर्वंस्वागतं प्रणयी जनः ॥४४॥
उक्त्वेति तन्मुखाम्भोजन्यस्तलोचनषट्पदः ।
अपृच्छत्तत्सखीं लोलकुण्डलोद्योतिताननः ॥४५॥
रसाधारगुणाधारः कुरुते कस्य नो मनः ।
कौतुकोत्कलिकालोलस्वभावसुभगो जनः ॥४६॥

विधेरवधिनिर्माणत्रैलोक्यनयनोत्सवः ।
कुलालङ्करणं कन्या कस्येयं ललिताकृतिः ॥४७॥
इत्युक्ता तेन सा प्राह सखी प्रणयमन्थराम् ।
गम्भीरोदारमधुरं कलयन्ती तदाशयम् ॥४८॥
सत्त्वमुन्नतसत्त्वानां दर्शनेन भवादृशाम् ।
मनो नृत्यति किं त्वस्याः क्षणं वाङ न प्रवर्तते ॥४९॥

लज्जानिकेतनं कन्या कथं नाथ तवाग्रतः ।
सम्भाषणे सुप्रतिभा ललनेव प्रगल्भते ॥५०॥
विश्वावसोः सिद्धपतेर्वंशमुक्तालता सुता ।
इत्थं मलयवत्याख्या नित्यं गौरीस्तुतिव्रता ॥५१॥
निवेद्येति सखी क्षिप्रं तद्वयस्यादथाश्रृणोत् ।
जीमूतवाहनकथां प्राज्याभिनयशालिनीम् ॥५२॥
ततो नवसमुन्मेषकुसुमेषुतरङ्गिताम् ।
कान्तां पिबन्निव दृशा प्राह जीमूतवाहनः ॥५३॥

सहजेनाभिलाषेण गुणैः कान्त्या च भूषिता ।
इयमालोक्यते क्षिप्रं यदेतज्जन्मनः फलम् ॥५४॥
आनन्दमधुरा दृष्टिर्मनः प्रीतितरङ्गितम् ।
सतामेतावदौचित्यं बाह्यस्त्वाचारडम्बरः ॥५५॥

समागमं सुधावृष्टिं दृष्टिपातमनुग्रहम् ।
एवंविधस्य वपुषः को हि नाम न मन्यते ॥५६॥
इति ब्रुवाणे सानन्दं तस्मिन् विद्याधराधिपे ।
आहूता सा प्रतीहार्या प्रतस्थे मातुरन्तिकम् ॥५७॥

न्यस्तं मयि मनः पाल्यमेतदत्यन्तपेशलम् ।
इतीव कान्तं सा प्राह व्रजन्ती नूपुरारवैः ॥५८॥
ददौ त्रिकपरावृत्तिलक्षितैकस्तनी मुहुः ।
तस्मै दृशं सा धम्मिल्लमधुपासारणच्छलात् ॥५९॥
वेपथुस्तम्भसंरुद्धा तन्वी कृच्छ्रेण सा ययौ ।
सुकुमारेण मनसा सा वहन्ती महाभुजम् ॥६०॥
निजमन्तःपुरं प्राप्य निःश्वसन्ती श्लथांशुका ।
पपात शयनोत्सङ्गे दष्टा मकरकेतुना ॥६१॥

तस्याः प्रववृधे क्षिप्रं स कोऽपि विरहानलः ।
यः सिच्यमानो बाष्पाम्बुपूरैरुज्जृम्भतेऽधिकम् ॥६२॥
अत्रान्तरे जलनिधिं प्रविष्टे वासरेश्वरे ।
बभूव रागिणी सन्ध्या नलिनीवनशालिनी ॥६३॥
पद्मसंकोचचकिता बभ्रमुर्भ्रमरा भुवि ।
संध्यया सपदि व्युप्तास्तमोबीजकणा इव ॥६४॥

तिमिरैरञ्जनश्यामैः श्यामावदनकुन्तलैः ।
चक्रवाकीवियोगाग्निधूमाभैरुत्थितं ततः ॥६५॥
नीलाम्बुजैरिवोत्सृष्टं भ्रमरैरिव मूर्च्छितम् ।
नीलकण्ठैरिवोद्गीर्णं चचार सुचिरं तमः ॥६६॥
अथादृश्यत चण्डीशजटामण्डलमण्डनम् ।
श्यामाकर्पूरतिलको रोहिणीरमणः शशी ॥६७॥

दिक्कान्ताकेलिमुकुले निशामौक्तिककुण्डले ।
स्मरराजसितच्छत्रे शशिनि स्मेरजृम्भिते ॥६८॥
उत्फुल्लकुसुमामोदनन्दितेन्दीवरा मुहुः ।
पद्मिनीविरहोच्छ्वासा इव बालानिला ववुः ॥६९॥
योषितां हृदयाकाण्डभञ्जयन्त्रोपले विधौ ।
प्रौढिं प्रयाते पञ्चेषुवह्निकुण्डमहोल्मुके ॥७०॥
श्रीखण्डरससंसिक्तकदलीदलशालिनी ।
बभूव गाढसन्तापक्लान्ता सिद्धपतेः सुता ॥७१॥
न जलार्द्रैर्न वसनैर्न हारैर्न सरोरुहैः ।
तस्या न चन्द्रकान्तैश्च शशाम मदनानलः ॥७२॥
सा लज्जातरला प्राह तां सखीं पार्श्ववर्तिनीम् ।
अयि त्वमेव मे तत्र कान्तदर्शनसाक्षिणी ॥७३॥
किं करोमि क्व गच्छामि कस्यैतत् कथयामि वा ।
अयं कन्याविरुद्धो मे क्रमः कामेन निर्मितः ॥७४॥
(प्रत्यादिशन्ति सन्देशं प्रयान्ति स्वयमेव वा ।
प्रियं प्रणयशालिन्यो निर्लज्जा बत योषितः) ॥७५॥
किं वा सन्दिश्यते तस्मै लीलया हृतचेतसे ।
युवासौ भाग्यसम्पन्नो वाचः कस्य शृणोति वा ॥७६॥
विज्ञप्तोऽसीति कार्पण्यं वदतीति प्रगल्भता ।
एहीत्याज्ञावलेपोऽयं प्रियोऽसीति विलज्जता ॥७७॥
न जीवामीत्यसदृशं त्वत्प्रियास्मीत्यलक्षितम् ।
आगच्छामीत्यनुचितं स्मरार्तास्मीतिचापलम् ॥७८॥
न जाने सखि ! किं वाच्यो दैवादासादितोऽपि सः ।
सर्वथा नष्टसार्थेऽस्मिन् मरणं शरणं मम ॥७९॥
वयस्यामभिधायेत्थं सा निनयाशु निर्झरैः ।
सन्तापशोककठिनं कुचचन्दनमार्द्रताम् ॥८०॥
जीमूतवाहनोऽप्यस्मिन्नन्तरे विरहाकुलः ।
तस्मिन्गौरीवरोद्याने चचारेन्दुमुखीं स्मरन् ॥८१॥

स कामभुजगाक्रान्तः कौमुदीविषमूर्च्छितः ।
सन्तापविह्वलो भेजे वातूलतरलां स्थितिम् ॥८२॥
तं ध्यानमूकमभ्येत्य क्षामं मधुकरः सखा ।
उवाच विप्लवः कोऽयं तवापि मनसः सखे ॥८३॥
भजन्ति सततं सन्तो विद्यार्जनपरिश्रमम् ।
येन न व्यसनापाते मुह्यन्ति मतिविप्लवैः ॥८४॥
इति श्रुत्वा विनिःश्वस्य तप्तो जीमूतवाहनः ।
क्षणं विलोक्य वसुधां स्वस्थोऽस्मीति तमभ्यधात् ॥८५॥
प्रत्यग्रचन्दनदलैः कल्पिते सुहृदा ततः ।
निषण्णः शयने प्राप न स संतापतानवम् ॥८६॥
अत्रान्तरे मलयवत्यभ्येत्य विरहासहा ।
गौर्याश्रमे तरुलताप्रान्ते पाशमकल्पयत् ॥८७॥
ततः प्रणम्य गिरिजां हा हतेति विलप्य सा ।
विधाय साश्रुनयनास्तत्र बाला मृगाङ्गनाः ॥८८॥
जीमूतवाहनो भूयादन्यस्मिन् मे स जन्मनि ।
विभुरित्यभिधायाभूत् सा शापाभिमुखीक्षणात् ॥८९॥
तच्छ्रुत्वा सुहृदाहूतस्तूर्णं जीमूतवाहनः ।
छन्नस्तरुलताजालैः शुश्राव च ददर्श च ॥९०॥
ततो भगवती प्राह पुत्रि ! मा साहसं कृथाः ।
भविता चक्रवर्ती ते भर्ता जीमूतवाहनः ॥९१॥
इति देवीवरं प्राप्य सा ददर्श पुरः स्थितम् ।
जीमूतवाहनं हर्षलज्जामुकुलितेक्षणा ॥९२॥
अत्रान्तरे समभ्येत्य चेटिका तं व्यजिज्ञपत् ।
दिष्ट्या विवर्धसे देवि ! कल्पितस्ते महोत्सवः ॥९३॥
त्वद्भ्रात्रा जनकादेशादद्य विद्याधरात्मजः ।
जीमूतकेतुपुत्राय दातुं त्वां सादरोत्थितः ॥९४॥
तदेहि कल्पितोऽद्यैव विवाहो जनकेन ते ।
इति श्रुत्वैव सा तूर्णं प्रययौ चारुहासिनी ॥९५॥

जीमूतवाहनोऽप्याशु समेत्य पितुरन्तिकम् ।
उवाह मंगलोदारविवाहोचितभूषणम् ॥९६॥
ततो महोत्सवानन्दि विद्याधरशतानुगः ।
परिणीय प्रियतमां सोऽभूत् संभोगतत्परः ॥९७॥
प्रेयस्याः सोऽग्रजं तुल्यरूपं मित्रावसुं व्यधात् ।
विलासकेलिलीलासु प्ररूढप्रेमभाजनम् ॥९८॥
कदाचिदथ विश्रम्भात् संमित्रावसुना सह ।
चचार जलधेर्वेलावनान्तमवलोकयन् ॥९९॥
ददर्श तत्र शिखराकारं नागास्थिसंचयम् ।
युगक्षये महाभूतं करकैरिव पूरितम् ॥१००॥
किमेतदिति तेनाशु पृष्टो मित्रावसुस्ततः ।
उवाच गरुडेनात्र भक्षिता भुजगोत्तमाः ॥१०१॥
सर्वक्षयभयात्तार्क्ष्यस्ततो वासुकिनार्थितः ।
विसृष्टं तेन वारेण सदैकं नागमत्त्यसौ ॥१०२।
अयमस्थिचयस्तेषामद्रिकूलसमुच्छ्रयः ।
उक्त्वेति जनकाहूतस्तूर्णं मित्रावसुर्ययौ ॥१०३॥
जीमूतवाहनोऽप्येकः सर्पेषु करुणाकुलः ।
चचार तत्र निःसारं संसारं कलयन् धिया ॥१०४॥
ततो ददर्श करुणाक्रन्द्रशुष्काधराननाम् ।
वृद्धाङ्गनां कुमारेण सान्त्वमानां मुहुर्मुहुः ॥१०५॥
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखं कान्तिधूतदिगन्तरम् ।
स्फुरत्स्फीतफणारत्नपुञ्जपिञ्जरिताम्बरम् ॥१०६॥
आनन्दमिव कासारं संतोषमिव जङ्गमम् ।
तं वीक्ष्य तनयं वृद्धा (विललापाश्रुगद्गदम्) ॥१०७॥
हा पुत्र ! नयनानन्दसौन्दर्यामृतदीधिते ! ।
शङ्खपालमहावंशव्यक्तमुक्तामणीयित !) ॥१०८॥
हा शङ्खचूड लावण्यनिधानमिदमेव ते ।
वपुर्गरुडचञ्च्वग्रवज्रपातासहं कथम् ॥१०९॥

 BVRSSMV

भीतेन नागराजेन प्रेषितोऽसि गरुत्मते ।
सुकुमारशरीरेऽस्मिन् कस्ते त्राणं भविष्यति ॥११०॥
इति पुत्रमुखाम्भोजमाघ्राय विललाप सा ।
जीमूतवाहनोऽभ्येत्य तामुवाच कृपाकुलः ॥१११॥
मातः! स्थितोऽस्मि ते पुत्रपरित्राणकृतक्षणः ।
परोपकारः संसारे निःसारे प्राप्यते कुतः ॥११२॥
अयमेव सदापाये काये सारसमुच्चयः ।
यत्प्रयाति परायासत्राणसत्पुण्यपात्रताम् ॥११३॥
इत्याकर्ण्य परित्रस्ता सुपर्णशङ्किनी ततः ।
पुत्रमासाद्य साकम्पा सा पुरः प्रणनाम तम् ॥११४॥
नाहं भुजङ्गाधिपतिर्वितीर्य निजविग्रहम् ।
विद्याधरो रक्षिताहं त्वत्पुत्रस्येति सोऽभ्यधात् ॥११५॥
वृद्धावदत्तं त्वमथ (शङ्खचूडाधिको मम ।
बहुकल्पशतं धन्यां रक्ष सौम्यामिमां तनुम् ॥११६॥
इति तस्यां ब्रुवाणायां शङ्खचूडोऽतिविस्मितः ।
तमभ्यधात्स्मितमुखो ललाटरचिताञ्जलिः) ॥११७॥
अभिनन्दितमेतत्ते दर्शनं सत्त्वशालिनः ।
पूर्णेन्दुरमृतोद्गारिकिरणः कस्य न प्रियः ॥११८॥
अहो नु त्वं निजान् प्राणान् मदर्थं दातुमुद्यतः ।
सहामहे कथं नाम तृणार्थे रत्नविक्रयम् ॥११९॥
कियन्तो न भवाम्भोधौ जाता याताश्च मद्विधाः ।
कौस्तुभस्येव भवतः क्व दृष्टः पुनरुद्भवः ॥१२०॥
सत्त्वोज्ज्वलं तवैवैतन्मुखेन्दौ शोभते वचः ।
अन्धकायस्य जगतामनास्थाने तु पातितम् ॥१२१॥
मद्वियोगाग्निविधुरा समाश्वास्य विभो त्वया ।
(माता मे स्थादृष्टोऽपि (?)साधुःसुचिरबान्धवः) ॥१२२॥
इति नागकुमारस्य वचः श्रुत्वा कुलोचितम् ।
जीमूतवाहनः प्राह बत चित्रं प्रभाषसे ॥१२३॥

730

वृद्धेयं त्वां विना पुत्रं कुलालङ्करणं सखे ! ।
कथं जीवति दुःखं हि जननीनां सुदुःसहम् ॥१२४॥
एतां त्रातुं निजात्मानं रक्ष त्वज्जीविता ह्यसौ ।
अस्याः प्राणपरित्यागे विद्वन्मा कारणं भव ॥१२५॥
शरीरेण मदीयेन द्वयं पाहि महामते ! ।
इत्युक्त्वा शङ्खचूडस्य पादयोर्निपपात सः ॥१२६॥
फणिसूनुस्तमवदन्निर्बन्धाकुलितस्ततः ।
श्रुत्वा विवेचितं नैव मादृशामीदृशं वचः ॥१२७॥
न नाम शङ्खधवलं शङ्खपालमहाकुलम् ।
मयापि शङ्खचूडेन सत्त्वभङ्गात् कलङ्क्यते ॥१२८॥
आसन्नो गारुडः कालः स्वस्ति गच्छाम्यहं विभो ।
वधशैले प्रणम्याशु गोकर्णं शशिशेखरम् ॥१२९॥
उक्त्वेति मात्रानुगते याते तस्मिन् क्षणादभूत् ।
उच्चण्डाकाण्डकल्पान्तवातव्याकुलितं जगत् ॥१३०॥
कालदोर्दण्डशङ्काभाश्छटाघटितदिक्तटाः ।
उत्तस्थुर्मकरास्फारकरालाः सागरोर्मयः ॥१३१
ततश्चण्डांशुतप्तस्य सुमेरोरिव रश्मिभिः ।
अभूदौर्वानलेनेव पूरितं पिञ्जरं नभः ॥१३२॥
आगतं गरुडं ज्ञात्वा सूचितं पक्षमारुतैः ।
आरुरोह मदावद्धः शिलां जीमूतवाहनः ॥१३३॥
रक्तांशुकेन संछन्नः स्थितस्तत्र व्यचिन्तयत् ।
सत्त्वोपकाराय पुनर्जन्म भूयान् ममेति सः ॥१३४॥
ततोऽदृश्यत दिग्दाहदारुणच्छविरम्बरे ।
प्रलयाग्निशिखालोलपक्षाक्षेपः खगेश्वरः ॥१३५॥
तस्योरुवेगसंघट्टस्फूर्जद्घनघनारवैः ।
चुक्रोशाकालकल्पान्तसन्त्रस्तेव जगत्त्रयी ॥१३६॥
ततः स तस्य धैर्याब्धिर्विद्याधरशिरोमणेः ।
जहार शिरसश्चूडं चूडारत्नेन मण्डितम् ॥१३७॥

ततः शरीरमादाय तस्य तुण्डेन खेचरः ।
गगने वलयाकारं चकार गतिविभ्रमम् ॥१३८॥
तच्चञ्चुक्रकचभ्रष्टं रक्तधारापुरःसरम् ।
अङ्के मलयवत्यास्तु चूडारत्नमथापतत् ॥१३९॥
तद् दृष्ट्वा वज्रसंरुग्णा शिरीषलतिकेव सा ।
जीमूतकेतवे तन्वी परित्रस्ता न्यवेदयत् ॥१४०॥
स्वविद्यया परिज्ञाय स्वसूनोर्जीवितव्ययम् ।
भार्यास्नुषाभ्यां सहितः सौपर्णीं तां शिलां ययौ ॥१४१॥

अत्रान्तरे शङ्खचूडस्तूर्णं तं देशमागतः ।
गोकर्णमर्णवतटे प्रणिपत्य मनोजवः ॥१४२॥
तत्रापश्यन्नखमुखोत्खातस्खलितशेखरम् ।
विद्याधरेन्द्रमादाय तार्क्ष्यमुत्पतितं दिवि ॥१४३॥
तं वीक्ष्य साश्रुनयनो विनाघातं विदारितः ।
आत्मानं तद्वधे मत्वा कारणं विललाप सः ॥१४४॥

हा सत्त्वविपुलोदार्यधैर्यगाम्भीर्यसागर ! ।
हा पूर्णकरुणाकोश ! हा निष्कारणबान्धव ! ॥१४५॥
इति शोचन् स विपदमनुसर्तुं गरुत्मतः ।
जगाम जीवितत्यागदृढीकृतविनिश्चयः ॥१४६॥
आस्वाद्यास्वाद्य तार्क्ष्योऽपि व्योम्नि जीमूतवाहनम् ।
क्षिप्रं स्थगितसंरम्भं प्रदध्यौ विस्मयाकुलः ॥१४७॥
अहो नु सत्त्ववानेष कोऽपि धैर्यमहोदधिः ।
भक्ष्यमाणस्य यस्याङ्गे जायन्ते पुलकाङ्कुराः ॥१४८॥
प्रसन्नवदनः क्षिप्रं जीवशेषोऽपि वर्तते ।
चिन्तयित्वेत्यपृच्छत्त्वं कोऽसीति विनतात्मजः ॥१४९॥

स तं प्राह किमेतेन तव भक्षय मामिति ।
अस्मिन्नवसरे शङ्खचूडोऽभ्येत्य तमब्रवीत् ॥१५०॥
हा हा मा मा कृथास्तार्क्ष्य ! साहसं किं न पश्यति ।
अस्य विद्याधरेन्द्रस्य स्वस्तिकाङ्कमुरस्तटम् ॥१५१॥

अहं स नागस्ते भक्ष्यं पश्य जिह्वालताद्वयम् ।
विस्फूर्जद्विषफूत्कारं रत्नस्फीताः फणाश्च मे ।।१५२।।
इदानीमपि मे देहे मांसशोणितमस्ति भोः ।
न च पश्यामि ते तृप्तिं स त्वं दूरे स्थितः कुतः ।।१५३।।
इत्युक्त्वा विपुलं वक्षः प्रसार्योत्तानविग्रहः ।
तूर्णं मां भक्षयेत्याह स सुपर्णं पुनः पुनः ।।१५४।।
ततोऽस्थिशेषं तं त्यक्त्वा विषण्णे पन्नगेश्वरे ।
जीमूतवाहनवधूर्गुरुभ्यामाययौ सह ।।१५५।।
दृष्ट्वा मलयवत्यग्रे प्राणनाथं तथागतम् ।
मुमोहापूर्वशोकाग्निधूमेनेवान्धकारिता ।।१५६।।
जीमूतकेतुस्तनयं विलोक्य सह जायया ।
पपातमूलनिर्लून इव चन्दनपादपः ।।१५७।।
तार्क्ष्येणाश्वास्यमानेषु तेषु जीमूतवाहनम् ।
संस्पृश्य पाणिना माता शुशोच करुणस्वनम् ।।१५८।।
मुहूर्ताच्छेषजीवोऽपि सोऽब्रवीज्जननीं शनैः ।
मार्तविनश्वरस्यास्य किं शरीरस्य शोच्यते ।।१५९।।
भवेऽस्मिन् पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ।।१६०।।
उक्त्वेति विसृजन् प्राणानविच्छायमुखच्छविः ।
स्फारेण शोकतमसा जगत् संपूरयन्निव ।।१६१।।
ततो मलयवत्यासीन्मरणे कृतनिश्चया ।
शोकस्तम्भेन संरुद्धा न चचाल पपात वा ।।१६२।।
अथ साक्षाद्भगवती गौरी तां भक्तवत्सला ।
समाश्वास्य सुधासारैस्तद्भर्तारमजीवयत् ।।१६३।।
चक्रवर्तिश्रियं चास्मै दत्त्वा क्षिप्रं तिरोदधे ।
ततो देवाः सगन्धर्वास्तस्य सत्त्वमपूजयन् ।।१६४।।
गरुडोऽप्यथ हृष्टात्मा वरदस्तेन याचितः ।
प्रददौ सर्वनागानां पुण्यामभयदक्षिणाम् ।।१६५।।

जीमूतवाहनो हृष्टः प्रययौ दयितासखः ।
कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ वसुधाधिपम् ।
सत्त्ववाञ्शङ्खचूडोऽत्र किं वा जीमूतवाहन ॥१६६॥

इति पृष्टो नृपः प्राह शङ्खचूडोऽत्र सत्त्वभूः ।
यो बालोऽपि निजौचित्यान्न चचाल महाशयः ॥१६७॥

जीमूतवाहनस्यैतदात्मदानं किमद्भुतम् ।
बोधिसत्त्वः स हि पुरा दत्तवान् बहुशस्तनुम् ॥१६८॥

तपस्तीव्रं यशः शुभ्रं श्लाघ्या श्रीः सत्त्वमद्भुतम् ।
निर्व्याजदानं च नृणां पूर्वाभ्यस्तं हि जायते ॥१६९॥

श्रुत्वेत्यलक्षितो गत्वा वेतालः शिशिपातरौ ।
तेनैव कण्ठपाशेन तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥१७०॥

इति बृहत्कथामञ्जर्यां शशाङ्कवतीलम्बके षोडशो वेतालः ।

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट है कि बृहत्कथा में प्रतिपादित जीमूतवाहन की कथा नागानन्द नाटक की कथावस्तु का आधार है। हाँ, इन दोनो में थोड़ा-बहुत अन्तर जो मिलता है, वह नाटकीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही कवि ने किया है । इससे नाटककार की कल्पनाशक्ति का परिचय भी मिलता है। पहले के नाटकारों ने भी ऐसा किया है; जैसे महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा में मूलभूत महाभारतीय कथा से कई जगह परिवर्तन किये हैं।

अब दोनों कथाओं के अन्तर पर दृक्पात कीजिए—(१) बृहत्कथा में जीमूतवाहन माता-पिता की सेवा के लिए वन में जाने पर अपनी अलौकिक शक्ति से अपने राज्य पर अपने बन्धु-बान्धवों के आक्रमण का पता लगाता है किन्तु नाटक में अलौकिक शक्ति को बीच में न लाकर शत्रुरूप में मतंग की कल्पना करके मित्रावसु से आक्रमण की सूचना दिलाई गई है । इस परिवर्तन से कथावस्तु में वास्तविकता का रूप आ गया है। (२) बृहत्कथा में जीमूत-

वाहन गौरी-मन्दिर में जाता है, वहाँ मलयवती को देखता है, उसकी सखी के मुख से मलयवती का परिचय प्राप्त करता और अपना भी परिचय देता है, जब कि नाटक में गौरी-मन्दिर में नायक-नायिका का क्षणिक मिलन सहसा तपस्वी के प्रवेश से विच्छिन्न हो जाता है और जीमूतवाहन नायिका के नाम से भी अपरिचित ही रहता है, जिसके द्वितीय अंक में नायक द्वारा मलयवती के साथ विवाह को अस्वीकृत कर देने पर मलयवती आत्महत्या करने की चेष्टा करती है। यहाँ नाटककार की नाट्यचातुरी बहुत ही हृदयावर्जक है। (३) बृहत्कथा में मलयवती को उसकी माता बुलवाती है और नाटक में कौशिक नाम का कुलपति। (४) बृहत्कथा में जब नायिका आत्महत्या के लिए अपने दुपट्टे से फांसी का फन्दा बनाती है तब आकाशवाणी के द्वारा गौरी उसे यह कह कर रोकती है कि—'पुत्री ! ऐसा साहस मत करो, चक्रवर्ती तुम्हारा पति होगा'। किन्तु नाटक में स्वयं नायक ही ऐसे अवसर पर उपस्थित होकर नायिका को आत्महत्या से विरत करता है। यहाँ कवि की रसानुगुण वस्तुविन्यासपद्धति बहुत सुन्दर है। (५) बृहत्कथा में नायक अपने मणिजटित वस्त्रों को पहनकर वध्यशिला पर खड़ा होकर गरुड़ के नागभ्रम का कारण बनता है किन्तु नाटक में वह लाल वस्त्र पहनकर ही वध्यशिला पर जाता है, जिससे गरुड को जरा भी बोध नहीं हो सकता है कि यह नाग नहीं है। (६) बृहत्कथा में नायक की चूडामणि मलयवती के पैरों पर गिरती है और पिता को अलौकिक शक्ति से ही अपने पुत्र की विपत्ति का पता चलता है किन्तु नाटककार ने मणि को पिता के चरणों पर गिराकर ऐसे आदर्श पुत्र का चित्र खींचता है, जो प्रणयिनी के प्रेम को जरा भी महत्त्व न देता हुआ मृत्यु-समय में भी पिता के ही चरणों पर गिरना पसन्द करता है। (७) बृहत्कथा में केवल मलयवती ही सती होने का प्रयत्न करती है, किन्तु नाटक में रस के अनुरूप नायक के पिता-माता, नवपरिणीता वधू, शंखचूड सभी मरने को उद्यत दिखाई पड़ते हैं। (८) बृहत्कथा में नागों की हिंसा से विरत गरुड के लिए कोई भी प्रायश्चित्त नहीं दिखाया गया है। किन्तु नाटक में गरुड अपने किये हुए कार्यों का प्रायश्चित्त करता है, नागों की हिंसा से विरत होता है, अपयश मिटाने के लिए इन्द्रलोक से अमृत की वर्षा करता है, जिससे अस्थिशेष सभी नाग पुनर्जीवन को प्राप्त करते हैं।

(३) 'नागानन्द' के पात्रों की समीक्षा

जीमूतवाहन

जीमूतवाहन नागानन्द का धीरोदात्त नायक है; क्योंकि शोक, क्रोध आदि से अभिभूत न होने वाले अन्तःकरण से युक्त होने के कारण वह महासत्त्वशाली, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा से रहित, दृढनिश्चयी तथा निगूढ अहंकार रखने वाला है। जैसे कि गरुड के द्वारा अपने अंगों के खाये जाने पर भी उसका निम्नोक्त कथन उसकी महासत्त्वता को व्यक्त करता है—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥ (५,१६)

परोपकार करने के लिए ही वह प्रत्येक जन्म में शरीर धारण करना चाहता है—

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्जितं यत् स्वशरीरदानात् ।
भवे भवे तेन ममैव भूयात् परोपकाराय शरीरलाभः ॥ (४,३६)

इस विनश्वर शरीर के लिए प्राणियों की हिंसा करने वाले पुरुषों को वह मूर्ख समझता है—

सर्वाशुचिनिधानस्य जरत्तृणलघीयसः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ।

उसकी धारणा है कि भगवान् सूर्य ही एकमात्र प्रशंसनीय हैं, जो कि रात-दिन जगत्कल्याण के लिए अथक परिश्रम में लगे रहते हैं।

एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः । (३,१८)

वन में सब तरह का आनन्द रहने पर भी जीमूतवाहन को याचकों का अभाव बहुत अखरता है, क्योंकि उसके कारण वह परोपकार के कार्य से वंचित रह जाता है—

दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनाबन्ध्यैर्वृथा स्थीयते । (४,२)

मतंग उसके राज्य पर आक्रमण करता है, तो उसे जरा भी दुःख नहीं

होता है, प्रत्युत प्रसन्न होता है कि अच्छा है मेरे राज्य से शत्रुओं का भी कुछ भला हो जाय।

इस प्रकार जीमूतवाहन के हृदय में जहाँ परोपकार की भावना कूट-कूट कर भरी है वहीं माता-पिता के प्रति उसकी अपार भक्ति भी अद्वितीय है। वह विशाल साम्राज्य के वैभव तथा सौख्य को भी लात मारकर अपने माता-पिता की सेवा के निमित्त जंगल में जाकर रहता है। वह कहता है--माता-पिता की जूठन खाने में जो सन्तोषहोता है, वह क्या कभी तीनों लोकों के सुख-भोग करने में मिल सकता है? माता-पिता को छोड़कर राज्य करना क्लेश ही है; भला, उसमें कौन-सी भलाई है?--

किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः?।
आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः? (१,७)

जीमूतवाहन महान् दृढनिश्चयी है और उसके निश्चय तथा स्वार्थत्याग का सद्यः प्रभाव क्रूरहृदय नृशंस गरुड पर इतना अधिक पड़ता है कि वह उसी दिन से हिंसाव्यापार से विरत हो जाता है। जीमूतवाहन के उत्तम गुणों का मञ्जुल वर्णन उसके पिता के शब्दों में सुनिए--

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय! लोकान्तरगते॥ (५,३१)

मलयवती

मलयवती इस नाटक की नायिका है। कवि ने इसे आदर्श रमणी के रूप में चित्रित किया है। यह सिद्धराज की कन्या है, अनुपम सुन्दरी है तथा संगीत में निपुण है। उसके अलौकिक सौन्दर्य से नायक इतना अभिभूत हो जाता है कि जब वह नायक के पास से जाने लगती है तब उसकी चाल देखकर नायक कह उठता है कि यह विपुलनितम्बा जा तो दूसरी जगह रही है, किन्तु पैर इसने मेरे हृदय में रखा है--

अनया जघनाऽऽभोगमन्थरयानया ।
अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम् ।। (१,२०)

इसके संगीत को हरिण अपने दाँतों के बीच पड़े हुए घास के कौर के चबा का शब्द रोककर सुनते हैं--

एते ,दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य
व्याजिह्माङ्गाः कुरङ्गाः स्फुटललितपदं, गीतमाकर्णयन्ति ।। (१,१३)

मलयवती गौरी की परम भक्त है। उसकी सखी द्वारा की गई गौरी की आलोचना को वह पसन्द नहीं करती है, तुरन्त उसका प्रतिवाद करती है। स्वप्न में कहे गये गौरी के वचन के विश्वास पर वह जीमूतवाहन से आँखें चार होते ही उसे अपना हृदय दे देती है और एक सच्ची भारतीय रमणी की तरह अन्त तक उस पर सच्चा प्रेम बनाये रखती है। जब चित्र बनाते हुए जीमूतवाहन पर उसे सन्देह हो जाता है कि वह किसी अन्य सुन्दरी पर आकृष्ट है तो वह फांसी लगाकर आत्महत्या करने की चेष्टा करती है। फिर जीमूतवाहन के मृत्यु पर उसे अपना जीवन भार स्वरूप मालूम होता है और वह तत्काल अपने को अग्निसात् करके सती हो जाना चाहती है। पर गौरी पर सच्ची भक्ति होने से गौरी स्वयं आकर जल छिड़ककर उसके पति को जिला देती है।

शंखचूड

शंखचूड भी उदात्त चरित्र का व्यक्ति है, वह अपने कर्तव्य के प्रति शरीर की चिन्ता बिलकुल नहीं करता है। वासुकि उसे गरुड की बलि बनाकर भेजता है। उसकी माता उसके लिए विलाप कर रही है। उस समय वह माता को उद्बोधन देता है--'माता! उत्पन्न हुए जीव को पहले अनित्यता अपनी गोद में लेती है, पीछे वह धाय की तरह माता की गोद में आता है, अतः इसके लिए रोना-धोना व्यर्थ है--

क्रोडीकरोति] प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तदा शोकस्य कः क्रमः ।। (४,८)

शंखचूड को अपने कुल की प्रतिष्ठा का पूरा-पूरा ध्यान है। जब जीमूतवाहन उसके स्थान पर स्वयं गरुड की बलि बनना चाहता है तब वह कहता

है—'महात्मन् ! यह शंखचूड आपकी बलि चढ़ाकर अपनी रक्षा करके निर्मल शंखपालवंश को कलंकित नहीं करेगा--

न खलु शंखधवलं शंखपालकुलं शंखचूडो मलिनीकरिष्यति । (४)

वह अपनी माता का परम भक्त है। इसलिए जीमूतवाहन से प्रार्थना करता है—'यदि आप मुझ पर दया करना चाहते हैं तो कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे मेरी माता मेरी विपत्ति से प्राणत्याग न करे--

यदि ते वयमनुकम्पनीया:, तदियमस्मद्विपत्तिविक्लवा न यथा जीवितं जह्यात् तथाभ्युपायश्चिन्त्यताम् । (४)

शंखचूड बहुत ही संवेदनशील है। जब उसे पता लगता है कि जीमूतवाहन उसके स्थान पर गरुड की बलि बन गया है और उसी के कारण जीमूतवाहन के परिवार पर विपत्ति आई है तब वह शोकव्याकुल हो जाता है और तत्काल गरुड के पास पहुँचकर कहता है—'गरुडदेव ! मैं तुम्हारा भक्ष्य निर्दिष्ट हूँ, विद्याधरकुमार महात्मा जीमूतवाहन नहीं, इसलिए मुझे खाओ, इन्हें छोड़ दो। फिर जीमूतवाहन के मर जाने पर वह भी प्राणत्याग करने के लिए चिता की रचना करता है।

गरुड

गरुड विष्णु का वाहन है। वह प्रचण्डबलशाली है। उसकी गर्वोक्ति है कि--यदि देवतालोग उसकी बात नहीं सुनेंगे तो वह अपने पंखों से समुद्र को ऊपर फेंककर अपने नेत्राग्नि से अग्नि समेत बारहों सूर्यों को जलाता हुआ न्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को और यम के दण्ड को चूर-चूर करके देवताओं से अमृत छीन लेगा—

पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः पटुतरजवनैः प्रेर्यमाणैः समीरैः
नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः ।
चञ्च्वा सञ्चूर्ण्य शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान्
आजौ निर्जित्य देवान् क्षणममृतमयीं वृष्टिमभ्युत्सृजामि ॥ (५,३२)

वह गुणग्राही एवं विवेकशील भी है। बुरी तरह नोचे जाते हुए भी जीमूतवाहन का धैर्य और प्रसन्नमुद्रा देखकर वह आश्चर्यमुग्ध होकर अपने भक्ष्य

(जीमूतवाहन) की प्रशंसा करता है और जब उसे पता लग जाता है कि यह उसका भक्ष्य नाग नहीं है, बल्कि विद्याधर-युवराज है तो वह एकाएक खाने से रुक जाता है और पश्चात्ताप करते हुए कहता है--

तन्महदकृत्यमेतन्मया कृतम् । किं बहुना, बोधिसत्त्व एवायं व्यापादितः । तस्य महतः पापस्याग्निप्रवेशादृते नान्यत् प्रायश्चित्तं पश्यामि । (५)

किन्तु जीमूतवाहन द्वारा आत्मघात करने से रोक दिया जाने पर वह जीमूतवाहन के सामने घुटने टेक देता है और उससे उपदेश ग्रहण करता है। तदनुसार हिंसा छोड़ देने की प्रतिज्ञा करता है—

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः ।
सर्वप्राणिवधादेष विरतोऽद्य प्रभृत्यहम् ।।(५,२६)

फिर जब उसके सामने ही जीमूतवाहन के प्राणपखेड़ू उड़ जाते हैं तब वह उसे बचाने के लिए वेग से स्वर्ग में जाकर वहाँ से अमृत की वर्षा करवाता है । इस प्रकार गरुड का चरित्र भी उत्तम कोटि का बन पड़ा है ।

(४) 'नागानन्द' में रसाभिव्यक्ति

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नागानन्द वीररस का नाटक है। वीररस का लक्षण है—

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधपदार्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ।।
स्मृतिधैर्यशौर्योत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ।। (नाट्यशास्त्र)

यह वीररस चार प्रकार का होता है अर्थात् वीरता के मूल में कार्य करने वाली उत्साह की भावना चार प्रकार से प्रस्फुटित होती है--(१) कहीं शत्रु के दमन की ओर बल पकड़ती है, (२) कहीं धर्म पर प्राणों तक की आहुति दे डालने का मार्ग बनाती है, (३) कहीं सर्वस्व तक दान कर देने के प्रति अग्रसर होती है और (४) कहीं किसी संकटापन्न व्यक्ति पर दयार्द्र होकर परोपकारार्थ शरीर तक को उपयोग में लाने के लिए उभार देती है। इस प्रकार उत्साह के विषय-भेद से वीर मनुष्य चार प्रकार का होता है--(१) युद्धवीर,

(२) धर्मवीर, (३) दानवीर और (४) दयावीर। वह चतुर्थ प्रकार का दयावीर ही इस नाटक का प्रधान पात्र है, जो एक नाग के प्राणरक्षार्थ अपने शरीर तक की बलि दे डालता है। इसलिए इसमें प्रधानरस वीर है, अन्य रस गौण हैं। यहाँ परोपकारार्थ अपने प्राणों के परित्याग के प्रति उत्साह दिखाना स्थायी भाव है, गरुड का भक्ष्य बना हुआ शंखचूड आलम्बनविभाव है, पुत्र के लिए छाती पीटती हुई वृद्धा के आर्तनाद आदि उद्दीपनविभाव है,—

शयितेन मातुरुदरे विश्रब्धं शैशवे न यत् प्राप्तम् ।
लब्धं सुखं मयास्य वध्यशिलायास्तदुत्सङ्गे ।। (४,२४)
शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ।।
(५,१६)

इत्यादि महासत्त्व प्रकट करने वाले वचन अनुभाव हैं और—

ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्योदधे-
र्मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम् ।
गात्रं यन्न विलुप्तमेष पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ।।(५,१५)

—इस श्लोक में वर्णित ग्लानि का अभाव, प्रीति, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सब से परिपुष्ट होकर वीररस अभिव्यक्त हुआ है। इसके अलावा निर्वेदस्थायिभावरूप शान्तरस भी है, जो माता-पिता के वन-गमनादिरूप विभावों से विभावित है तथा 'आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः' (१,७) इत्यादि अनुभावों से अनुभावित है। फिर इसमें रतिस्थायिभावरूप शृंगाररस भी रसिकों के चित्त को चमत्कृत करता है, जिसका आलम्बन मलयवती है, उसका दिव्य वीणावादन एवं सौन्दर्य आदि उद्दीपन है और मन के राग को प्रकट करने वाला वचन अनुभाव है। यहाँ कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं कि शान्त और शृंगार परस्पर विरोधी रस हैं। इसलिए यहाँ दो विरोधी रसों का प्रयोग नियमविरुद्ध है। इसका समाधान आनन्दवर्धनाचार्य के मत के अनुसार किया जा सकता है—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो न्यस्यः सुमेधसा ॥ (ध्वन्यालोक)

कहने का तात्पर्य है कि शान्त और शृंगार का विरोध इस रूप में कहीं नहीं माना गया है कि वे एकाश्रय न हों जैसा कि वीर और भयानक रसों के मध्य हुआ करता है। किसी व्यक्ति में वैराग्य के पश्चात् राग अथवा राग के पश्चात् वैराग्य होने में कोई बाधा नहीं है। शान्त-शृंगार का विरोध तो इस रूप में ही माना गया है कि इनमें नैरन्तर्य न हो अर्थात् शान्त के तत्काल पश्चात् शृंगार नहीं आ सकता। काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य के—"नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृंगारो निबद्धः" इस कथन के अनुसार प्रस्तुत नाटक में शान्तरस के पीछे अलौकिक गान तथा वीणावादन-पाटव के द्वारा अद्भुत रस को अभिव्यक्त करके मलयवती के प्रति राग-भावना दिखाई है इसलिए यहाँ उक्त आपत्ति उठाना उचित नहीं है।

(५) 'नागानन्द' में सुभाषित

प्रथम अंक

(१) आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः।
(२) वन्द्याः खलु देवताः।
(३) निर्दोषदर्शनाः कन्यका भवन्ति।
(४) सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।

द्वितीय अंक

(१) किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृतो भवति ?
(२) किं सुजनः प्रियं वर्जयित्वाऽन्यद् भणितुं जानाति ?
(३) न शक्यते चित्तमन्यतः प्रवृत्तमन्यतः प्रवर्तयितुम्।
(४) रत्नाकराद् ऋते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः ?
(५) अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम्।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम्॥

तृतीय अंक

(१) कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः ।
(२) अत्यादरोऽनर्थीभूतः ।
(३) जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ।
(४) स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि कलेशाय किं मण्डनम् ।
(५) एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः ।

चतुर्थ अंक

(१) सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ।।
(२) क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात् तदा शोकस्य कः क्रमः ।।
(३) जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशाः क्षुद्रजन्तवः ।
परार्थे बद्धकक्षाणं त्वादृशामुद्भवः कुतः ।।
(४) परोपकाराय शरीरलाभः ।

पञ्चम अंक

(१) स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात् ।
(२) आत्मीयः पर इत्ययं खलु कुतः सत्यं कृपायाः क्रमः ।
(३) मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघातेऽस्मिंस्त्वचावृते ।
शरीरनाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने ।
(४) शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखीभवतु लोकः ।

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

१. सूत्रधारः— अभिनय का प्रबन्धक, रंगमंच का अध्यक्ष ।
२. नायकः— विद्याधरों का युवराज, जीमूतवाहन ।
३. विदूषकः— आत्रेय नाम का नायक का मित्र ।

४. जीमूतकेतुः—	नायक का पिता।
५. तपस्वी—	शाण्डिल्य नाम का मुनि।
६. मित्रावसुः—	नायिका मलयवती का भाई।
७. गरुडः—	विष्णु का वाहन, पक्षिराज।
८. शङ्खचूडः—	एक नाग।
९. शेखरकः—	विट।
१०. कञ्चुकी—	वसुभद्र।
११. चेटः, किङ्करः, प्रतीहारः आदि—	मित्रावसु के सेवकगण।

स्त्री पात्र

१. नटी—	सूत्रधार की पत्नी।
२. मलयवती—	नायिका, सिद्धराज विश्वावसु की पुत्री।
३. गौरी—	भगवती पार्वती।
४. वृद्धा—	शंखचूड नाग की माता।
५. वृद्धा—	नायक की माता।
६. नवमालिका—	विट की स्त्री।
७. चतुरिका—	दासियाँ
८. मनोहरिका—	दासियाँ
९. चेटी—	दासियाँ

———

'नागानन्द' में आये श्लोकों की वर्णानुक्रमणी

		अंक	श्लोक			अंक	श्लोक
१	अक्लिष्टबिम्ब	२	८	२७	एकाकिनापि	३	१६
२	अग्रेसरीभवतु	५	३८	२८	एतत्ते भ्रूलतोद्भासि	३	११
३	अज्ञाननिद्राशयितो	५	२६	२९	एतन्मुखं प्रियायाः	३	१०
४	अनया जघनाभोग०	१	२०	३०	कण्ठे हारलतायोग्ये	२	१२
५	अनिहत्य तं	३	१४	३१	कवलितलवङ्ग	४	४
६	अन्तः पुराणां	४	१	३२	कामेनाकृष्य	१	२
७	अन्योन्यदर्शनकृत०	२	१४	३३	कुणासि घणचन्दण०	२	१
८	अभिलषिताधिक०	५	३५	३४	कुर्वाणो रुधिरार्द्र०	५	१४
९	अमी गीतारम्भैः	३	८	३५	क्रोडीकरोति	४	८
१०	अस्मिन् वध्यशिलातले	४	२७	३६	क्वचिद् द्वीपाकारः	५	२७
११	अस्या विलोक्य	४	१२	३७	क्षौमे भङ्गवती	५	२
१२	आत्मीयः पर	५	२१	३८	खेदाय स्तनभार एव	३	६
१३	आदावुत्पीडपृथ्वी०	५	९	३९	गात्राण्यमूनि न	५	३०
१४	आमोदानन्दितालिः	४	२८	४०	गोकर्णमर्णवतटे	५	७
१५	आर्तं कण्ठगत०	४	११	४१	ग्लानिर्नाधिक०	५	१५
१६	आलोक्यमानमति०	५	५	४२	चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्धं०	४	१८
१७	आवर्जितं मया	५	१७	४३	चन्दनलतागृह०	२	५
१८	आवेदय ममात्मीयं	५	१०	४४	चूडामणिं	५	१२
१९	आस्तां स्वस्तिक०	५	१८	४५	जायन्ते च	४	१६
२०	इत्येष भोगिपतिना	४	६	४६	जिह्वासहस्र	४	५
२१	उत्प्रेक्षमाणा	५	२९	४७	ज्वालाभङ्गैस्त्रिलोक०	५	२२
२२	उत्फुल्लकमल०	१	१४	४८	णिच्चं जो विवह	३	१
२३	उन्मज्जज्जल०	४	३	४९	तनुरियं तरलायत०	१	१७
२४	उष्णीषः स्फुट एष	१	१८	५०	तापात् तत्क्षणघृष्ट०	५	२१
२५	" "	५	२३	५१	तार्क्ष्येण भक्ष्य०	५	६
२६	एकत्तो गुरुवअणं	१	१९	५२	तिष्ठन् भाति	१	७

	अंक	श्लोक		अंक	श्लोक
५३ तुल्याः संवर्तकाभ्रैः	४	२२	८१ महाहिमस्तिष्क०	४	१३
५४ त्रातोऽयं शङ्खचूडः	५	३९	८२ माद्यत्कुञ्जरगण्ड०	१	९
५५ दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः	१	१०	८३ मूढाया मुहुरश्रु०	४	१९
५६ दिग्धाङ्गा हरिचन्दनेन	३	९	८४ मेदोऽस्थिमांसमज्जा०	५	२४
५७ दिनकरकरामृष्टं	३	१३	८५ मेरौ मन्दरकन्दरासु	५	१९
५८ दृष्टा दृष्टिमधो ददाति	३	४	८६ म्रियते म्रियमाणे	४	१७
५९ द्विजपरिजनबन्धुहिते	१	४	८७ यद्विद्याधरराजवंश	२	१०
६० ध्यानव्याजमुपेत्य	१	१	८८ यैरत्यन्तदयापरैः	४	१०
६१ न खलु न खलु	२	११	८९ रागस्यास्पदमित्यवैमि	१	६
६२ न तथा सुखयति	४	२३	९० वच्छत्थलम्हिदइग्रा	३	२
६३ नागानां रक्षिता भाति	४	२८	९१ वासोऽर्थं	१	११
६४ नाहित्राणात्कीर्तिः	५	८	९२ वासोयुगमिदं	४	२१
६५ निजेन जीवितेनापि	५	३४	९३ विद्याधरेण केनापि	५	११
६६ नित्यं प्राणाभिघातात्	५	२५	९४ विलुप्तशेषाङ्गतया	५	२३
६७ निद्रामुद्राभिबन्धात्	३	१८	९५ विश्वामित्रः	४	१५
६८ निराधारं धैर्यं	५	३१	९६ वृष्टिं हृष्टशिखण्डि	५	४०
६९ निष्यन्दत इवानेन	२	७	९७ वृष्ट्या पिष्टातकस्य	२	१२
७० निष्यन्दश्चन्दनानां	३	७	९८ व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना	१	१५
७१ नीता किं न निशा	२	३	९९ व्यावृत्यैव सितासिते	२	२
७२ न्याय्ये वर्त्मनि	१	८	१०० शयितेन मातुरङ्के	४	२४
७३ पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः	५	३२	१०१ शय्या शाद्वलमासनं	४	२
७४ पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां	१	५	१०२ शशिमणिशिला सेयं	२	६
७५ प्रतिदिनमशून्यमहिना	४	१९	१०३ शिरामुखैः स्यन्दत	५	१६
७६ प्रिया सन्निहितैवेयं	२	९	१०४ शिवमस्तु सर्वजगतां	५	४१
७७ भक्त्या सुदूर०	५	१३	१०५ श्रीहर्षो निपुणः	१	३
७८ मुक्तानि यौवनसुखानि	५	३	१०६ संरक्षता पन्नगमद्य	४	२६
७९ मधुरमिव वदन्तः	१	१२	१०७ संसर्पद्भिः समन्तात्	३	१५
८० ममैतदम्बार्पय	४	१४	१०८ समुत्पतस्यामहे मातः	४	२०

		अंक	श्लोक			अंक	श्लोक
१०९	संप्राप्ताखण्डदेहाः	५	३६	११६	स्वगृहोद्यानगतेऽपि	५	१
११०	सर्वाशुचिनिधानस्य	४	७	११७	स्वर्गस्त्री यदि	१	१६
१११	स्त्रीहृदयेन नसोढाः	२	४	११८	स्वशरीरमपि परार्थे	३	१७
११२	स्थानप्राप्त्या दधानं	१	१३	११९	स्वशरीरेण शरीरं	५	२०
११३	स्फुरसि किमु	५	४	१२०	हंसासेवितहेम०	५	३१
११४	स्मितपुष्पोद्गमोऽयं	३	१२	१२१	हरिहरपिदामहाणं	३	३
११५	स्रस्तानापादलम्बान्	५	२८	१२२	हुङ्कारं ददता	३	५

॥ श्रीः ॥

नागानन्दम्

प्रथमोऽङ्कः

नान्दी

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः[1] पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बोधौ[2] जिनः पातु वः ॥१॥

अन्वय--ध्यानव्याजम् उपेत्य कां चिन्तयसि ? क्षणं चक्षुः उन्मील्य अनङ्गशरातुरम् इमं जनं पश्य । त्रातापि नो रक्षसि । मिथ्याकारुणिकः असि । त्वत्तः निर्घृणतरः पुमान् अन्यः कुतः ? इति मारवधूभिः सेर्ष्यम् अभिहितः बोधौ जिनः वः पातु ॥१॥

व्याख्या--ध्यानव्याजं ध्येयवस्तुविषयकं चिन्तनं तदेव व्याजः छलं तम्, उपेत्य--प्राप्य, कां सुन्दरीं, चिन्तयसि--ध्यायसि ? अनङ्गशरातुरं--कामदेवबाणपीडितम्, इमं--दृश्यमानं, जनं--मल्लक्षणं, पश्य--अवलोकय । त्रातापि--रक्षकोऽपि, नो--नहि, रक्षसि--त्रायसे। मिथ्याकारुणिकः--मिथ्यैव मृषैव कारुणिकः करुणाशीलः, असि--विद्यसे । त्वत्तः--भवतः, निर्घृणतरः--निष्ठुरतरः, पुमान्--पुरुषः, अन्यः--इतरः, कुतः--कस्मात् ? त्वादृशो निर्दयो मनुष्यो जगति कोऽपि न वर्तत इत्यर्थः। इति--इत्थं, मारवधूभिः--कन्दर्पकामिनीभिः अप्सराभिरिति यावत्, सेर्ष्यम्--ईर्ष्यया सहितम्, अभिहितः--उक्तः, बोधौ--समाधौ स्थितः, जिनः--बुद्धः, वः--युष्मान् (सामाजिकान्), पातु--रक्षतु ॥१॥

अनुवाद--ध्यान का बहाना करके किस (सुन्दरी) के बारे में

१--स कोऽन्यः । २--बुद्धो ।

चिन्तन कर रहे हो ? थोड़ी देर आँख खोलकर कामदेव के बाणों से आहत हमें तो देखो। रक्षक होकर भी (हमारी) रक्षा नहीं कर रहे हो। तुम मिथ्या ही दयालु हो। तुमसे बढ़कर निष्ठुर पुरुष दूसरा कहाँ से (मिलेगा) ? इस प्रकार कामदेव की स्त्रियों (अप्सराओं) द्वारा कहे गये समाधिस्थ बुद्ध आप लोगों की रक्षा करें ॥१॥

टिप्पणी--(१) नागानन्दम्—जीमूतवाहन द्वारा नागों को आनन्द प्राप्त होने की घटना के आधार पर इस नाटक का नाम 'नागानन्दम्' रखा गया है। इस नाम से गर्भित अर्थ का प्रकाशन होने के कारण यह नाम उचित ही है, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है--'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्'। नागानाम् आनन्दः नागानन्दः, तम् अधिकृत्य कृतं नाटकम् नागानन्दम् नागानन्द +अण् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इति सूत्रेण, अणः 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इत्यनेन लोपः। **(२) नान्दी**--नाटकों में किये जाने वाले मंगलाचरण को नान्दी कहते हैं। इसमें देव, द्विज, नृप आदि की स्तुति के साथ नाटकीय घटनाओं की ओर संकेत भी रहता है। प्रकृत नाटक की नान्दी में बुद्धदेव की स्तुति की गई है तथा दोनों श्लोकों में इस नाटक के नायक जीमूतवाहन की परोपकारशीलता तथा दृढचित्तता की ओर संकेत है।

नान्दीपाठ कौन करे, इस विषय में भरत मुनि ने कहा है—'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।' नान्दी-पूर्वरंग का एक अंग है। नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अभिनेता लोग जो पूजन आदि करते हैं, उसे पूर्वरंग कहा जाता है—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥' पूर्वरंग के २२ अंग हैं। आजकल उसका सम्यक् प्रयोग नहीं होता है। एक ही सूत्रधार मंगलाचरण के रूप में नान्दीपाठ करके कथावतार-भाषण करता है। नान्दीपाठ की आवश्यकता भरत मुनि ने भी बतायी है—'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥' नान्दी के विस्तार आदि के सम्बन्ध में यह कहा गया है--'अष्टाभिर्दशभिर्वापि नान्दी द्वादशभिः पदैः। आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।' अर्थात् नान्दी में आठ, दस या बारह पद होने चाहिए। इसमें आशीर्वाद, नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश होना चाहिए। नान्दी के श्लोक एक से चार

तक होते हैं। नान्दी के स्वरूप में जिन शब्दों का अभिनिवेश होना चाहिए, वे ये हैं--'मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।' प्रकृत नान्दी अष्टपदा है, आशीर्वादात्मक है और दो श्लोकों में है।

(३) **ध्यानव्याजम्**--ध्यान के बहाने को। ध्यानमेव व्याजः (मयूरव्यंस-कादित्वात् रूपकरूपसमासः) अथवा ध्यानस्य व्याजः (ष० त०), तम्। (४) **उपेत्य**--प्राप्त होकर। उप√इ+क्त्वा--ल्यप्। (५) **चिन्तयसि**--चिन्तन कर रहे हो, सोच रहे हो। (६) **क्षणम्**--क्षण भर के लिए। यह 'उन्मील्य' क्रिया का विशेषण है। (७) **उन्मील्य**--खोलकर, उद्√मील्+णिच्+क्त्वा--ल्यप्। (८) **अनङ्गशरातुरम्**--कामदेव के बाणों से व्याकुल। न सन्ति अङ्गानि यस्य स अनङ्गः (नञ्बहुव्रीहि), अनङ्गस्य शराः (ष० त०), तैः आतुरः (तृ० त०), तम्। (९) **मिथ्याकारुणिकः**--मिथ्या दयालु। करुणा अस्ति अस्य इति कारुणिकः करुणा+ठक्--इक, मिथ्या एव कारुणिकः इति मिथ्याकारुणिकः (सुप्सुपासमास)। 'स्याद् दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। (१०) **निर्घृणतरः**--अत्यन्त निष्ठुर। निः नास्ति घृणा (दया) यस्य स निर्घृणः (ब० व्री०)। अतिशयेन निर्घृणः इति निर्घृणतरः निर्घृण+तरप्। 'कारुण्यं करुणा घृणा। कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः। (११) **मारवधूभिः**--कामदेव की स्त्रियों (अप्सराओं) के द्वारा। मारयति प्राणिनः इति मारः√मृ+णिच्+अच्। 'मदनो मन्मथो मारः' इत्यमरः। मारस्य वध्वः (ष० त०), ताभिः। (१२) **सेर्ष्यम्**--ईर्ष्या के साथ। ईर्ष्यया सहितम् इति सेर्ष्यम् (तेन सहेति ब० स०)। यह क्रियाविशेषण है। (१३) **अभिहितः**--कहे गये। अभि√धा+क्त, धा को हि आदेश 'दधातेर्हिः' सूत्र से। (१४) **बोधौ**--जिन की प्रक्रियानुसार समाधि में स्थित या संलग्न 'विशुद्धबुद्धिसन्तानो बोधिरित्यभिधीयते'। √बुध्+इन्= बोधिः, तस्मिन्। कहते हैं कि जब गौतम बुद्ध तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के विचार से गया में बोधिवृक्ष के नीचे आसन जमाकर समाधि में बैठे तब इन्द्र ने उनकी समाधि भंग करने के लिए दल-बल सहित कामदेव को भेजा था, किन्तु उनके आगे उसकी कुछ भी न चली; साथ की सब अप्सराओं को अपना-सा मुँह लेकर वापस आना पड़ा और शाक्य मुनि की समाधि सफल हुई--उन्हें 'बोधि' प्राप्त हुई। उसी दिन से वे बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस घटना को बौद्ध ग्रन्थों में 'मारविजय' कहा गया है और इसे बड़ा महत्त्व दिया गया है। अश्व-

घोषप्रणीत बुद्धचरित (सर्ग १३) में यह घटना बड़े विस्तार से वर्णित है। वहाँ का एक श्लोक है--

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥ (१३,२)

(१५) जिनः--बुद्ध। 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः। समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥' इत्यमरः। जिनातीति जिनः। जि+नक्। प्रस्तुत नान्दीश्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसका लक्षण है--'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥१॥

अपि च,

कामेनाकृष्य चापं हतपटुपटहावल्गिभिर्मारवीरै-
र्भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा[1] दिव्यनारीजनेन।
सिद्धैः प्रह्वोत्तमाङ्गैः पुलकितवपुषा विस्मयाद् वासवेन
ध्यायन् बोधेरवाप्तावचलित[2] इति वः पातु दृष्टो मुनीन्द्रः ॥२॥

अन्वय--चापम् आकृष्य (स्थितेन) कामेन हतपटुपटहावल्गिभिः मारवीरैः भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा दिव्यनारीजनेन प्रह्वोत्तमाङ्गैः सिद्धैः विस्मयात् पुलकितवपुषा वासवेन दृष्टः ध्यायन् बोधेः अवाप्तौ अचलितः इति मुनीन्द्रः वः पातु ॥२॥

व्याख्या--चापम् आकृष्य-- शरसन्धानं कृत्वा, (स्थितेन) कामेन--कन्दर्पेण, हतपटुपटहावल्गिभिः--हताः उच्चैः वादिताः पटवः पटुध्वनयः पटहाः वाद्यविशेषाः यैः तथाभूताः च आवलगन्ति समन्तात् उद्धतं सञ्चरन्ति ये तादृशैः, मारवीरैः--कामदेवसैनिकैः, भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा--भ्रूभङ्गः भ्रूविलासः उत्कम्पः (शाक्यमुनेः भयेन) कम्पनम् जृम्भा मुखविजृम्भणम् स्मितम् ईषद्धसनम् तैः (कामजविकारैः) चलिते चपले दृशौ नेत्रे यस्य तादृशेन, दिव्यनारीजनेन--चेतोहराभिः अप्सरोभिः, प्रह्वोत्तमाङ्गैः--प्रह्वं नम्रीभूतम् उत्तमाङ्गं शिरो येषां तथाभूतैः, सिद्धैः--देवयोनिविशेषैः, विस्मयात्--आश्चर्यात् (हेतोः), पुलकितवपुषा--रोमाञ्चितशरीरेण, वासवेन--इन्द्रेण, दृष्टः--

---

१--व्ललितवता। २--बोधैरवाप्तो न।

विलोकितः, ध्यायन्--समाधिलग्नः, बोधेः--तत्त्वज्ञानस्य, अवाप्तौ--प्राप्तौ, अचलितः--अस्खलितचित्तः, इति--इत्थं, मुनीन्द्रः--मुनिवरः (बुद्धः), वः--युष्मान्, पातु--रक्षतु ॥२॥

अनुवाद--और भी, धनुष तानकर (बैठे हुए) कामदेव, तीव्र शब्द वाले नगाड़ों को जोर से पीटने तथा उछल-कूद मचाने वाले कन्दर्प के वीर (सैनिक) गण, भ्रूविलास, कम्प, जंभाई, मुसकराहट से चंचल नेत्रों वाली अप्सराओं, (आदरभाव से) सिर झुकाये सिद्धों और आश्चर्यवश रोमांचित शरीर वाले इन्द्र के द्वारा देखे गये, ध्यान करते हुए और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में विचलित न हुए मुनिराज (बुद्ध) आप लोगों की रक्षा करें ॥२॥

टिप्पणी--(१) **चापम्**--धनुष को । 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः (२) **आकृष्य**--खींचकर, तानकर । यहाँ 'स्थितेन' पद का अध्याहार करके 'कामेन' का विशेषण मानकर अर्थ करना चाहिए । भाव यह है कि धनुष तानकर बाण छोड़ने का इच्छुक काम अपनी विफलता के कारण आश्चर्यचकित है । (३) **हतपटुपटहावलिभिः**--ऊँचे शब्द वाले नगाड़ों को पीटने तथा चारों तरफ उछल-कूद मचाने वाले । (४) **मारवीरैः**--कामदेव के वीरों (सैनिकों) से । भाव यह है कि काम के सैनिक यह सोचकर कि हमारे स्वामी धनुष पर बाण चढाकर शाक्यमुनि को पीडित कर देंगे, उछलकूद मचा रहे थे । किन्तु जब काम की विफलता देखी तब वे भी विस्मित हो गये । (५) **भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा**--भौंहों के विलास, कम्पन, जंभाई तथा मुसकराहट से चंचल आँखों वाली । यहाँ 'ललितवता' पाठभेद का अर्थ होगा--'सुन्दर पद-विन्यास आदि शृंगारचेष्टाओं से युक्त' । 'सुकुमारोऽङ्गविन्यासो मसृणो ललितं विदुः' इति धनञ्जयः । (६) **दिव्यनारीजनेन**--स्वर्गीय स्त्रियों (अप्सराओं) द्वारा । दिवि भवः दिव्यः दिव्+यत् । दिव्यश्चासौ नारीजनः (कर्म० स०), तेन । (७) **प्रह्वोत्तमाङ्गैः**--सिर झुकाये हुए । प्रह्वम् उत्तमाङ्गं येषां तैः (ब० स०) । (८) **सिद्धैः**--दिव्य प्राणी विशेषों से । (९) **विस्मयात्**--आश्चर्य के कारण । अत्र हेत्वर्थे पंचमी । (१०) **पुलकितवपुषा**--रोमांचित शरीर वाले । पुलकाः संजाताः अस्मिन् इति पुलकितम् पुलक+इतच् 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' इति सूत्रेण । 'पुलकः कृमिभेदे प्रस्तरभेदे च

मणिदोषे। रोमाञ्चे हरिताले' इति मेदिनी। (११) वासवेन--इन्द्र के द्वारा। 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः। (१२) अवाप्तौ--प्राप्ति के निमित्त। अत्र निमित्तार्थे सप्तमी 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत्। (१३) अचलितः--न डगमगाये हुए, अस्खलितचित्त। कहा भी है--'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'। (१४) मुनीन्द्रः--मुनियों में श्रेष्ठ, शाक्य-मुनि। मुनिषु इन्द्रः अथवा मुनिः इन्द्र इव इति मुनीन्द्रः।

इस श्लोक में बुद्ध की एकाग्रचित्तता को देखकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की विभिन्न मनोवृत्तियों का परिचय दिया गया है। काम शरसन्धान कर रहा है, वीर गण गर्व से फांद रहे हैं, अप्सरायें हाव-भाव से देख रही हैं, सिद्धगण प्रणाम कर रहे हैं और इन्द्र विस्मय से रोमाञ्चित हो रहे हैं। किन्तु ये सब बुद्धदेव की समाधि भंग नहीं कर सके। इसमें स्रग्धरा छन्द है, जिसका लक्षण है--'म्नभ्रौर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।।२।।

नान्द्यन्ते--

सूत्रधारः--अलमतिविस्तरेण। अद्याहमिन्द्रोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः--'यत्तदस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृतं विद्याधरजातकप्रतिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतमित्यस्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुतं, न च प्रयोगतो दृष्टम्। तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानात् अस्मासु चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण अद्य त्वया नाटयितव्यम्' इति। तत् यावत् इदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] आवर्जितानि च सकलसामाजिकमनांसि इति मे निश्चयः। यतः,--

व्याख्या--नान्द्यन्ते--नान्द्याः रङ्गविघ्नोपशान्तये कृतायाः मङ्गलाचरणरूपायाः अन्ते अवसाने। सूत्रधारः--रङ्गशालाव्यवस्थापकः प्रविश्याहेत्यग्रिमेणान्वयः। अतिविस्तरेण--बहुना विस्तारेण, अलं--किमपि साध्यं नास्तीत्यर्थः। अद्याहम्, इन्द्रोत्सवे--इन्द्रस्य देवराजस्य उत्सवविशेषे, सबहुमानं--प्रभूतादरसहितम्, आहूय--आकार्य, नानादिग्देशागतेन--नाना दिशः ककुभः येषां ते च ते देशाश्च तेभ्यः आगतेन विभिन्नजनपदसमायातेन, राज्ञः--भूपस्य, श्रीहर्ष-

देवस्य, पादपद्मोपजीविना—चरणकमलाश्रितेन, राजसमूहेन—नृपसमुदायेन, उक्तः—कथितः, अस्मत्स्वामिना—अस्मत्पालकेन, श्रीहर्षदेवेन, अपूर्ववस्तुरचनालङ्कृतम्—अपूर्वेण विलक्षणेन वस्तुना प्रतिपाद्यकथया अलङ्कृतम् भूषितम्, विद्याधरजातकप्रतिबद्धं—विद्याधरजातकेन जीमूतवाहनस्य कथाप्रतिपादकेन प्रबन्धविशेषेण प्रतिबद्धं सम्बद्धं, नागानन्दं नाम, नाटकं, कृतं—रचितम्, इति, अस्माभिः, श्रोत्रपरम्परया—कर्णाकर्णिकया, श्रुतम्—आकर्णितम्, न च, प्रयोगतः—अभिनयद्वारा, दृष्टं—विलोकितम् । तत्—तस्मात् कारणात्, तस्यैव, राज्ञः—नृपस्य श्रीहर्षदेवस्य, सकलजनहृदयाह्लादिनः—निखिलप्रजामनोरञ्जकस्य, बहुमानात्—अत्यादरात्, अस्मासु, अनुग्रहबुद्ध्या—कृपया, यथावत्प्रयोगेण—समुचिताभिनयेन, अद्य—अस्मिन् दिने, त्वया—भवता, नाटयितव्यम्—अभिनेतव्यम् । तत्—तस्मात्, इदानीं—सम्प्रति, नेपथ्यरचनां—वेषविन्यासं, कृत्वा—विधाय, यथाभिलषितं यथेप्सितं, सम्पादयामि—अनुतिष्ठामि । सकलसामाजिकानां—समस्तसभ्यानां, मनांसि—चेतांसि, आवर्जितानि—आकृष्टानि, इति, मे—मम, निश्चयः—निर्णयः ।

अनुवाद—नान्दी के अन्त में—

सूत्रधार—अधिक विस्तार रहने दो। आज इन्द्रध्वज के उत्सव के अवसर पर अनेक दिशाओं के देशों से आये हुए, महाराज श्रीहर्षदेव के चरणकमल के आश्रित नृप-समूह ने बहुत आदर के साथ बुलाकर मुझसे कहा कि—हमारे स्वामी श्रीहर्षदेव ने अपूर्व कथावस्तु की रचना से विभूषित, विद्याधरजातक से सम्बद्ध नागानन्द नामक नाटक बनाया है । उसे हम लोगों ने कानो कान सुना तो है, किन्तु अभिनय द्वारा देखा नहीं है । इसलिए सभी लोगों के हृदय को आह्लादित करने वाले उसी राजा के प्रति बहुत सम्मान से तथा हम लोगों के प्रति अनुग्रह-बुद्धि से आपको उसका अभिनय करना चाहिए । अतः अब वेशविन्यास करके (उनका) अभीष्ट सम्पादन करता हूँ । [घूमकर और देखकर] अहा ! सभी दर्शकों के मन आकृष्ट हो गये हैं, ऐसा मेरा निश्चय है। क्योंकि—

टिप्पणी—(१) **सूत्रधार**—रंगशाला का व्यवस्थापक । इसका लक्षण—
नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥'

अथवा 'वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ।।' (संगीतसर्वस्व) अथवा 'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सबीजकम् । रङ्गदैवतपूजाकृत् सूत्रधार इति स्मृतः ।।' सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः सूत्र √धृ+णिच्+अण् कर्तरि 'कर्मण्यण्' इति सूत्रेण, ततः उपपदसमासः । (२) **अलमतिविस्तरेण**––अत्यधिक विस्तार से बस कीजिए अर्थात् अधिक विस्तृत (नान्दीपाठ) करने की आवश्यकता नहीं है । वि√स्तृ+अप् भावे । यहाँ 'प्रथने वावशब्दे' सूत्र से घञ् प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि शब्द अर्थ में उससे घञ् नहीं होता है और यहाँ नान्दीपाठ में शब्द ही गृहीत है । इसीलिए उक्त सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—'वाक्यस्य विस्तरः', 'पटस्य विस्तार' इत्यादि । विस्तरम् अतिक्रान्तः अतिविस्तरः (द्वितीयातत्पुरुष समास), तेन । करणे तृतीया । यहाँ 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इस नियम के बल से करणत्व हुआ । 'विस्तारो विस्तरो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । (३) **अद्याहं**……**सम्पादयामि**––इन वाक्यों में कवि के नाम आदि का परिचय दिया गया है । यह भारतीवृत्ति है । इसका लक्षण है––'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः' । (४) **इन्द्रोत्सवे**–– प्रत्येक वर्ष वर्षा आदि की प्राप्ति के लिए बाँस और वस्त्र का बना हुआ इन्द्रध्वज उठाकर किये जाने वाले उत्सव को इन्द्रोत्सव कहते हैं । इन्द्रध्वज उठाने की विधि महाराजभोजदेव-रचित 'समराङ्गणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए । रघुवंश में कालिदास ने भी इन्द्रध्वज का वर्णन किया है–– 'पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः' । (५) **विद्याधरजातकप्रतिबद्धम्**–– जीमूतवाहन की कथा के प्रतिपादक प्रबन्धविशेष से सम्बद्ध । जातक बौद्ध धर्म का एक विशेष ग्रन्थ है, जिसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों के आदर्श कार्यकलाप का वर्णन है । (६) **यथावत्प्रयोगेण**––समुचित अभिनय के द्वारा । (७) **नेपथ्यरचनाम्**––वेषविन्यास । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः । भरत ने कहा है––'रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते' । √नी+क्विप्=नीः नेता, तस्य पथ्यम् नेपथ्यम्, तस्य रचना नेपथ्यरचना (ष० त०), ताम् । (८) **अये**––यह संभ्रमसूचक अव्यय है । 'अये क्रोधविषादयोः संभ्रमे' इति हैमः । (९) **आवर्जितानि**—आकृष्ट, प्रसन्न । आ√वृज्+क्त कर्मणि । (१०) **सकलसामाजिकमनांसि**––समस्त सदस्यों या दर्शकों के मन ।

समाजम् अर्हन्ति इति सामाजिकाः समाज+ठक्--इक । 'सभासदः सभास्तारा सभ्याः सामाजिकाश्च ते' इत्यमरः ।

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च [1]बोधिसत्त्वचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥३॥

अन्वय--श्रीहर्षः निपुणः कविः, एषा परिषत् अपि गुणग्राहिणी, लोके बोधिसत्त्वचरितं च हारि, वयं च नाट्ये दक्षाः, इह एकैकमपि वस्तु वाञ्छितफलप्राप्तेः पदम्, किं पुनः मद्भाग्योपचयात् अयं गुणानां गणः समुदितः ॥३॥

व्याख्या--श्रीहर्षः--एतदाख्यो राजा, निपुणः--प्रवीणः, कविः--कवयिता, एषा--इयं, परिषत् अपि--सभापि, गुणग्राहिणी--गुणग्रहणशीला, लोके--संसारे, बोधिसत्त्वचरितं--जीमूतवाहनचरित्रं, च, हारि--मनोहरम्, वयं च--अभिनेतारश्च, नाट्ये--अभिनये, दक्षाः--कुशलाः, इह--अत्र प्रस्तुतेऽभिनये, एकैकम् अपि वस्तु--प्रत्येकमपि वस्तु, वाञ्छितफलप्राप्तेः--वाञ्छितस्य अभीष्टस्य फलस्य सामाजिकावर्जनरूपस्य प्राप्तेः लाभस्य, पदं--स्थानम्, किं पुनः--किमु वक्तव्यम्, यत्र) मद्भाग्योपचयात्--मम भाग्यस्य उपचयात् वृद्धेः, अयम्--उक्तरूपः, गुणानाम्--अनुकूलवस्तूनां, सर्वः--सकलः, गणः--समष्टिः, समुदितः--सम्भूयोपस्थितः ॥३॥

अनुवाद--श्रीहर्ष निपुण कवि हैं, यह सभा भी गुणग्राहिणी है, संसार में बोधिसत्त्व (तत्वज्ञानी, जीमूतवाहन) का चरित्र मनोहर है और हम लोग भी अभिनय करने में दक्ष हैं । इनमें एक-एक वस्तु भी अभीष्ट फल प्राप्त करने का स्थान है; फिर तो कहना ही क्या जब मेरे भाग्य की वृद्धि से यह गुणों का समूह ही उपस्थित है ॥३॥

टिप्पणी--(१) श्रीहर्षः--प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कवि जो इतिहास-प्रसिद्ध उत्तरीय भारत के सम्राट् थे। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर)

१--सिद्धराज ।

थी। इन्होंने ६०६ ई० से लेकर ६४८ ई० तक राज्य किया। (२) **परिषत्**--सभा, गोष्ठी। परितः सीदन्ति जनाः अस्याम् इति परिषत् परि√सद्+क्विप्। 'समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। (३) **गुणग्राहिणी**--गुणों का ग्रहण करने वाली। गुणान् ग्रहीतुं शीलमस्याः इति गुणग्राहिणी गुण√ग्रह्+णिनि+ङीप् (ई)। (४) **बोधिसत्त्वचरितम्**--जीमूतवाहन का चरित्र। वैसे 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है ज्ञाननिष्ठ अथवा ज्ञानसम्पन्न। बौद्ध ग्रन्थों में यह शब्द उन ज्ञाननिष्ठ करुणाशील महात्माओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो अगले जन्म में बुद्धत्व को प्राप्त करने वाले होते हैं। बोधिः तत्त्वज्ञानं सत्त्वं स्वभावो यस्य सः (ब० स०), तस्य चरितम् (ष० त०)। (५) **हारि**--आह्लादकारक, हर्तुं शीलमस्य इति हारि√हृ+णिनि कर्तरि। (६) **नाट्ये**--अभिनयकला में। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' इत्यमरः। (७) **एकैकमपि**--एक-एक भी। 'एकम्-एकम्' का यह द्वित्व रूप वीप्सा को सूचित करता है। 'एकं बहुव्रीहिवत्' सूत्र से इसे बहुव्रीहिसमास के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार 'सुप्' का लोप हो जाने पर 'एकैकम्' की सिद्धि होती है। (८) **पदम्**--स्थान। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। (९) **समुदितः**--एक साथ उपस्थित। सम्-उद्√इ+क्त।

इस श्लोक में प्रस्तुतार्थ कवि आदि की प्रशंसा को नाट्य की ओर उन्मुख करने के लिए की गई है, अतः प्ररोचना है, जिसका लक्षण है--'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना' (दशरूपक)। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण श्लोक १ में देखिए ॥३॥

तद् यावद् अहं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। [परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] इदमस्मद्गृहं, यावत् प्रविशामि। [प्रविश्य] आर्ये ! इतस्तावत्।

द्विजपरिजनबन्धुहिते मद्भवनतटाकहंसि मृदुशीले।
परपुरुषचन्द्रकमलिन्यार्ये कार्यादितस्तावत् ॥४॥

अन्वय--द्विजपरिजनबन्धुहिते ! मद्भवनतटाकहंसिनि ! मृदुशीले ! परपुरुषचन्द्रकमलिनि ! आर्ये ! कार्यात् इतस्तावत् ॥४॥

व्याख्या--गृहिणीं--प्रियाम्, आहूय--आकार्य, संगीतकं--नृत्तगीतवाद्यानि, अनुतिष्ठामि--आयोजयामि । नेपथ्याभिमुखं--जवनिकादिशि, अवलोक्य--दृष्ट्वा । आर्ये--प्रिये ।

द्विजपरिजनबन्धुहिते--द्विजेभ्यः दानादिना ब्राह्मणेभ्यः परिजनेभ्यः भृत्यादिना सेवकेभ्यः बन्धुभ्यश्च मित्रेभ्यश्च अनुकूलव्यवहारेण हिते हितकारिणि !, मद्भवनतटाकहंसि--मद्भवनमेव मदीयं गृहमेव तटाकः ह्रदः तस्य हंसीरूपे !, मृदुशीले--मधुरव्यवहारशालिनि !, परपुरुषचन्द्रकमलिनि--परपुरुषः एव अन्यो जन एव चन्द्रः चन्द्रमा तस्मै कमलिनि पद्मिनि !, आर्ये--सदाशयसम्पन्ने !, कार्यात्--अवश्यकरणीयेन केनचित् प्रयोजनेन, इतः तावत् आगच्छेति शेषः ।।४।।

अनुवाद--तो अब मैं घर चलकर गृहिणी को बुलाकर संगीत का आयोजन करता हूँ । [घूमकर और नेपथ्य की ओर देखकर] यह हमारा घर है । तो प्रवेश करता हूँ । [प्रवेश करके] प्रिये ! इधर तो आओ ।

ब्राह्मण, नौकर-चाकर और बन्धु-बान्धवों की भलाई करने वाली ! मेरे घर रूपी तालाब को हंसिनी ! कोमल स्वभाव वाली ! परपुरुष रूपी चन्द्रमा की कमलिनी ! ऐ आर्ये ! कार्यवश इधर तो आओ ।।४।।

टिप्पणी--(१) **संगीतकम्**--नाचना, गाना, बजाना--इन तीनों के समूह को संगीत कहते हैं । 'नृत्तं गीतं तथा वाद्यं त्रयं संगीतमुच्यते'। (२) **नेपथ्याभिमुखम्**--रंगभूमि की ओर। 'नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्' इत्यजयः । वैसे नेपथ्य का लक्षण यह है--'कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते' अर्थात् जहाँ अभिनेता लोग अपने को सजाते और अभिनयोचित वेष धारण करते हैं, उसे नेपथ्य कहते हैं । (३) **आर्ये**--हे प्रिये । 'पत्नी चार्येति संभाष्या' इति भरतः । अर्थात् नाट्योक्ति में सूत्रधार अपनी पत्नी को 'आर्या' कहकर सम्बोधित करे । (४) **द्विजपरिजनबन्धुहिते**--ब्राह्मण, अनुचर तथा मित्र जनों का हित करने वाली । द्विजाश्च परिजनाश्च बन्धवश्च (द्व० स०), तेभ्यः हिता (च० त०), तत्सम्बोधने । (५) **मद्भवनतटाकहंसि**--हे मेरे घर रूपी तालाब की हंसिनी । मम भवनम् (ष० त०), मद्भवनम् एव तटाकः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपसमासः), तस्य हंसी (ष० त०), तत्सम्बोधने । (६) **परपुरुषचन्द्रकमलिनि**--हे पर पुरुष रूपी चन्द्रमा के लिए कमलिनी । अर्थात् जैसे चन्द्रोदय

होने पर कमलिनी सिकुड़ जाती है, खिलती नहीं उसी प्रकार तुम भी पर पुरुष के सामने पतिव्रताधर्म के कारण संकोच ही करती हो खिलती नहीं हो। इस श्लोक में आर्या छन्द है । उसका लक्षण है--'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ।।'४।।

नटी--[प्रविश्य सास्रम्] अज्ज ! इअम्हि मन्दभग्गा । आणवेदु अज्जउत्तो को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति । (आर्य ! इयमस्मि मन्दभाग्या । आज्ञापयतु आर्यपुत्रः को नियोगोऽनुष्ठीयताम् इति ।)

सूत्रधारः--[नटीमवलोक्य] आर्ये ! नागानन्दे नाटयितव्ये किमिदमकारणमेव रुद्यते ।

नटी--अज्ज ! कधं ण रोइस्सं ? यदो दाव तादो अज्जाए सह थविरभावं जाणिअ अदूरजादणिव्वेदो कुडुम्बभारुव्वहणजोग्गो दाणीं तुमं त्ति हिअए वितक्किअ तवोवणं गदो । (आर्य ! कथं न रोदिष्यामि ? यतस्तावत् तात आर्यया सह स्थविरभावं ज्ञात्वा अदूरजातनिर्वेदः कुटुम्बभारोद्वहनयोग्य इदानीं त्वमिति हृदये वितर्क्य तपोवनं गतः ।)

सूत्रधारः--[सनिर्वेदम्] अये ! कथं मां परित्यज्य तपोवनं यातौ पितरौ, तत् किमिदानीं युज्यते ? [विचिन्त्य] अथवा कथमहं गुरुचरणपरिचर्यासुखं परित्यज्य गृहे तिष्ठामि ? कुतः--

व्याख्या--सास्रम्=अश्रुसहितं यथा स्यात् तथा। मन्दभाग्या--अल्पभाग्ययुक्ता । आज्ञापयतु--आदिशतु, नियोगः--आदेशः, अनुष्ठीयतां--सम्पाद्यताम् । नाटयितव्ये--अभिनेये, रुद्यते--रोदनं करोषि। तातः--श्वशुरः, आर्यया--श्वश्र्वा, सह--साकं, स्थविरभावं--वृद्धत्वम्, अदूरजातनिर्वेदः--अदूरं सम्प्रति यथा स्यात् तथा जातः उत्पन्नः निर्वेदः विषयवैराग्यं यस्य तादृशः सन्, कुटुम्बभारोद्वहनयोग्यः--कुटुम्बस्य परिवारस्य भारोद्वहने सम्यक्परिपालने योग्यः समर्थः, वितर्क्य--विचिन्त्य । पितरौ--माता च पिता च, युज्यते--कर्तुं योग्यम् । गुरुचरणपरिचर्यासुखं--गुर्वोः मातापित्रोः चरणपरिचर्यायां चरणसेवायां यत् सुखम् आनन्दः तत्, परित्यज्य--विहाय ।

अनुवाद--नटी--[आँसू के साथ प्रवेश करके] आर्य ! मन्दभागिनी मैं आ गई हूँ, आर्यपुत्र आज्ञा करें कि किस आदेश का पालन करूँ ।

सूत्रधार--[नटी को देखकर] आर्ये ! नागानन्द नाटक खेलना है, तुम बिना कारण क्यों रो रही हो ?

नटी--आर्य ! क्यों न रोऊँ, क्योंकि पिता जी सास जी के साथ, वृद्धावस्था को जानकर शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण, अब तुम कुटुम्ब के भार को ढोने में समर्थ हो--ऐसा हृदय में विचारकर तपोवन चले गये हैं ।

सूत्रधार--[वैराग्य के साथ] एँ, क्या माता-पिता मुझे छोड़कर तपोवन चले गये ? तो अब क्या करना चाहिए ? [सोचकर] अथवा गुरुजनों के चरणों की सेवा का सुख छोड़कर मैं घर में कैसे रह सकता हूँ ? क्योंकि--

टिप्पणी--(१) आर्यपुत्रः--स्वामी । नाट्योक्ति में पत्नी पति को आर्यपुत्र कहकर सम्बोधित करती है--'सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने' इति भरतः। यह 'अज्जउत्त' का संस्कृत शब्द है। 'अज्जउत्त' प्राकृत--शौरशेनी बोली का शब्द है । नाटक में निम्न श्रेणी के पात्र से इसका प्रयोग कराया जाता है । जैस कि भरत ने कहा है--'प्राक्प्रतीचीभुवोः सिन्ध्वोर्हिमवद्विन्ध्यशैलयोः। अन्तरावस्थितं देशमार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।। आर्यावर्तप्रसूतासु सर्वास्वेव हि जातिषु। शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्ये प्रयोजयेत् ।।' (२) नियोगः--आज्ञा । नि√ युज्+घञ् । (३) अनुष्ठीयातम्--सम्पन्न करूँ। अनु√स्था+लोट् कर्मणि । (४) नाटयितव्ये--खेले जाने योग्य होने पर। √नट्+णिच्+तव्यत् । (५) रुद्यते--रोया जा रहा है। √रुद्+लट् (भावे) । (६) तातः--पिताजी, श्वशुरजी । (७) आर्यया--माताजी, सासजी (के साथ) । (८) स्थविरभावम् --वृद्धत्व को । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः। √स्था +किरच्, स्थवादेश । स्थविरस्य भावः (ष० त०), तम् । (९) अदूरजातनिर्वेदः --निकट समय में या हाल ही में जिन्हें वैराग्य हुआ है। अदूरं (क्रियावि०) जातः निर्वेदः यस्य सः (ब० स०) । (१०) कुटुम्बभारोद्वहनयोग्यः--कुटुम्ब का भार उठाने योग्य । (११) वितर्क्य--सोचकर । कहने का तात्पर्य है कि 'पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकस्तया वानुमतो व्रजेत्' इस स्मृति-वचन के अनुसार तात ने तुम

पर कुटुम्ब का भार सौंपकर सासजी को साथ लेकर तपोवन चले गये। (१२) पितरौ--माता और पिता। माता च पिता च इति पितरौ (एकशेषद्वन्द्वसमास)।

पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम्।
वनं याम्यहमद्यैव यथा जीमूतवाहनः ॥५॥

अन्वय--क्रमागतम् ऐश्वर्यं त्यक्त्वा पित्रोः शुश्रूषां विधातुम् अहम् अद्यैव वनं यामि यथा जीमूतवाहनः ॥५॥

व्याख्या--क्रमागतं--परम्परया प्राप्तम्, ऐश्वर्यं--विभवं, त्यक्त्वा--विहाय, पित्रोः--मातुः पितुश्च, शुश्रूषां--परिचर्यां, विधातुं--कर्तुम्, अहम्, अद्यैव--अस्मिन्नेव दिने, वनं--काननं, यामि--गच्छामि, यथा--येन प्रकारेण, जीमूतवाहनः (पित्रोः सेवार्थं गतोऽभूत् ॥५॥

अनुवाद--कुल-परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य को त्यागकर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं आज ही वन जा रहा हूँ, जिस प्रकार जीमूतवाहन (माता-पिता की सेवा के निमित्त वन चले गये थे) ॥५॥

टिप्पणी--(१) **क्रमागतम्**--क्रम से अर्थात् कुल-परम्परा से प्राप्त। क्रमात् आगतम् (पं० त०)। (२) **ऐश्वर्यम्**--सम्पत्ति को। ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम् ईश्वर+ष्यञ् भावार्थे।

इस श्लोक में उपमा अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। इस छन्द का लक्षण है--'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम् ॥५॥

[निष्क्रान्तौ]

इति आमुखम्।

[ततः प्रविशति नायको विदूषकश्च]

नायकः--[सनिर्वेदम्] वयस्य आत्रेय !

रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः
कृत्याकृत्यविचारणासु विमुखं को वा न वेत्ति क्षितौ।

एवं निन्द्यमपीदमिन्द्रियवशं[1] प्रीत्यै भवेद् यौवनं
भक्त्या याति यदीत्थमेव पितरौ शुश्रूषमाणस्य मे ।।६।।

अन्वय—इदं यौवनं रागस्य आस्पदम् इति अहं अवैमि । न ध्वंसि इति मे प्रत्ययः न । कृत्याकृत्यविचारणासु विमुखं क्षितो कः वा न वेत्ति ? एवम् इन्द्रियवशं निन्द्यम् अपि प्रीत्यै भवेत् यदि भक्त्या पितरौ शुश्रूषमाणस्य मे इत्थम् एव याति ।।६।।

व्याख्या—इदम्—अनुभूयमानं, यौवनं—तारुण्यं, रागस्य—विषयवासनायाः, आस्पदं—स्थानम्, इति, अहम्, अवैमि—जानामि । न ध्वंसि—न नश्वरम्, इति —एवंरूपः, मे—मम, प्रत्ययः—विश्वासः, न । कृत्याकृत्यविचारणासु—कृत्यस्य कर्तव्येन विहितस्य अकृत्यस्य अकार्यत्वेन निषिद्धस्य कर्मणः विचारणासु विवेचनायां, विमुखं—प्रतिकूलं, क्षितौ—पृथिव्यां, कः वा, न वेत्ति—न जानाति ? एवम्—इत्थम्, इन्द्रियवशम्—इन्द्रियाधीनं, निन्द्यम् अपि—अवद्यम् अपि, प्रीत्यै—आनन्दाय, भवेत्—स्यात्, यदि—चेत्, भक्त्या—अनुरागेण, पितरौ शुश्रूषमाणस्य—पित्रोः सेवां विदधतः, मे—मम, इत्थमेव—अमुना प्रकारेणैव, (यौवनं) याति—व्यत्येति ।।६।।

अनुवाद—[यह कहकर दोनों चले जाते हैं]

प्रस्तावना समाप्त ।

[तत्पश्चात् नायक और विदूषक प्रवेश करते हैं]

नायक—[वैराग्य के साथ] मित्र आत्रेय !

यह यौवन अनुराग (विषय-वासना) का स्थान है, यह मैं जानता हूँ। (यह) क्षणभंगुर नहीं है—ऐसा मेरा विश्वास नहीं है । कर्तव्य और अकर्तव्य के विचार में विमुख रहने वाले (इस) को पृथ्वी पर कौन नहीं जानता है ? इस प्रकार इन्द्रियों के अधीन रहने वाला निन्दनीय भी (यौवन मेरे) आनन्द के लिए हो सकता है, यदि भक्तिपूर्वक माता-पिता की सेवा करते हुए मेरा (यह) इसी प्रकार बीते ।।६।।

१—भीप्सितफलं ।

टिप्पणी--(१) **आमुखम्**--प्रस्तावना। इसका लक्षण है--'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा'॥ इस प्रस्तावना या आमुख के पाँच भेद होते हैं--उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलग्न। यहाँ 'यथा' इस वचनोपक्षेप से पात्र का साक्षात् प्रवेश होने के कारण धनञ्जय के अनुसार प्रयोगातिशय नामक आमुख है। इसका लक्षण है--'एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः। पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः॥' (२) **सनिर्वेदम्**--ग्लानि या विरक्ति के साथ। निर्√विद्+घञ्=निर्वेदः, तेन सहितं यथा स्यात् तथा (तेन सहेति ब० स०)। (३) **वयस्य**--मित्र। वयसा तुल्यो वयस्यः वयस्+यत्। तत्सम्बोधने। (४) **आस्पदम्**--स्थान। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति सूत्रेण निपातनात् सिद्धिः। (५) **अवैमि**--जानता हूँ। अव√इ+लट्--मि (उ० पु० ए०)। (६) **ध्वंसि**--नष्ट होने वाला, नश्वर, क्षणभङ्गुर। √ध्वंस्+णिनि। यह 'यौवनम्' का विशेषण है। यौवन की नश्वरता भारवि ने भी प्रतिपादित की है--'शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः'। (७) **प्रत्ययः**--विश्वास। प्रति√इ+अच्। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। यहाँ दो 'न' का प्रयोग दृढतासूचनार्थ है। जैसाकि वामन ने कहा है--'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने हि द्वौ प्रतिषेधौ'। (८) **कृत्याकृत्यविचारणासु**--कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेचनों में। कृत्यं च अकृत्यं च इति कृत्याकृत्ये (द्वन्द्वस०), तयोः विचारणाः (ष० त०), तासु। (९) **विमुखम्**--विपरीत। भाव यह है कि युवकों की बुद्धि कर्तव्याकर्तव्य के विचार के प्रतिकूल होती है। (१०) **निन्द्यम् अपि**--निन्दनीय भी। (११) **शुश्रूषमाणस्य**--सेवा करतेहुए। √श्रु+सन्, द्वित्वादि+लट्--शानच्। भाव यह है कि यौवन पूर्वोक्त प्रकार से निन्दनीय होने पर भी यदि माता-पिता की सेवा में उपयुक्त हो या बीते तो श्लाघनीय है।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६॥

विदूषकः--[सरोषम्] **भो वअस्स ! णं णिव्विण्णो एव तुमं एत्तिअं कालं एदाणं जीवन्तमुआणं कदे इमं ईदिसं वणवासदुक्खं अणुहवन्तो। ता पसीद दाणिं पि दाव। गुरुचरणसुस्सूसाणिब्बंधादो णिअत्तिअ इच्छापरिभोगरमणिज्जं रज्जसुहं अणुहवीअदु। (भो**

वयस्य ! ननु निर्विण्ण एव त्वमेतावन्तं कालमेतयोर्जीवन्मृतयोः कृते इदमीदृशं वनवासदुःखमनुभवन् । तत् प्रसीद इदानीमपि तावत् । गुरुचरणशुश्रूषानिर्बन्धात् निवृत्य इच्छापरिभोगरमणीयं राज्यसुख-मनुभूयताम् ।)

नायकः—वयस्य ! न सम्यगभिहितं त्वया । कुतः ?

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा ?
यत् संवाहयतः सुखं तु चरणौ तातस्य किं राजके[१] ? ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः ?
आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति[२] कश्चिद्गुणः ? ॥७॥

अन्वय—पितुः पुरः भुवि तिष्ठन् यथा भाति तथा सिंहासने किम् ? तातस्य चरणौ संवाहयतः यत् सुखं (तत्) राजके किम् ? गुरोः भुक्तोज्झिते या धृतिः असौ भुवनत्रये भुक्ते किम् ? उज्झितगुरोः राज्यं खलु आयासः, तत्र कश्चित् गुणः अस्ति (किम्) ? ॥७॥

व्याख्या—सरोषं—सक्रोधम् । वयस्य—मित्र । निर्विण्णः—विरक्तः, ग्लानिं प्राप्तः, जीवन्मृतयोः—जीवतोरपि मृतयोः, कृते—प्रयोजनाय, ईदृशम्—एतावन्तं कालमभिव्याप्येत्यर्थः । गुरुचरणशुश्रूषानिर्बन्धात्—गुरुजनस्य शुश्रूषायां सेवायां यो निर्बन्धः अभिनिवेशः तस्मात्, निवृत्य—विरम्य, इच्छापरिभोगरम-णीयम्—इच्छापरिभोगेण यथेष्टवस्तुलाभेन रमणीयं सुभगम् ।

पितुः—जनकस्य, पुरः—अग्रे, भुवि—भूमौ, तिष्ठन् (पुत्रः), यथा, भाति—शोभते, तथा, सिंहासने—विभूषारमणीये राजासने, किम् (भाति) ? तातस्य, चरणौ—पादौ, संवाहयतः—परिचर्याक्रमेण अर्चयतः, यत्, सुखम्—आनन्दः (तत्) राजके—राज्ये स्थितस्य, किम् (भवति) ? गुरोः—तातस्य, भुक्तोज्झिते—भुक्तात् भक्षितात् उज्झिते अवशिष्टे, या, धृतिः—सन्तोषः, असौ—धृतिः, भुवनत्रये—त्रिष्वपि भुवनेषु, भुक्ते—तत्तद्भोग्यसाकल्यस्वीकारेण अनुभूते पालिते च, किम् (भवति) ? उज्झितगुरोः—उज्झितौ राज्यसुखार्थं परित्यक्तौ गुरू पितरौ येन तादृशस्य(मम), राज्यं, खलु—निश्चयेन, आयासः—

१—कं । २—तेना० ।

२

केवलं दुःखभोगाय कल्पिष्यत इति भावः, तत्र—तस्मिन्, गुणः—लाभः, अस्ति —विद्यते (किम्) ? ॥७॥

अनुवाद—विदूषक—[क्रोध के साथ] हे मित्र ! तुम इतने समय तक जीवित ही मरे हुए वृद्धों के कारण ऐसे इस वनवास के दुःख का अनुभव करते हुए निश्चित ही विरक्त हो गये हो। इसलिए अब भी प्रसन्न हो जाओ। माता-पिता के चरणों की सेवा के हठ से निवृत्त होकर इच्छानुसार भोग मिलने से सुन्दर राज्यसुख का अनुभव करो।

नायक—मित्र ! तुमने ठीक नहीं कहा। क्योंकि-पिता के आगे भूमि पर खड़ा या बैठा हुआ पुत्र जिस प्रकार शोभा पाता है उस प्रकार क्या राजसिंहासन पर शोभा पा सकता है ? पिता के चरणों को दबाते हुए जो सुख मिलता है, वह क्या राज्य में मिल सकता है ? पिता के जूठन खाने में जो तृप्ति मिलती है, वह क्या तीनों लोक के उपभोग में मिल सकता है ? गुरुजन को छोड़ देने वाले का राज्य करना केवल आयासमात्र है। उसमें कोई गुण है क्या ? ॥६॥

टिप्पणी—(१) **निर्विण्णः**—विरक्त। निर्√विद्+क्त, तस्य नः। (२) **जीवन्मृतयोः**—जीते जी मरे हुए। जीवन्तौ एव मृतौ (कर्म० स०), तयोः। (३) **गुरुचरणशुश्रूषानिर्बन्धात्**—गुरुजन के चरणों की सेवा के हठ से। √श्रु+सन्, द्वित्वादि+अ+टाप् (आ)=शुश्रूषा। (४) **इच्छापरिभोगरमणीयम्**—इच्छानुसार आनन्द मिलने से सुन्दर। इच्छया परिभोगः (सुप्सुपास०), तेन रमणीयम् (तृ० त०)। (५) **पुरः**—आगे। पूर्व+असि, पुर् आदेश। यह अव्यय है। (६) **संवाहयतः**—दबाते हुए। सम्√वह्+णिच्+लट्—शतृ=संवाहयन्, तस्य। (७) **राजके**—राज्य में। राजन्+वुञ्—अक। (८) **भुक्तोज्झिते**—खाने से छूटे हुए। भुक्तात् उज्झितम् (पं० त०), तस्मिन्। (९) **धृतिः**—तुष्टि। 'धृतिर्नेष्टौ स्त्रियां तुष्टौ' इति मेदिनी। (१०) **उज्झितगुरोः**—जिसने माता-पिता को छोड़ दिया है ऐसे का। उज्झितौ गुरू येन सः (ब० स०), तस्य। श्लोक का भाव यह है कि माता-पिता के सामने भूमि पर बैठने में ही पुत्र की शोभा है न कि गद्दी पर बैठने में। इसी प्रकार माता पिता की चरण-सेवा में तथा उनके उच्छिष्ट भोजन में जो सुख है, वह राज्योपभोग में नहीं।

इस कथन से कवि ने नायक की धीरोदात्तता प्रतिपादित की है। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥७॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहो से गुरुअणसुस्सूसाणुराओ ! [विचिन्त्य] भोदु ता एदं पि दाव अण्णं विअ भणिस्सं । [प्रकाशम्] भोवअस्स ! ण क्खु अहं रज्जसोक्खं ज्जेव केवलं उद्दिसिअ एव्वं भणामि, अण्णं पि दे करणीज्जं अत्थि ज्जेव । (अहो अस्य गुरुजनशुश्रूषाऽनुरागः। भवतु तदेतदपि तावत् अन्यदिव भणिष्यामि । भो वयस्य ! न खल्वहं राज्यसुखमेव केवलमुद्दिश्य एवं भणामि, अन्यदपि ते करणीयमस्त्येव ।)

नायकः—[सस्मितम्] वयस्य ! ननु कृतमेव यत्करणीयम् । पश्य—

न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः सन्तः सुखं स्थापिता
नीतो बन्धुजनस्तथात्मसमतां राज्ये च रक्षा कृता ।
दत्तो दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमोऽप्यर्थिने
किं कर्तव्यमतः परं कथय वा यत्ते स्थितं चेतसि ॥८॥

अन्वय—प्रकृतयः न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः, सन्ताः सुखं स्थापिताः, तथा बन्धुजनः आत्मसमतां नीतः, राज्ये च रक्षा कृता, दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमः अपि अर्थिने दत्तः, अतः परं किं कर्त्तव्यं यत् ते चेतसि स्थितम्, कथय ॥८॥

व्याख्या—प्रकृतयः—प्रजाः, न्याय्ये—उचिते, वर्त्मनि—मार्गे, योजिताः—स्थापिताः, सन्तः—सज्जनाः, सुखं—निरुद्वेगं, स्थापिताः, तथा, बन्धुजनः—बान्धवगणः, आत्मसमतां—(वसनाशनादिकल्पनैः) स्वतुल्यत्वं, नीतः—प्रापितः, राज्ये च, रक्षा—सुरक्षा, कृता—विहिता, दत्तमनोरथाधिकफलः—दत्तं मनोरथात् याचकप्रार्थितद्रव्यात् अधिकं फलं सम्पत्तिः येन तथाभूतः, कल्पद्रुमः अपि—कल्पवृक्षः अपि, अर्थिने—याचकाय, दत्तः—समर्पितः, अतः परम्—इतोऽधिकं, किं, कर्त्तव्यं—करणीयं (शेषं वर्तते), यत्, ते—तव, चेतसि—मनसि, स्थितम्, कथय—ब्रूहि ॥८॥

अनुवाद—विदूषक—[मन में] अहा ! गुरुजन की सेवा में इसका कितना अनुराग है ! [सोचकर] अच्छा तो इसको मैं दूसरी तरह से कहूँगा । [प्रकट]

हे मित्र ! मैं केवल राज्यसुख के उद्देश्य से ही ऐसा नहीं कह रहा हूँ। और भी तो तुम्हें कर्तव्य ही है ।

नायक--[मुसकराहट के साथ] मित्र ! जो कर्तव्य था, वह तो किया ही है। देखो--

प्रजाओं को न्याय के मार्ग में लगा दिया है, सज्जनों को सुखपूर्वक स्थापित किया है तथा बन्धुजनों को अपने बराबर बना डाला है, राज्य में रक्षा (की व्यवस्था) कर दी है और मनोरथ से भी अधिक फल देने वाला कल्पवृक्ष भी याचक को दे डाला है। इससे अधिक क्या कर्तव्य है, जो तुम्हारे मन में विद्यमान है ॥८॥

टिप्पणी--(१) **गुरुजनशुश्रूषानुरागः**--गुरुजन की सेवा का प्रेम। गुरु-जनस्य शुश्रूषा (ष० त०), तस्याम् अनुरागः (सुप्सुपास०)। (२) **प्रकृतयः**--प्रजायें। 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यात् अमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे' इति मेदिनी। (३) **न्याय्ये**--न्याययुक्त, उचित। न्यायादनपेतं न्याय्यम् न्याय+यत् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति सूत्रेण। (४) **योजिताः**--लगा दी गई। √युज्+णिच्+क्त। (५) **अर्थिने**--याचक को। अर्थः प्रयोजनम् अस्ति अस्य इति अर्थी अर्थ+इनि, तस्मै। जातककथा के अनुसार वन जाने के इच्छुक पिता जीमूतकेतु से जीमूतवाहन को कल्पवृक्ष मिला था, जिसे उसने याचक को समर्पित कर दिया था--

तं सर्वगुणसम्पन्नमभिषिच्यात्मजं पिता ।
कल्पवृक्षं ददावस्मै नानासिद्धिसुधाफलम् ॥
कान्ताकटाक्षविक्षेपचपलं यौवनं धनम् ।
जीवितं चेति स ध्यात्वा तमर्थिभ्यस्तरुं ददौ ॥
कुलक्रमागते तस्मिन् कल्पवृक्षे व्ययीकृते ।
अपूर्वत्यागिना तेन त्रिलोकी विस्मयं ययौ ॥

(बृहत्कथामञ्जरी)

कथासरित्सागर में इस बात का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि कल्प-वृक्ष की कृपा से ही जीमूतववाहन जैसे दानवीर पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। बड़े

होने पर उसने पिता की आज्ञा से लोक-कल्याण के लिए कल्पवृक्ष का दान कर दिया। तब कल्पवृक्ष तो स्वर्ग में चला गया, किन्तु पृथ्वी पर इतनी वृष्टि कर गया कि उस समय कोई मनुष्य दरिद्र नहीं रहा--

जीमूतवाहनो गत्वा कल्पद्रुममुवाच तम् ।
अभीष्टाः पूरिताः कामाः पूर्वेषां देव नस्त्वया ।
तन्ममैकमिमं काममनन्यं परिपूरय ॥
अदरिद्रां यथा पृथ्वीमिमां द्रक्ष्ये तथा कुरु ।
भद्रं ते व्रज दत्तोऽसि लोकायार्थार्थिने मया ॥
इत्युक्तवति जीमूतवाहने रचिताञ्जलौ ।
त्यक्तस्त्वयैष जातोऽस्मीत्युदभूद् वाक् तरोस्ततः ॥
क्षणाच्चोत्पत्य च दिवं कल्पवृक्षस्तथा वसु ।
ववर्ष भुवि नैवासीत् कोऽप्यस्यां दुर्गतो यथा ॥
इस श्लोक में भी शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥८॥

विदूषकः---भो वअस्स ! अच्चन्तसाहसिओ मदङ्गहदओ दे पडिवक्खो, तस्सिं अ समासण्णट्ठिदे दे पहाणामच्चसमधिट्ठिदं पि ण तुए विणा रज्जं सुत्थिरं त्ति पडिभादि । (भो वयस्य ! अत्यन्त-साहसिको मतङ्गहतकहस्ते प्रतिपक्षः । तस्मिंश्च समासन्नस्थिते प्रधानामात्यसमधिष्ठितमपि न त्वया विना राज्यं सुस्थिरमिति प्रतिभाति ।)

नायकः---धिङ मूर्ख, मतङ्गो राज्यं हरिष्यतीति शङ्कसे ?

विदूषकः---अध इं ? (अथ किम् ?)

नायकः---यद्येवं तत् किं न स्यात् ? ननु स्वशरीरात् प्रभृति सर्वं परार्थमेव मया परिपाल्यते । यत्तु स्वयं न दीयते, तत् तातानुरोधात् । तत् किमनेनावस्तुना चिन्तितेन ? वरं ताताज्ञेवा-नुष्ठिता । आज्ञापितश्चास्मि तातेन यथा---'वत्स ! जीमूतवाहन ! बहुदिवसपरिभोगेण दूरीकृतसमित्कुशकुसुममुपभुक्तफलकन्दनीवार-प्रायमिदं स्थानं वर्तते । तदितो मलयपर्वतं गत्वा किञ्चित् तस्मिन् निवासयोग्यमाश्रमपदं निरूपय' इति । तदेहि मलयपर्वतमेव गच्छावः ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । एदु भवं । (यद् भवानाज्ञापयति । एतु भवान् ।)

[इत्युभौ परिक्रामतः]

व्याख्या—अत्यन्तसाहसिकः—अतीवकर्माध्यवसायी, मतङ्गहतकः—निकृष्टाशयो मतङ्गः, ते—तव, प्रतिपक्षः—विरोधी (वर्तते)। समासन्नस्थिते—समीपे विद्यमाने, प्रधानामात्यसमधिष्ठितमपि—प्रधानेन मुख्येन अमात्येन मन्त्रिणा समधिष्ठितमपि सुपालितमपि, सुस्थिरं—सुस्थितं, प्रतिभाति—प्रतीयते । प्रभृति—आरभ्य, परार्थमेव—अन्यार्थमेव, परिपाल्यते—रक्ष्यते, तातानुरोधात्—तातस्य पितुः अनुरोधात् इच्छानुसरणात् । अवस्तुना—अपदार्थेन तुच्छेनेति यावत् । अनुष्ठिता—पालिता । बहुदिवसपरिभोगेण—बहून् दिवसान् व्याप्य यः परिभोगः वस्तूनामुपभोगः तेन, दूरीकृतसमित्कुशकुसुमम्—समिधः यज्ञकाष्ठानि कुशाश्च दर्भाश्च कुसुमानि च पुष्पाणि च (एतेषां समाहारद्वन्द्वः) दूरीकृतं नष्टं समित्कुशकुसुमं यत्र तादृशम्, उपभुक्तमूलफलकन्दनीवारप्रायम्—उपभुक्तम् अतिशयेन भुक्तं मूलं च फलं च कन्दश्च नीवारश्च मुनिधान्यं च प्रायेण भूम्ना यस्मिन् तथाभूतम् । निरूपय—अन्विष्य ।

अनुवाद—**विदूषक**—हे मित्र ! आपका विरोधी नीच मतंग बड़ा साहसी है । उसके पास में रहते (आपका) राज्य प्रधान मंत्री की देखरेख में होने पर भी आपके बिना सुस्थिर नहीं मालूम पड़ता ।

नायक—छिः मूर्ख ! क्या तुम शंका करते हो कि मतङ्ग राज्य हरण कर लेगा ?

विदूषक—और क्या ?

नायक—यदि ऐसा है तो क्यों न हो ? अपने शरीर से लेकर सब कुछ दूसरे के लिए ही मैं रख रहा हूं । तब जो मैं स्वयं नहीं दे रहा हूँ, वह पिता जी के अनुरोध के कारण । इसलिए इस तुच्छ बात की चिन्ता करने से क्या लाभ ? पिता जी की आज्ञा का पालन करना ही श्रेष्ठ है । पिता जी ने मुझे आज्ञा दी है कि—'वत्स जीमूतवाहन ! बहुत दिनों तक उपभोग करने से यह स्थान यज्ञकाष्ठ, कुश और पुष्प से प्रायः रिक्त हो गया है। इसलिए यहाँ से मलय-

पर्वत पर जाकर कोई निवास करने योग्य आश्रम का स्थान देखो।' अतः आओ, मलयपर्वत पर ही चलें।

विदूषक--जो आपकी आज्ञा। आप चलें।

[यह कह दोनों घूम जाते हैं]

टिप्पणी--(१) प्रतिपक्षः--विरोधी, शत्रु। प्रतिगतः प्रतिकूलः पक्षो यस्य सः (ब० स०)। (२) मतङ्गहतकः--नीच मतंग। हत एव हतकः हत+क स्वार्थे। मतङ्गश्चासौ हतकः मतङ्गहतकः (कर्म० स०)। (३) अत्यन्तसाहसिकः--बहुत बड़ा साहसी। सहसा वर्तते इति साहसिकः सहस्+ठक्--इक। अत्यन्तः साहसिकः अत्यन्तसाहसिकः (कर्म० स०)। (४) समासन्नस्थिते--पास ही में स्थित होने पर। सम्--आ√सद्+क्त=समासन्न। समासन्नश्चासौ स्थितः (कर्म० स०), तस्मिन्। (५) प्रधानामात्यसमधिष्ठितम्--प्रधान मंत्री द्वारा पालित। अमा सह वर्तते इति अमात्यः अमा+त्यप् 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' इति वार्तिकेन। प्रधानः अमात्यः (कर्म० स०), तेन समधिष्ठितम् (तृ० त०)। (६) अवस्तुना चिन्तितेन--तुच्छ या व्यर्थ की चिन्ता से। (७) बहुदिवसपरिभोगेण--बहुत दिनों के उपभोग से। बहवः दिवसाः (कर्म० स०), बहुदिवसव्यापी यः परिभोगः (मध्य० स०), तेन।

विदूषकः--[अग्रतोऽवलोक्य] भो वअस्स! पेक्ख पेक्ख, एसो क्खु सरसघणसिणिद्धचंदणवणुच्छङ्गपरिमिलणलग्गबहुलपरिमलो विसलतडणिबडणजज्जरिज्जंतणिज्झरुच्छलितसिसिरसीअरासारवाही पढमसङ्गमोक्कण्ठिदपिआकण्ठग्गहो विअ मग्गपरिस्समं अवणअंतो रोमञ्चेदि पिअवअस्सं मलअमारुदो। (भो वयस्य! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु सरसघनस्निग्धचन्दनवनोत्सङ्गपरिमिलनलग्नबहुलपरिमलो विषमतटनिपतनजर्जरायमाणनिर्झरोच्छलितशिशिरशीकराऽऽसार वाही प्रथमसङ्गमोत्कण्ठितप्रियाकण्ठग्रह इव मार्गपरिश्रममपनयन् रोमाञ्चयति प्रियवयस्यं मलयमारुतः।)

नायकः--[निरूप्य सविस्मयम्] अये! प्राप्ता एव वयं मलयपर्वतम्। [समन्तादवलोक्य] अहो रामणीयकमस्य। तथाहि--

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः
क्रन्दत्कन्दरगह्वरो जलनिधेरास्फालितो वीचिभिः ।
पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः सिद्धाङ्गनानां गतैः
सेव्योऽयं[1] मलयाचलः किमपि मे चेतः करोत्युत्सुकम् ।।९।।

अन्वय—माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैः भग्नस्रवच्चन्दनः, जलनिधेः वीचिभिः आस्फालितः, क्रन्दत्कन्दरगह्वरः, सिद्धाङ्गनानां गतैः पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः अयं सेव्यः मलयाचलः मे चेतः किमपि उत्सुकं करोति ।।९।।

व्याख्या—प्रेक्षस्व—पश्य । सरसघनस्निग्धचन्दनवनोत्सङ्गपरिमिलनलग्नबहुलपरिमलः—सरसानि (गिरिनदीसमीपस्थतया) आर्द्राणीव भासमानानि घनानि निबिडानि स्निग्धानि मसृणानि यानि चन्दनवनानि चन्दनवृक्षाणां विपिनानि तेषाम् उत्सङ्गे क्रोडे परिमिलनेन परिवर्तनेन लग्नः संश्लिष्टः बहुलः प्रचुरः परिमलः गन्धः यस्य तादृशः, विषमतटनिपतनजर्जरायमाणनिर्झरोच्छलितशिशिरसीकराऽऽसारवाही—विषमाणि निम्नोन्नतानि यानि तटानि गिरिप्रान्ताः तेषु निपतनेन जर्जरायमाणाः प्रतिकणं खण्डशो भिद्यमानाः ये निर्झराः जलप्रपाताः तेभ्यः उच्छलिताः इतस्ततः प्रक्षिप्ताः ये शिशिराः शीतलाः सीकराः अम्बुकणाः तेषाम् आसारं सञ्चयं वहति धारयति इति तथोक्तः, मलयमारुतः—मलयगिरेः आगच्छन् पवनः, मार्गपरिश्रमम्—अध्वचलनजनितं खेदम्, अपनयन्—दूरीकुर्वन्, प्रथमसङ्गमोत्कण्ठितप्रियाकण्ठग्रह इव—प्रथमसङ्गमे प्रथमसमागमे उत्कण्ठितायाः उत्सुकायाः प्रियायाः दयितायाः कण्ठग्रह इव आलिङ्गनमिव, प्रियवयस्यं—प्रियमित्रं (भवन्तं) रोमाञ्चयति पुलकितं करोति । समन्तात्—चतुर्दिक्षु, अवलोक्य—दृष्ट्वा । रामणीयकं—सौन्दर्यम् ।

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैः—माद्यन्तः प्रारब्धमदाः ये दिग्गजाः दिशाहस्तिनः ऐरावतादयः तेषां गण्डभित्तयः प्रशस्ताः कपोलाः तासां कषणैः (कण्डूतिशमनाय) घर्षणैः, भग्नस्रवच्चन्दनः—भग्नाः छिन्नाः अतएव स्रवन्तः श्च्योतद्रसाः चन्दनवृक्षाः यस्मिन् तादृशः, जलनिधेः—समुद्रस्य, वीचिभिः—तरङ्गैः, आस्फालितः—निरन्तरमाहतः, क्रन्दत्कन्दरगह्वरः—क्रन्दन्ति जलप्रवेशात् नदन्ति कन्द-

---

१. दृष्टोऽयं ।

राणां दरीणां गह्वराणि गुहाः यस्मिन् तादृशः, सिद्धाङ्गनानां--सिद्धाः देवयोनिविशेषाः तेषाम् अङ्गनाः रमण्यः तासां, गतैः--गमनैः, पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः—पादयोः चरणयोः यः अलक्तकः लाक्षारसः तेन रक्ताः रक्ताभाः कृताः मौक्तिकाः स्वच्छमुक्ताविनिर्मिताः शिलाः प्रस्तरखण्डानि यत्र तथाभूतः, अयं--दृश्यमानः, सेव्यः--सेवितुं योग्यः, मलयाचलः--मलयगिरिः, मे--मम, चेतः—चित्तं, किमपि--केनापि अनिर्वचनीयेन हेतुना, उत्सुकम्--उत्कण्ठितं, करोति--विदधाति ।।९।।

अनुवाद--**विदूषक**--[सामने देखकर] हे मित्र ! देखो देखो। गीले, घने और चिकने चन्दन-वृक्षों के वनों की गोद में लोट-पोट करने से अत्यन्त सुगन्धित और ऊँचे-नीचे ढलानों पर गिरने से छिन्न-भिन्न होते हुए झरनों से निकले शीतल जल-बिन्दुओं की बौछार वाला यह मलयानिल प्रथम मिलन के लिए उत्सुक हुई प्रिया के आलिंगन की भाँति मार्ग की थकान को दूर करता हुआ आपको रोमांचित कर रहा है।

नायक--[अच्छी तरह देखकर आश्चर्य के साथ] अरे ! हम लोग मलय-पर्वत पर पहुँच ही गये। [चारों ओर देखकर] अहा ! क्या ही इसकी सुन्दरता है। क्योंकि--

मदमत्त दिग्गजों के गण्डस्थलों की रगड़ों से टूटे हुए और (अतएव) रस बहाते हुए चन्दन वृक्ष वाला, समुद्र की लहरों से ताडित, गूँजते हुए कन्दराओं के खोह वाला, सिद्धों की रमणियों के चलने के कारण पैरों के महावर से लाल हुई मोती की शिलाओं वाला यह सेवन करने योग्य मलयपर्वत मेरे चित्त को कुछ उत्सुक बना रहा है ।।९।।

टिप्पणी--(१) **विषमतटनिपतनजर्जरायमाणनिर्झरोच्छलितशिशिरसीकरासारवाही**--जहाँ ऊंचे-नीचे तटों पर गिरने से जर्जर होने वाले झरनों से निकले हुए शीतल जलकणों की बौछार हो रही हो। जर्जर इव आचरति इति जर्जरायते जर्जर+क्यङ (नामधातु)+लट्--शानच्, मुक् (म्) आगम=जर्जरायमाण। सीकर=जल की बूँद। 'सीकरोऽम्बुकणः स्मृतः' इत्यमरः। आसार=सघन वृष्टि, बौछार। 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः। (२) **रोमाञ्चयति**--रोमाञ्चित कर रहा है। रोमाञ्चं करोति इति रोमाञ्चयति रोमाञ्च+णिच् (नामधातु)

+लट्--ति। प्रस्तुत वाक्य में पूर्णोपमा अलंकार है। यहाँ द्व्यर्थक पदों एवं अनुकूल उपमा के द्वारा कवि ने भावी मलयवती संगम रूप अर्थ की सूचना देते हुए चतुर्थ पताकास्थानक की योजना की है। जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है--

'द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्॥

(३) रामणीयकम्--रमणीयता। रमणीयस्य भावः रामणीयकम् रमणीय +वुञ्--अक 'योपधात् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति सूत्रेण। (४) माद्यद्दिग्गजगण्ड-भित्तिकषणैः--मदमत्त दिग्गजों के कपोलस्थलों की रगड़ों से। दिग्गज आठ कहलाते हैं। वे ये हैं--'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः॥' इत्यमरः। प्रशस्ताः गण्डाः इति गण्डभित्तयः 'प्रशंसावचनैश्च' इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासः यहाँ 'भित्ति' शब्द प्रशस्तार्थक है, जैसा कि गणरत्नमहोदधिकार ने लिखा है--'मतल्लिकोद्धमिश्राः स्युः प्रकाण्ड-स्थलभित्तयः'। अथवा प्रदेश या स्थल भी 'भित्ति' शब्द का अर्थ होता है। 'भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वकोशः। तदनुसार गण्डानां भित्तयः गण्डभित्तयः (ष० त०) होगा। (५) क्रन्दत्कन्दरगह्वरम्--जहाँ गुफाओं के खोह (भीतरी प्रदेश) गूँज रहे हैं। पर्वत के कृत्रिम खोह या बिल को 'कन्दर' और अकृत्रिम खोह को 'गह्वर' कहते हैं। (६) गतैः--चलने या आने-जाने से। √गम्+क्त भावे= गतानि,। (७) पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः--जहाँ पैरों में लगे महावर से मोतियों की शिलायें लाल हो गई हैं। यहाँ मौक्तिकशिलाओं का अपना शुक्ल गुण त्यागकर लाल गुण धारण करने के कारण तद्गुण अलंकार है और महावर से लाल हो उठने का वर्णन होने से उदात्त अलंकार है, फिर इन दोनों के वाक्यार्थरूपक काव्यलिंग अलंकार के प्रति अनुग्राहक होने से संकर अलंकार हो जाता है। तीनों अलंकारों के लक्षण--'उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योप-लक्षणम्।' तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः। पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा॥' समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्। जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः॥' (कुवलयानन्द)। 'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः।' (काव्यप्रकाश) इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥९॥

तदेह्यत्रारुह्य वासयोग्यं किञ्चिदाश्रमपदं निरूपयावः।

विदूषकः---एव्वं करेम्ह । [अग्रतः स्थित्वा] एदु भवं। (एवं कुर्वः । एतु भवान्)।

[आरोहणं नाटयतः]

नायकः---[दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयन्] अये !

दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकाङ्क्षा न मे क्वचित् ।
न च मिथ्या मुनिवचः कथयिष्यति किं न्विदम् ॥१०॥

अन्वय---दक्षिणं चक्षुः स्पन्दते, मे क्वचित् फलाकाङ्क्षा न । मुनिवचः न च मिथ्या, इदं किं नु कथयिष्यति ॥१०॥

व्याख्या---दक्षिणं---वामेतरं, चक्षुः---नेत्रं, स्पन्दते---किञ्चिच्चलति, मे---मम, क्वचित्---कुत्रापि, फलाकाङ्क्षा---प्रयोजनाभिलाषः, न---नहि । मुनिवचः---मुनेः ऋषेः वचः वचनम्, न च मिथ्या---नैव असत्यम्, इदं---स्पन्दनं, किं नु, कथयिष्यति---सूचयिष्यति ॥१०॥

अनुवाद---इसलिए आओ, इस पर चढ़कर निवास करने योग्य कोई आश्रम का स्थान ढूँढ़ें ।

विदूषक---ऐसा करें । [आगे खड़ा होकर] आप आइए ।

[दोनों चढ़ने का अभिनय करते हैं ।]

नायक---[दाहिनी आँख का फड़कना बतलाता हुआ] दाहिनी आँख फड़क रही है । मुझे कहीं (किसी) फल की अभिलाषा नहीं है । मुनियों का वचन मिथ्या नहीं होता । (अतः देखें कि) यह क्या सूचित करती है ॥१०॥

टिप्पणी---(१) आश्रमपदम्---आश्रम का स्थान । (२) निरूपयावः---देखें, ढूँढ़े । (३) चक्षुःस्पन्दते---नेत्र फड़क रहा है । पुरुष के लिए दाहिनी आँख का फड़कना अभिलषित प्रिय वस्तु की प्राप्ति का सूचक है । जैसा कि शकुन-शास्त्र में मुनियों ने कहा है---'स्पन्दान्मूर्ध्निच्छत्रलाभं ललाटे पट्टमंशुकम् । इष्ट-प्राप्ति दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत् । वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः ।।' इस पद्य में अनुष्टुप् छन्द है ॥१०॥

विदूषकः--भो वअस्स ! अवस्समासण्णं दे पिअं णिवेदेदि। (भो वयस्य ! अवश्यमासन्नं ते प्रियं निवेदयति।)

नायकः--एवं नाम यथाऽऽह भवान्।

विदूषकः--[विलोक्य] भो वअस्स! पेक्ख पेक्ख। एदं क्खु सविसेसघणसिणिद्धपाअबविसोहिअं सुरहिहविग्गन्धगब्भिणुद्दामधूमणिग्गमं अणुव्विग्गसुहणिसण्णसावअगणं तवोवणं विअ लक्खीअदि। (भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतत् खलु सविशेषघनस्निग्धपादपविशोभितं सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमनिर्गमम् अनुद्विग्नसुखनिषण्णश्वापदगणं तपोवनमिव लक्ष्यते।)

नायकः--सम्यगुपलक्षितम्। तपोवनमेवैतत्। कुतः।

वासोऽर्थं दययैव[1] नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्ना[2]ऽऽलक्ष्यजरत्कमण्डलु[3]नभः स्वच्छं पयो नैर्झरम्।
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च बटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते ॥११॥

अन्वय--वासोऽर्थं तरूणां त्वचः दययैव नातिपृथवः कृत्ताः, नैर्झरं पयः नभः स्वच्छम् भग्नालक्ष्यजरत्कमण्डलु, क्वचित् मौञ्ज्यः मेखलाः बटुभिः त्रुटितोज्झिताः च दृश्यन्ते, च नित्याकर्णनया शुकेन इदं साम्नाम् पदं पठ्यते ॥११॥

व्याख्या--आसन्नं--समीपवर्ति, निवेदयति--सूचयति। सविशेषघनस्निग्धपादपोपशोभितं--सविशेषं सातिशयं घनाः निविडाः स्निग्धाः चिक्कणाः पादपाः वृक्षाः तैः उपशोभितं चतुर्दिक्षु विभूषितम्, सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमनिर्गमं--सुरभिः सुगन्धिः हविर्गन्धः होमद्रव्यात् संजायमान आमोदः तद्गर्भितः तन्मिश्रितः उद्दामः उत्कटः धूमस्य निर्गमः निर्गमनं यत्र तथाभूतम्, अनुद्विग्नसुखनिषण्णश्वापदगणम् अनुद्विग्नाः अव्याकुलाः निःशङ्का इति यावत् अतएव सुखं सुखपूर्वकम् निषण्णाः ये श्वापदाः वन्यजन्तवः तेषां गणः समूहो यत्र तादृशं, तपोवनमिव मुन्याश्रमभूमिरिव, लक्ष्यते--दृश्यते। सम्यक्--साधु, उपलक्षितं--दृष्टं ज्ञातमिति यावत्।

१--दययेव। २--भग्ना०। ३--रजः।

वासोऽर्थं--परिधानाय, तरूणां--वृक्षाणां, त्वचः--वल्कलानि, दययैव--करुणयैव, नातिपृथवः--नातिविस्तीर्णाः, कृत्ताः--उन्मथिताः (सन्ति) नैर्झरं--निर्झरसम्बन्धि, पयः--जलं, नभःस्वच्छम्--आकाशवत् निर्मलम्, भग्नालक्ष्यजरत्कमण्डलु--भग्नाः त्रुटिताः (अतएव जले प्रक्षिप्ताः) आलक्ष्याः पयसः स्वच्छत्वात् स्पष्टं दृश्यमानाः जरन्तः जीर्णाः कमण्डलवः करकाः मृन्निर्मित-जलपात्राणीति यावत् यस्मिन् तथाभूतं, क्वचित्--कुत्रचित्, मौञ्ज्यः--मुञ्जतृणनिर्मिताः, मेखलाः--कटिसूत्राणि, वटुभिः--विप्रबालकैः, त्रुटितोज्झिताः--आदौ त्रुटिताः भग्नाः पश्चात् उज्झिताः त्यक्ताः, दृश्यन्ते--अवलोक्यन्ते, च--तथा, नित्याकर्णनया--प्रतिदिनं निरन्तरश्रवणेन हेतुना, शुकेन--कीरेण, साम्नां--वेदमन्त्राणां, इदं--सद्यः श्रूयमाणं पदं, पठ्यते--उच्चार्यते ॥११॥

अनुवाद--विदूषक--हे मित्र ! यह निकट भविष्य में अवश्य होने वाली किसी प्रिय घटना की सूचना दे रही है।

नायक--ऐसा ही हो, जैसा आप कह रहे हैं।

विदूषक--[देखकर] हे मित्र ! देखो देखो। यह तो अतिशय सघन और चिकने वृक्षों से शोभायमान, सुगन्धित हवि के गन्ध से सम्पृक्त प्रचुर धूम के निकलने से युक्त और निःशंक होकर सुख से बैठे हुए पशु-समूह वाला तपोवन जैसा लग रहा है।

नायक--ठीक देखा है। यह तपोवन ही है।

क्योंकि--

(यहाँ, पहनने के लिए वृक्षों की छालें दया के कारण ही बहुत मोटी नहीं छीली गई हैं। झरने का जल आकाश के समान ऐसा स्वच्छ है कि उसमें टूटे हुए पुराने कमण्डलु दीख पड़ते हैं। कहीं मूँज की बनी मेखलायें, जिन्हें ब्रह्मचारियों ने टूट जाने के कारण त्याग दिया है, देखने में आ रही हैं। और प्रतिदिन सुनने के कारण तोता यह वेद-मन्त्रों का पद पढ़ रहा है ॥११॥

टिप्पणी--(१) आसन्नम्--समीपस्थ। आ√सद्+क्त। (२) सविशेष-घनस्निग्धपादपोपशोभितम्--बहुत घने और चिकने वृक्षों से अत्यन्त शोभित। विशेषेण सहितं सविशेषम् (तेन सहेति ब० स०), सविशेषं घनाः सविशेषघनाः

(सुप्सुपा स०), सविशेषघनाश्च स्निग्धाश्च इति सविशेषघनस्निग्धाः (द्व० स०), तादृशाः पादपाः (कर्म० स०), तैः उपशोभितम् (तृ० त०)। (३) **सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमनिर्गमम्**--जहाँ सुगन्धित हवि (हवनसामग्री) के गन्ध से युक्त बहुतसा धुआँ निकल रहा है, ऐसा। गर्भित=भीतर रखे हुए, युक्त। गर्भः संजातः अस्य इति गर्भितः गर्भ+इतच्। (४) **अनुद्विग्नसुखनिषण्णश्वापदगणम्**--जहाँ जंगली पशुओं का समूह निः शंक होकर सुखपूर्वक बैठा हुआ हो। सुखं निषण्णाः (सुप्सुपास०), अनुद्विग्नाश्च सुखनिषण्णाश्च (द्व० स०), अनुद्विग्नसुखनिषण्णाः श्वापदगणाः यत्र तत् (ब० स०)। इस तरह का भाव, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में भी पाया जाता है--'एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां, नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति।' (५) **वासोऽर्थम्**--पहनने के लिए। वाससे इदम् इति वासोऽर्थम् 'अर्थेन नित्यसमासः'--इत्यादि वार्तिक से चतुर्थी तत्पुरुषसमास। (६) **त्वचः**--छाल, वल्कल। (७) **नातिपृथवः**--बहुत मोटी नहीं, पतली ही। वृक्षों को पीडा न हो, इसलिए मुनि लोग उनकी बहुत मोटी छाल नहीं निकालते थे। वृक्षों में भी प्राण हैं, यह हमारे शास्त्र में पहले से ही उल्लिखित है-- 'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' (मनुस्मृति)। इस बात को अब वैज्ञानिकों ने माना है जब जगदीशचन्द्र वसु ने वृक्षों का प्राण स्पन्दन प्रत्यक्ष दिखा दिया। (५) **नैर्झरम्**--झरने का। निर्झरस्य इदं नैर्झरम् निर्झर+अण् 'तस्येदम्' इति सूत्रेण। 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। (८) **भग्नालक्ष्यजरत्कमण्डलु**--जिसमें (निर्मलता के कारण) टूटे-फूटे पुराने कमण्डलु स्पष्ट दिखाई देते थे। भग्न कमण्डलु आदि का जल में त्यागना शास्त्रविहित है--'मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्। अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥' (मनुस्मृति--२, ६४)। (९) **मौञ्ज्यः**--मूँज की बनी। मुञ्जस्य इमाः मौञ्ज्यः मुञ्ज+अण्+ङीप्=मौञ्जी, ताः मौञ्ज्यः। (१०) **त्रुटितोज्झिताः**--टूट जाने पर छोड़ी या फेंकी हुई। पूर्वं त्रुटिताः पश्चात् उज्झताः इति त्रुटितोज्झिताः 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासः।

इस श्लोक में अनुकरणपटु शुक बटु की तरह यथाश्रुत पद का उच्चारण कर रहा है, अतः उसके स्वभाव का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है।

इसका लक्षण—'स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्। कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥' (कुवलयानन्द)। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥११॥

तदेहि प्रविश्यावलोकयावः। [प्रवेशं नाटयतः। सविस्मयं विलोक्य] अहो! नु खलु मुदितमुनिजनप्रविचार्यमाणसन्दिग्धवेदवाक्यविस्तरस्य पठद्बटुजनच्छिद्यमानार्द्रार्द्रसमिधस्तापसकुमारिकाऽऽपूर्यमाणबालवृक्षकालवालस्य प्रशान्तरमणीयता तपोवनस्य। इह हि—

मधुरमिव वदन्ति [1] स्वागतं भृङ्गशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टीः [2] किरन्तः
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि ॥१२॥

अन्वय—अमी भृङ्गशब्दैः मधुरं स्वागतं वदन्ति इव, फलनम्रैः शिरोभिः नतिम् इव कुर्वते, पुष्पवृष्टीः किरन्तः मम अर्घ्यं ददते इव। कथं शाखिनः अपि अतिथिसपर्यां शिक्षिताः ॥१२॥

व्याख्या—मुदितमुनिजनप्रविचार्यमाणसन्दिग्धवेदवाक्यविस्तरस्य—मुदितेन तुष्टेन मुनिजनेन तपस्विगणेन प्रविचार्यमाणः प्रकर्षेण विचार्यमाणः सन्दिग्धः अनिश्चितः वेदवाक्यविस्तरः वैदिकमन्त्राणां समूहो यस्मिन् तथाभूतस्य, पठद्बटुजनच्छिद्यमानार्द्रार्द्रसमिधः—पठता स्वाध्यायं कुर्वता बटुजनेन छात्रवृन्देन छिद्यमानाः लूयमानाः आर्द्राः सरसाः समिधः यज्ञकाष्ठानि यत्र तथाभूतस्य, तापसकुमारिकापूर्यमाणबालवृक्षकालवालस्य—तापसकुमारिकाभिः मुनिकन्याभिः आपूर्यमाणानि भ्रियमाणानि बालवृक्षकाणां क्षुपाणाम् आलवालानि जलधारणस्थानानि यत्र तथाभूतस्य, तपोवनस्य, प्रशान्तरमणीयता—शान्तिपूर्णमनोहरता।

अमी—तपोवनवृक्षाः, भृङ्गशब्दैः—भ्रमराणां झङ्कारैः, मधुरं—मञ्जुलं, स्वागतं—स्वागतवचनं, वदन्ति इव—उच्चारयन्ति इव, फलनम्रैः—फलभा-

---

१—वदन्तः। २—०वृष्टिं।

रावनतैः, शिरोभिः--शाखाग्रभागैः, नतिमिव--प्रणाममिव, कुर्वते--विदधति, पुष्पवृष्टीः--पुष्पाणां वर्षाः, किरन्तः--प्रक्षिपन्तः, मम--मह्यम्, अर्घ्यं--पूजोपहारं, ददते--प्रयच्छन्ति, इव । कथं--केन प्रकारेण, शाखिनः--वृक्षाः, अपि, अतिथिसपर्याम्--अतिथीनाम् अभ्यागतानां सपर्यां पूजनविधिं, शिक्षिताः--शिक्षणं प्रापिताः ॥१२॥

अनुवाद--तो आओ, प्रवेश करके देखें । [प्रवेश का अभिनय करते हैं। आश्चर्य के साथ देखकर] अहा ! तपोवन की अत्यन्त शान्त रामणीयता कैसी हैं जहाँ प्रसन्न मुनिवृन्द सन्दिग्ध वेदवाक्यों के समूह पर अच्छी तरह विचार कर रहे हैं, पढ़ते हुए ब्रह्मचारी लोग गीली-गीली समिधाओं को फाड़ रहे हैं और तपस्वियों की कुमारियाँ पौधों के थालों को जल से भर रही हैं । यहाँ तो--

ये वृक्ष भौंरों के शब्दों से मानो मधुर स्वागत बोल रहे हैं, फलों से झुके हुए शिरों से मानो नमस्कार कर रहे हैं और फूलों की वर्षा करते हुए मानो मुझे अर्घ्य (पूजोपहार) दे रहे हैं । कैसे वृक्षों को भी अतिथि-सत्कार करना सिखाया गया है ! ॥१२॥

टिप्पणी--(१) **मुदित०**--जहाँ हर्षित मुनियों द्वारा सन्दिग्ध वेद-वाक्यों पर विचार-विमर्श किया जा रहा है, ऐसे । यहाँ सभी षष्ठ्यन्त पद 'तपोवनस्य' के विशेषण हैं । (२) **पठद्०**=जहाँ पढ़ते हुए बटुगण गीले-गीले यज्ञीय काष्ठों को तोड़ रहे हैं या फाड़ रहे हैं, ऐसे । (३) **तापस०**--जहाँ मुनिकुमारियाँ छोटे-छोटे वृक्षों की क्यारियों को जल से भर रही हैं, ऐसे । ह्रस्वाः वृक्षाः इति वृक्षकाः वृक्ष+कन् । आलवाल=थाला । आ समन्तात् लवम् आलवम् (प्रादि-समास), आलवम् आलाति इति आ-लव आ√ला+क । 'आधारश्चाधिकरणे आलवालोऽम्बुधारणे' इति विश्वः । मुनिकन्याओं द्वारा आलवाल में जल डालने का वर्णन कालिदास ने भी किया है--'सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झित-वृक्षकम् । विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ (४) **शाखिनः**--वृक्ष । शाखाः सन्ति एषु इति शाखिनः शाखा+इनि । 'वृक्षो महीरुहः शाखी' इत्यमरः । (५) **मम अर्घ्यंददते**--मुझे अर्घ दे रहे हैं । यहाँ 'मम' में दा धातु के योग में चतुर्थी होनी चाहिए, किन्तु सम्प्रदान की अविवक्षा करके सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी हुई । अर्घ के आठ अंग बताये गये हैं--'आपः क्षीरं कुशाग्रं

च दधि सर्पिः सतण्डुलम् । यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः ।।' (६) अतिथिसपर्याम्--अतिथियों की पूजा, आवभगत । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । इस श्लोक के समान भाव अन्यत्र भी पाया जाता है--'फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोतिपातोद्गतवातवेपिते । स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ।।' (नैषधीय-चरित १,७८) ।

इस श्लोक में मृङ्गशब्द आदि में स्वागतवचन आदि की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है, जिसका लक्षण है--'भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना' । (साहित्यदर्पण) । इसमें मालिनी छन्द है, जिसका लक्षण है--'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ।।१२।।

तन्निवासयोग्यमिदं तपोवनम् । मन्ये भविष्यतीह वसतामस्माकं निर्वृतिः ।

विदूषकः---किं क्खु एदे ईसिबलिअकन्धरा णिच्चलमुहाबसरंतदरदलिअदब्भकवला समुण्णमिदद्दिण्णेक्ककण्णा सुहणिमीलिदलोअणा आअणंता विअ हरिणा लक्खीअंति । (भो वयस्य ! किं खल्वेते ईषद्वलितकन्धरा निश्चलमुखापसरद्दरदलितदर्भकवलाः समुन्नमितदत्तैककर्णाः सुखनिमीलितलोचना आकर्णयन्त इव हरिणा लक्ष्यन्ते ।)

नायकः---[कर्णं दत्त्वा] सखे ! सम्यगुपलक्षितम् तथाहि---

स्थानप्राप्त्या दधानं प्रकटितगमकां मन्द्रतारव्यवस्थां
निर्ह्लादिन्या विपञ्च्या मिलितमलिरुतेनेव तन्त्रीस्वरेण ।
एते दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य
व्याजिह्माङ्गाः कुरङ्गाः स्फुटललितपदं गीतमाकर्णयन्ति ।।१३।।

अन्वय--व्याजिह्माङ्गाः एते कुरङ्गाः दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य स्थानप्राप्त्या प्रकटितगमकां मन्द्रतारव्यवस्थां दधानं निर्ह्लादिन्याः विपञ्च्याः अलिरुतेनेव तन्त्रीस्वरेण मिलितं स्फुटललितपदं गीतम् आकर्णयन्ति ।।१३।।

व्याख्या—भो वयस्य—हे मित्र !, ईषद्वलितकन्धराः—ईषत् स्तोकं वलिताः वक्रीकृताः कन्धराः ग्रीवा यैः तादृशाः, निश्चलमुखापसरद्दरदलितदर्भकवलाः—निश्चलमुखेभ्यः निस्पन्दवदनेभ्यः अपसरन्तः गलन्तः दरदलिताः ईषच्चर्विताः दर्भाणां कुशानां कवलाः ग्रासाः येषां तादृशाः, समुन्नमितदत्तैककर्णाः—समुन्नमितः ऊर्ध्वमुत्थापितः दत्तश्च शब्दश्रवणाय अवधानं प्रापितश्च एकः कर्णः श्रोत्रं यैः तथाभूताः, सुखनिमीलितलोचनाः—सुखेन आनन्देन निमीलितानि मुद्रितानि लोचनानि नेत्राणि यैः तथाभूताः, एते—दृश्यमानाः हरिणाः—मृगाः, आकर्णयन्त इव—शृण्वन्त इव, लक्ष्यन्ते—प्रतीयन्ते ।

व्याजिह्माङ्गाः—व्याजिह्मं (संगीतश्रवणाभिप्रायेण) वक्रीभूतम् अङ्गं शरीरं लक्षणया ग्रीवा येषां तादृशाः, एते—दृश्यमानाः, कुरङ्गाः—हरिणाः, दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं—दन्तयोः दशनयोः अन्तराले मध्ये स्थितस्य तृणकवलस्य घासग्रासस्य छेदशब्दं चर्वणजातं शब्दं, नियम्य—निरुध्य, स्थानप्राप्त्या—स्थानानाम् उरः कण्ठशिरसां प्राप्त्या अवाप्त्या तत्तत्स्थानेभ्यः यथोचितोच्चारणेनेत्यर्थः, प्रकटितगमकां—प्रकटिताः साधु व्यञ्जिताः गमकाः स्वरोत्थानप्रकाराः यस्यां तथाभूतां, मन्द्रतारव्यवस्थां—मन्द्रस्य गम्भीरस्य तारस्य उच्चस्य च स्वरविशेषयोः व्यवस्था यथास्वं यथाकालं नियमनं तां, दधानं—धारयत्, निर्ह्लादिन्याः—प्रशस्तनादवत्याः, विपञ्च्याः—वीणायाः, अलिरुतेनेव—भ्रमरगुञ्जितेनेव, तन्त्रीस्वरेण—वीणास्वनेन, मिलितं—सङ्गतं, स्फुटललितपदं—स्फुटानि स्पष्टानि ललितानि च सुन्दराणि च पदानि सुप्तिङन्तानि यस्मिन् तथाभूतं, गीतं—गानम्, आकर्णयन्ति—शृण्वन्ति ॥१३॥

अनुवाद—इसलिए यह तपोवन रहने योग्य है। मैं समझता हूँ कि यहाँ रहते हुए हमें आनन्द मिलेगा।

विदूषक—हे मित्र ! गर्दनों को थोड़ा-सा झुकाये हुए, निश्चल मुखों में से गिरते हुए कुछ-कुछ चबाये कुशों के कौर वाले, ऊपर उठाकर कान लगाये हुए और आनन्द से आँखें मूँदे हुए ये हरिण क्या (कुछ) सुनते हुए दिखाई दे रहे हैं ?

नायक—[कान देकर] मित्र ! तुमने ठीक समझा । क्योंकि—

अंगों को टेढ़ा किये हुए ये हरिण दाँतों के बीच पड़े हुए घास के कौर के चबाने से उत्पन्न शब्द को रोककर (हृदय, कण्ठ आदि) स्थानों में प्राप्त होने के कारण गमकों (स्वर उठने के प्रकारों) को प्रकटित करने वाले गंभीर और उच्च स्वरों के नियम को धारण करता हुआ, अच्छी बजने वाली वीणा के तारों के भ्रमर-झंकार-जैसे शब्द से मिला हुआ और स्पष्ट एवं सुन्दर पदों से युक्त गीत सुन रहे हैं ।।१३।।

टिप्पणी--(१) **निश्चल०**--जिनके निश्चल या निष्क्रिय मुखों से, किञ्चित् चर्वित कुशों के कौर गिर रहे हैं. ऐसे । कवल=कौर । 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । (२) **व्याजिह्माङ्गाः**--(गीत सुनने के तात्पर्य से) शरीर को टेढ़ा किये हुए । (३) **कुरङ्गाः**--हरिण । 'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः' इत्यमरः । (४) **दन्तान्तरालस्थित०**--दाँतों के बीच पड़े हुए घास के कौर के चबाने के शब्द को । (५) **नियम्य**--रोककर । ताकि चबाने का शब्द गीत सुनने में व्याघात न पहुँचाये ।(६) **स्थानप्राप्त्या**--(उचित उच्चारण के) स्थानों की प्राप्ति ने । मन्द्र, मध्य तथा तार—इन तीन स्वरों के तीन उत्पत्तिस्थान हैं—हृदय, कंठ और शिर । मन्द्र का सम्बन्ध हृदय से है, मध्य का कण्ठ से तथा तार का सम्बन्ध मस्तक से है । इस गीत में भिन्न-भिन्न स्वर अपने उचित स्थानों से उत्पन्न हुए हैं अर्थात् गीत के स्वरों का उच्चारण उचित ढंग से किया गया है । (७) **प्रकटितगमकाम्**--(ऐसी व्यवस्था) जिसमें गमक (स्वर उठने के प्रकार) प्रकट हुए हैं । गमक का लक्षण—'स्वरोत्थानप्रकारस्तु गमकः परिकीर्तितः । स कम्पितादिभेदेन स्मृतः सप्तविधो बुधैः ।। स्वश्रुतिस्थानसम्भूतां छायां श्रुत्यन्तराश्रयाम् । स्वरो यद् गमयेद् गीते गमकोऽसौ निरूपितः ।।' अर्थात् स्वरों के उठान को गमक कहते हैं । इस गीत में स्वरों का उत्थान स्पष्ट मालूम पड़ रहा है ।(८) **मन्द्रतारव्यवस्थाम्**--मन्द्र=गंभीर तथा तार=उच्च स्वर के नियम को । (९) **दधानम्**—धारण करता हुआ । यह 'गीतम्' का विशेषण है । √धा+लट्—शानच्, द्वित्वादिकार्य । (१०) **निर्ह्रादिन्याः**--अच्छे शब्द वाली । (११) **विपञ्च्याः**--वीणा के । 'वीणा तु वल्लकी विपञ्ची' इत्यमरः । वस्तुतः नौ तारों वाली वीणा को विपञ्ची कहते हैं । जैसे कि भरत ने कहा है--'सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा विपञ्ची नवतन्त्रिका । विपञ्ची कोणवाद्या स्याच्चित्रा चाङ्गुलिवादना ।।' (१२) **अलिरुतेनेव**--भ्रमरों के शब्द (गुंजार)

जैसे। (१३) तन्त्रीस्वरेण--तारों के शब्द से (१४) मिलितम्-- मिला हुआ। (१५) स्फुटललितपदम्--जिसमें सुन्दर पद स्पष्ट है, ऐसा। 'ललितं त्रिषु सुन्दरे' इति शब्दार्णवः। पद्य का तात्पर्य यह है कि गीत मधुर स्वरों में गाया जा रहा है। स्वर ठीक-ठीक स्थान से उच्चारित हो रहे हैं। धीमे और ऊँचे सुरों का मिलान ठीक तरीके से किया गया है। स्वरों का चढ़ाव अच्छी तरह मालूम पड़ता है। गीत की संगति में भौंरों के मधुर गुंजन की तरह वीणा के तारों से मधुर ध्वनि निकल रही है। अतएव हरिण बड़े ध्यान से गीत को सुन रहे हैं।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है, जिसका लक्षण है--'अभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'॥१३॥

विदूषकः---भो वअस्स ! को उण एसो तबोवणे गाअदि ? (भो वयस्य ! कः पुनरेष तपोवने गायति ?)

नायकः---यथैताः कोमलाङ्गुलितलाभिहन्यमाना नातिस्फुटं क्वणन्ति तन्त्र्यस्तथा काकलीप्रधानं गीयत इति तर्कयामि। [अङ्गुल्यग्रेणाग्रतो निर्दिशन्] अस्मिन्नायतने देवतामाराधयन्ती काचिद्दिव्या योषिदुपवीणयति।

विदूषकः---भो वअस्स ! एहि अम्हेवि देवदाअदणं पेक्खम्ह। (भो वयस्य ! एहि आवामपि देवतायतनं प्रेक्षावहे।)

नायकः---वयस्य ! साधूक्तं खलु भवता। वन्द्याः खलु देवताः। [उपसर्पन् सहसा स्थित्वा] वयस्य ! कदाचिद् द्रष्टुमनर्होऽयं जनो भवति। तदावां तमालगुल्मान्तरितौ पश्यन्तावक्सरं प्रतिपालयावः। [तथा कुरुतः]

[ततः प्रविशति भूमावुपविष्टा वीणां वादयन्ती मलयवती चेटी च]

नायिका--[गायति]

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥१४॥

अन्वय--उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! भगवति ! गौरि ! युष्मत्प्रसादेन मम अभिवाञ्छितं हि प्रसिध्यतु ॥१४॥

व्याख्या---एताः तन्त्र्यः--वीणागुणाः, कोमलाङ्गुलितलाभिहन्यमानाः--कोमलैः सुकुमारैः अङ्गुलितलैः करशाखाग्रभागैः अभिहन्यमानाः ताड्यमानाः (सत्यः), नातिस्फुटं--नातिस्पष्टं, क्वणन्ति--नदन्ति, काकलीप्रधानं--काकली सूक्ष्ममधुरध्वनिः प्रधानं मुख्यं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा, गीयते, इति, तर्कयामि--सम्भावयामि। आयतने--देवमन्दिरे, देवताम्, आराधयन्ती--प्रसादयन्ती, काचित्, दिव्ययोषित्--दिव्या स्वर्गीया योषित् रमणी, उपवीणयति--वीणानादमिश्रितेन संगीतेन तां प्रसादयतीत्यर्थः। प्रेक्षावहे--अवलोकयावः। अनर्हः--अयोग्यः। तमालगुल्मान्तरितौ--तमालगुल्मेन तमालवृक्षकुञ्जेन अन्तरितौ अन्तर्हितौ, अवसरम्--उपयुक्तसमयं, प्रतिपालयावः--प्रतीक्षावहे।

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते--उत्फुल्लस्य विकसितस्य कमलस्य पद्मस्य ये केसराः किञ्जल्काः तेषां परागः धूलिः तद्वत् गौरा पीता द्युतिः कान्तिः यस्याः तादृशि !, भगवति--ऐश्वर्यविशिष्टे ! गौरि--पार्वति !, युष्मत्प्रसादेन--तवानुग्रहेण, मम--मे, अभिवाञ्छितं--मनोरथः, प्रसिध्यतु--निष्पन्नतां यातु ॥१४॥

अनुवाद--विदूषक--हे मित्र ! तपोवन में यह कौन गा रहा है ?

नायक--जिस लिए ये वीणा के तार कोमल अंगुलियों के अग्रभाग से ताडित होते हुए बहुत स्पष्ट नहीं बज रहे हैं, इसलिए मेरा अनुमान है कि सूक्ष्म तथा मधुर स्वर में (यह गीत) गाया जा रहा है। [अंगुलियों के अग्रभाग से आगे दिखलाता हुआ] इस मन्दिर में देवता की आराधना करती हुई कोई दिव्य रमणी वीणा बजा कर गा रही है।

विदूषक--हे मित्र ! आओ, हम दोनों भी देवमन्दिर को देखें।

नायक--मित्र ! आपने अच्छा कहा। देवताओं की वंदना अवश्य करनी चाहिए। [पास जाता हुआ सहसा रुककर] मित्र ! कदाचित् यह व्यक्ति देखने

योन्य न हो । इसलिए हम दोनों तमालवृक्षों के वन में छिपकर देखते हुए अवसर की प्रतीक्षा करें । [वैसा करते हैं]

[तदनन्तर भूमि पर बैठी हुई और वीणा बजाती हुई मलयवती और चेटी प्रवेश करती हैं]

नायिका--[गाती है]

विकसित कमल के केसरों की धूलि के समान गौर कान्ति वाली हे भगवती गौरी ! आपकी कृपा से मेरा मनोरथ सिद्ध हो जाये ।।१४।।

टिप्पणी--(१) **काकलीप्रधानम्**--जिसमें सूक्ष्म मधुर ध्वनि प्रधान हो । 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे' इत्यमरः । काकली प्रधाना यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा (ब० स०) । यह क्रियाविशेषण है । √कल्+इन् =कलिः, कु ईषत् कलिः (कुगति प्रादयः इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासः), कोः कादेशः=काकलि+ङीष्=काकली । (२) **उपवीणयति**--वीणा बजाकर गा रही है । वीणया उपगायति इति उपवीणयति उपवीणा+णिच् 'सत्यापपाशरूप-वीणातूल'--इत्यादिसूत्रेण, (नामधातु)+लट्--ति । (३) **उत्फुल्लकमल-केसरपरागगौरद्युते**--खिले हुए कमल के केसरो (रेशों) की धूलि के समान गौर वर्ण वाली । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'स्यात् परागः पुष्परजः' इति चामरः । (४) **भगवति**--हे ऐश्वर्यशालिनि । भगम् ऐश्वर्यम् अस्ति अस्याः इति भगवती भग+मतुप्, वत्व+ङीप् । 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानविज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।' (विष्णुपुराण) । यद्यपि 'शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् । आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्री प्रयोजयेत् ।।' इस साहित्यदर्पण के वचन के अनुसार यहाँ नायिका के गायन का निबन्धन महाराष्ट्रीप्राकृत में होना चाहिए था, किन्तु 'कार्यतश्चोत्त-मादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः' इस विशेष नियम के अनुसार इस पूजा के अवसर पर श्रेष्ठ देवता की स्तुति में कवि ने संस्कृतभाषा का प्रयोग किया है ।

इस पद्य में आर्या छन्द है । इस आर्या को साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में विश्वनाथ ने 'गेयपद' के उदाहरण में दिया है, 'गेयपद' लास्य के दश भेदों में से पहला है, जिसका लक्षण है--'तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः । शुष्कं गानं गेयपदम्......।' (सा० द०) ।।

नायकः--[कर्णं दत्त्वा] वयस्य ! अहो गीतम् अहो वाद्यम् !

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छाप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ।।१५।।

अन्वय--अत्र अमुना दशविधेन अपि व्यञ्जनधातुना व्यक्तिः लब्धा, अयं त्रिधा लयः द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नः विस्पष्टः, गोपुच्छाप्रमुखाः तिस्रः अपि यतयः क्रमेण सम्पादिताः च तत्त्वौघानुगताः त्रयः वाद्यविधयः सम्यक् दर्शिताः ।।१५।।

व्याख्या--अत्र--अस्मिन् गाने, अमुना दशविधेनापि--समग्रेण दशप्रकारेणापि, व्यञ्जनधातुना--वीणावादनकौशलेन, व्यक्तिः--स्पष्टता, लब्धा--प्राप्ता, अयम्--एषः, त्रिधा--त्रिप्रकारेण, द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नः--द्रुतश्च मध्यश्च लम्बितश्च तैः परिच्छिन्नः सम्यक् कृतप्रभेदः, विस्पष्टः--विशेषेण स्पष्टीकृतः, गोपुच्छाप्रमुखाः--गोपुच्छाप्रधाना, तिस्रः अपि--त्रिप्रकारका अपि, यतयः--तालानां विरामरूपाः, क्रमेण--यथाक्रमं, सम्पादिताः--स्थापिताः, च--तथा, तत्त्वौघानुगताः--तत्त्वात्मकम् ओघात्मकम् अनुगतात्मकम्, त्रयः वाद्यविधयः--त्रिविधोऽपि वाद्यप्रकारः, सम्यक्--सुचारुरूपेण, दर्शिताः--प्रकटीकृताः ।।१५।।

अनुवाद--नायक--[कान देकर] मित्र ! अहा ! कितना अच्छा गाना और कितना अच्छा बजाना है।

इस गाने में दशो प्रकार के व्यञ्जनधातु (कल, तल आदि बजाने की विधि) को अभिव्यक्ति मिली है, यह तीन प्रकार का लय--द्रुत, मध्य और लम्बित रूप में विभक्त--अच्छी तरह स्फुट है, गोपुच्छा आदि तीनों यतियाँ क्रमशः रखी गई हैं और तत्त्व, ओघ एवं अनुगत नामक तीनों वाद्य-विधियाँ भली भाँति दिखाई गई हैं ।।१५।।

टिप्पणी--(१) व्यञ्जनधातुना--व्यञ्जनरीति । वीणा बजाने के चार प्रकार होते हैं। इनमें व्यञ्जनरीति सबसे श्रेष्ठ है । व्यञ्जयति विशेषात् इति

व्यञ्जनः=स्वरों की सब सूक्ष्मताओं को प्रकट करने वाला। धातु=बजाने की विधि या रीति। भरतमुनि के अनुसार व्यञ्जनधातु दश प्रकार का होता है— 'इति दशविधः प्रयोज्यो वीणायां व्यञ्जनो धातुः'। उन दशों के नाम ये हैं— १ कल, २ तल, ३ निष्कोटित, ४ उन्मृष्ट, ५ रेफ, ६ अवमृष्ट, ७ पुष्प, ८ अनुस्वनित, ९ बिन्दु, १० अनुबन्ध।

व्यञ्जनधातुर्ज्ञेयः कलतलनिष्कोटितान्यथोन्मृष्टम्।
रेफावमृष्टपुष्पानुस्वनितं विन्दुरनुबन्धः॥

(नाट्यशास्त्र २९,८९)

उक्त दशों के लक्षण इस प्रकार वर्णित है—

अङ्गुष्ठाभ्यां तु तन्त्रीणां स्पर्शनं यत् कलं तु तत्।
वामेन पीडनं कृत्वा दक्षिणेनाहतिस्तलम् ॥९०॥
सव्याङ्गुष्ठप्रहारश्च निष्कोटितमिहोच्यते।
सव्याप्रदेशिनीघातमुन्मृष्टमिति संज्ञितम् ॥९१॥
सर्वाङ्गुलिसमाक्षेपात् रेफ इत्यभिधीयते।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाभ्यां तु दक्षिणाभ्यामधोगतम् ॥९२॥
तन्त्रीषु त्रिप्रकारं वाप्यवमृष्टमिति स्मृतम्।
कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयुक्तं पुष्पमित्यभिधीयते ॥९३॥
तलस्थानेऽधरन्यासस्तथानुस्वनितमुच्यते।
गुर्वक्षरैकतन्त्र्यां तु विन्दुरित्यभिसंज्ञितः ॥९४॥
व्याससमासादेषामनुबन्धः सार्वधातुको ज्ञेयः।

(नाट्यशास्त्र २९)

(२) व्यक्तिः—स्पष्टता। वि√अञ्ज्+क्तिन्। (३) लयः—तालों के बीच का समय। कहा भी है—

तालान्तरालवर्ती यः स कालो लय उच्यते।
त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्यो विलम्बितः॥

(४) गोपुच्छाप्रमुखाः—गोपुच्छा है प्रधान जिनमें ऐसी (यतियाँ)। तालों

के विराम को 'यति' कहते हैं। समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा नाम की तीन यतियां हैं। जैसा कि कहा है--

तालच्छन्दोऽवगतिविषये वाद्यते यो विरामः
वाद्यैर्हीनः श्रवणसुभगो नामतः सा यतिः स्यात् ॥
लयगानाद् यतिः सम्यक् कथिता दत्तिलादिभिः।
समा स्रोतोवहा चैव गोपुच्छा चेति सा त्रिधा ॥

(५) **तत्त्वौघानुगताः**--तत्त्व, ओघ और अनुगत नामक वाद्यविधियाँ (बजाने के ढंग)। जसा कि कहा है--

त्रिविधं वैणवं वाद्यं कर्तव्यं गीतसंश्रयं तज्ज्ञैः।
तत्त्वं तथानुगतमोघश्चानेककरणसंयुक्तम् ॥१०२॥

इनके लक्षण--

लयतालवर्णपदयतिगीत्यक्षरभावकं भवेत् तत्त्वम्।
गीतं च यदनुगच्छेदनुगतमित्युच्यते वाद्यम् ॥१०३॥
आविद्धकरणबहुलमुपर्युपरिपाणिकं द्रुतलयं च।
अनपेक्षितगीतार्थं वाद्यं चौघं बुधैर्ज्ञेयम् ॥१०४॥
स्थिते तत्त्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत्।
द्रुते चौघं प्रयुञ्जीयादेष वाद्यगतो विधिः ॥१०५॥

(नाट्यशास्त्र २९)

इस श्लोक में शास्त्रीय गान तथा वाद्य-विधान का वर्णन किया गया है। इससे कवि का संगीतशास्त्रपाटव प्रकट होता है। यह पद्य नाटककार के अन्य ग्रन्थ 'प्रियदर्शिका' में भी प्राप्त होता है। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१५॥

चेटी--[सप्रणयम्] भट्टिदारिए! चिरं क्खु बादअंतीएं कुदो ण परिस्समो अग्गहत्थाणं? (भर्तृदारिके! चिरं खलु वादयन्त्याः कुतो न परिश्रमोऽग्रहस्तयोः?)

नायिका--[साधिक्षेपम्] हञ्जे! कुदो मे देईए पुरदो बीणं बादअन्तीए अग्गहत्थाणं परिस्समो? (हञ्जे! कुतो मे देव्याः पुरतो वीणां वादयन्त्या अग्रहस्तयोः परिश्रमः?)

चेटी--भट्टिदारिए ! णं भणामि किं एदाए णिक्करुणाए पुरदो बाइदेण ? जा एत्तिअं कालं कण्णआजणदुक्करेहिं णिअमोबास णेहिं आराधअन्तीए अज्जबि ण दे पसादं दंसेदि। (भर्तृदारिके! ननु भणामि किमेतस्या निष्करुणायाः पुरतो वादितेन ? या एतावन्तं कालं कन्यकाजनदुष्करैर्नियमोपासनैराराधयन्त्या अद्यापि न ते प्रसादं दर्शयति।

विदूषकः—भो वअस्स ! कण्णआ क्खु एसा, किं ण पेक्खम्ह ? (भो वयस्य ! कन्यका खल्वेषा, किं न प्रेक्षावहे ?)

नायकः--को दोषः ? निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति। किन्तु कदाचिदस्मान् दृष्ट्वा बालभावसुलभलज्जासाध्वसान्न चिरमिह तिष्ठेत्, तदनेनैव तावल्लताजालान्तरेण पश्यावः।

विदूषकः--एव्वं करेम्ह। (एवं कुर्वः।) [उभौ तथा पश्यतः]

व्याख्या—भर्तृदारिके--हे राजकुमारि। चिरं—दीर्घकालं, भणामि--कथयामि, निष्करुणायाः--दयारहितायाः, देव्याः--भगवत्याः, पुरतः—अग्रे, वादितेन--वादनेन, किम्--अलम्। कन्यकाजनदुष्करैः--कन्यकाजनेन अनुकम्पार्हकुमारिकारिकाजनेन दुष्कराणि दुःखेन साध्यानि तैः, नियमोपसनैः—नियमाः विविधानि व्रतानि तानि च उपासनानि च परिचर्याश्च तैः, आराधयन्त्याः—सम्यक् पूजयन्त्याः, प्रसादम्--अनुग्रहम्। निर्दोषदर्शनाः--निः नास्ति दोषो यस्मिन् एवम्भूतं दर्शनम् अवलोकनं यासां तादृश्यः। बालभावसुलभलज्जासाध्वसात्--बालभावेन बालस्वभावेन सुलभा अयत्नसाध्या या लज्जा तया साध्वसं भीतिः तद्धेतोः, लताजालान्तरेण--लतानां वल्लीनां जालं समूहः तदेव अन्तरं व्यवधानं तेन।

अनुवाद—चेटी—[प्रेम के साथ] राजकुमारी जी ! बहुत देर से बजाती हुई आपकी अंगुलियों में क्या थकावट नहीं होती है ?

नायिका—[झिड़की के साथ] चेटी ! देवी के आगे वीणा बजाती हुई मेरी अंगुलियों में थकावट क्यों होगी ?

चेटी—राजकुमारी जी ! मैं तो यह कहती हूँ कि इस निर्दय के आगे बजाने से क्या लाभ ? जो इतने समय तक कन्याओं द्वारा कठिनता से किये जाने वाले व्रतों और उपासनाओं से आराधना करती हुई आप पर आज भी प्रसन्नता नहीं दिखलाती ।

विदूषक—हे मित्र ! यह कन्या ही तो है, क्यों न देखें ?

नायक—क्या दोष है ? कन्याओं को देखने में कोई दोष नहीं है। किन्तु कदाचित् हमें देखकर बालस्वभाव के कारण सुलभ लज्जा और भय से वह यहाँ अधिक देर न ठहरे। इसलिए तब तक इसी लता-समूह की आड़ से देखें।

विदूषक—ऐसा ही करें। [दोनों वैसा करके देखते हैं]

टिप्पणी—(१) **भर्तृदारिके**—हे राजकुमारी। नाट्योक्ति में राजकुमारी को चेटी आदि के द्वारा 'भर्तृदारिका' कहकर सम्बोधित किया जाता है। 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्तृदारिका' इत्यमरः (२) **अग्रहस्तयोः**—अंगुलियों को। (३) **साधिक्षेपम्**—झिड़की या निन्दा के साथ। (४) **हञ्जे**—नाट्योक्ति में चेटी को 'हञ्जे' कहकर सम्बोधित किया जाता है। 'हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः। 'समानाभिस्तथा सख्यो हलाभाष्याः परस्परम्। प्रेष्या हञ्जेति वक्तव्या स्त्रिया या तूत्तमा भवेत्॥' (नाट्यशास्त्र)। (५) **निष्करुणायाः**—निर्दय, कठोर। निर्गता करुणा यस्याः सा निष्करुणा (प्रादि-बहुव्रीहि), तस्याः। (६) **कन्यकाजनदुष्करैः**—कन्याओं द्वारा कठिनता से किये जाने योग्य। 'कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना' इति विश्वनाथः। अनुकम्पार्हाः कन्याः कन्यकाः कन्या+कन् अनुकम्पार्थे, ह्रस्वता। दुस्√कृ+खल् =दुष्कर। (७) **नियमोपासनैः**—व्रत और उपासनाओं द्वारा। 'नियमो मन्त्रणायां च प्रतिज्ञानिश्चये व्रते' इति मेदिनी। (८) **निर्दोषदर्शनाः**—जिनका दर्शन निर्दोष हो अर्थात् जिनके देखने में कोई दोष न हो ऐसी। (९) **बाल-भावसुलभलज्जासाध्वसात्**—बालापन में साधारणतया पायी जाने वाली लज्जा और भय से। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः।

विदूषकः—[दृष्ट्वा सविस्मयम्] **भो वअस्स ! पेक्ख पेक्ख। अहह अच्चरिअं ! ण केवलं वीणाविण्णाणेणेव्व सुहं करेदि। जाव इमिणा वीणाविण्णाणाणुरूवेण रूवेण वि अच्छीणं सुहं उप्पादेदि।**

का उण एसा ? किं दाव देई ? आहो णाअकण्णआ ? आहो विज्जाहरदारिआ ? आहो सिद्धकुलसम्भवेत्ति ? (भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । अहह आश्चर्यम् ! न केवलं वीणाविज्ञानेनैव सुखं करोति, यावत् अनेन वीणाविज्ञानानुरूपेण रूपेणापि अक्ष्णोः सुखमुत्पादयति । का पुनरेषा ? किं तावत् देवी ? आहोस्वित् नागकन्यका ? आहोस्वित् विद्याधरदारिका ? आहोस्वित् सिद्ध-कुलसम्भवेति ?

नायकः--[सस्पृहमवलोकयन्] वयस्य ! केयमिति नाव-गच्छामि । एतत् पुनरहं जानामि ।

स्वर्गस्त्री यदि तत् कृतार्थमभवच्चक्षुः सहस्रं हरे-
र्नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते ।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ॥१६॥

अन्वय--यदि स्वर्गस्त्री तत् हरेः चक्षुः सहस्रं कृतार्थम् अभवत्, चेत् नागी अस्याः मुखे स्थिते रसातलं शशभृता शून्यं न, चेद् इयं विद्याधरी नः जातिः सकलान्यजातिजयिनी स्यात्, यदि सिद्धान्वयजा ततः त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धाः ॥१६॥

व्याख्या--वीणाविज्ञानानुरूपेण--वीणायाः विपञ्च्याः विज्ञानं वादनकौशलं तदनुरूपेण तत्तुल्येन, रूपेण--सौन्दर्येण, अपि, अक्ष्णोः--नेत्रयोः, सुखम्--आन-न्दम्, उत्पादयति--जनयति । आहोस्वित्--अथवा ।

यदि--चेत्, (इयं दृश्यमाना कन्या) स्वर्गस्त्री--स्वर्गलोकाधिवासिनी रमणी, तत्--तर्हि, हरेः--इन्द्रस्य, चक्षुः सहस्रं--नेत्रबाहुल्यं, कृतार्थं--सफलम्, अभवत्--जातम् । चेत्--यदि, नागी--नागलोकवासिनी, अस्याः, मुखे--वदने, स्थिते--विद्यमाने, रसातलं--पाताललोकः, शशभृता--चन्द्रेण, शून्यं--रिक्तं, न--नहि । चेत्, इयम्--एषा, विद्याधरी--विद्याधरकुलोत्पन्ना, नः--अस्माकं जातिः, सकलान्यजातिजयिनी--सकलाः समस्ताः अन्यजातयः सुरासुरादिजातयः तासां जयिनी, स्यात्--भवेत् । यदि, सिद्धान्वयजा--सिद्धानां देवयोनिविशेषाणाम्

अन्वयात् वंशात् जाता, ततः---तर्हि, त्रिभुवने---त्रैलोक्ये, सिद्धाः---सिद्धजातीयाः जनाः, प्रसिद्धाः---विख्याताः (स्युः) ।।१६।।

अनुवाद---विदूषक---[देखकर आश्चर्य के साथ] हे मित्र! देखो-देखो। अहा आश्चर्य है! यह न केवल वीणा के विशिष्ट ज्ञान के द्वारा ही आनन्दित कर रही है, बल्कि वीणा के विशिष्ट ज्ञान के अनुरूप ही रूप के द्वारा भी नयनसुख उत्पन्न कर रही है। यह कौन है? क्या (यह कोई) देवी है? अथवा नागकन्या है? अथवा विद्याधर-कुमारी है? अथवा सिद्धों के वंश में उत्पन्न हुई है?

नायक---[अभिलाष के साथ देखता हुआ] मित्र! यह कौन है, यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु इतना मैं जानता हूँ कि---

यदि (यह कोई) स्वर्गलोक की स्त्री है तो इन्द्र के हजार नेत्र कृतकृत्य हो गये। यदि (यह) नागलोक की है तो इसके मुख के रहते पाताल चन्द्रमा से शून्य नहीं है। यदि यह विद्याधरी है तो हमारी जाति सभी अन्य जातियों को जीतने वाली होगी। यदि सिद्धों के वंश में उत्पन्न हुई है तो सिद्ध लोग तीनों लोक में प्रसिद्ध हो जायँगे ।।१६।।

टिप्पणी---(१) वीणाविज्ञानेन---वीणा के विशिष्ट ज्ञान या वीणावादन-पटुता के द्वारा। (२) अनुरूप---समान। (३) रूपेण---सौन्दर्य के द्वारा। (४) अक्ष्णोः---आँखों के। (५) आहोस्वित्---अथवा। यह पक्षान्तरसूचक अव्यय है। (६) हरेः---इन्द्र के। 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कक्ष्णसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।।' इत्यमरः। (७) चक्षुःसहस्रम्---हजार नेत्र। चक्षुषां सहस्रम् (ष० त०)। कृतार्थम्---सफल। कृतः आचरितः अर्थः प्रयोजनं यस्य तत् (ब० स०)। (८) नागी---नागलोकवासिनी स्त्री। नाग+ ङीष्। किन्तु ङीष्‌विधायक 'जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनाग'--इत्यादि सूत्र से स्थूलता के अर्थ में ङीष् होता है। जैसा कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में उक्तसूत्र के नीचे लिखा है--'नागी स्थूला चेत्। नागाऽन्या। गजवाची नागशब्दः स्थौल्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम्। सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्तः प्रत्युदाहरणम्।' अतएव यहाँ ङीष् चिन्त्य है। (९) शशभृता---चन्द्रमा से। शशः चन्द्रकलङ्कः तं बिभर्ति इति शशभृत् शश√भृ+क्विप्, तुक्

आगम, तेन। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य लोक में पूर्णचन्द्र की विद्यमानता कभी-कभी होती है, किन्तु इस चन्द्रमुखी के रहते नागलोक में पूर्णचन्द्र की विद्यमानता अक्षुण्ण रहती होगी, अतएव यहाँ नागलोक की अन्य लोकों से श्रेष्ठता व्यञ्जित हो रही है। (१०) **सकलान्यजातिजयिनी**—अन्य सभी जातियों को जीतने वाली। अन्या: जातय:, सकला: अन्यजातय: (कर्म० स०), तासां जयिनी (ष० त०)। जयिनी—√जि+इति 'जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च' इति सूत्रेण, ततो ङीष्। (११) **सिद्धान्वयजा**--सिद्धों (देवयोनिविशेषों) के कुल में उत्पन्न। 'अन्ववायोऽन्वयो वंश:' इत्यमर:। (१२) **त्रिभुवने**--तीनों लोक में। त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् (समाहारद्विगुतत्पुरुष), तस्मिन्।

इस श्लोक में प्रकृत में अप्रकृत वस्तु का संशय होने से सन्देहालंकार है, जिसका लक्षण है--'सन्देह: प्रकृतेऽन्यस्य संशय: प्रतिभोत्थित:'। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१६॥

विदूषक:—[नायकमवलोक्य सहर्षमात्मगतम्] दिट्ठिआ चिरस्स दाव कालस्स पडिदो क्खु एसो गोअरे मम्महस्स। [आत्मानं निर्दिश्य भोजनमभिनीय] अहवा णहि णहि, मम एव्व एक्कस्स बह्मणस्स। (दिष्ट्या चिरस्य तावत् कालस्य पतित: खल्वेष गोचरे मन्मथस्य। अथवा नहि नहि, ममैव एकस्य ब्राह्मणस्य।)

चेटी—[सप्रणयम्] भट्टिदारिए! णं भणामि, किं एदाए णिक्करुणाए पुरदो बाइदेण? (भर्तृदारिके! ननु भणामि, किमेतस्या निष्करुणाया: पुरतो वादितेन?) [इति वीणामाक्षिपति]

नायिका—[सरोषम्] हञ्जे! मा भअवदिं गोरिं अधिक्खिव। णं अज्ज किदो मे भअवदीए पसादो। (हञ्जे! मा भगवतीं गौरीमधिक्षिप। नन्वद्य कृतो मे भगवत्या प्रसाद:।)

चेटी—[सहर्षम्] भट्टिदारिए! कहेहि दाव कीरिसो? (भर्तृदारिके! कथय तावत् कीदृश:?)

नायिका—हञ्जे ! जाणामि, अज्ज सिविणए एदं एव्व वीणं वादअंती भअवदीए गोरिए भणिदम्हि—'वच्छे मलअवदि ! परितुट्ठम्हि तुह एदिणा वीणाविण्णाणदिसएण, इमाए अ बालजणदुक्कराए असाहारणाए ममोवरि भत्तिए। ता बिज्जाहरचक्कबट्टी अचिरेण ज्जेव पाणिग्गहणं दे णिव्वत्तइस्सदि' त्ति। (हञ्जे ! जानामि, अद्य स्वप्ने एतामेव वीणां वादयन्ती भगवत्या गौर्या भणितास्मि—'वत्से मलयवति ! परितुष्टास्मि तवैतेन वीणाविज्ञानातिशयेन, अनया च बालजनदुष्करया असाधारणया ममोपरि भक्त्या। तद् विद्याधरचक्रवर्ती अचिरेणैव ते पाणिग्रहणं निर्वर्त्तयिष्यति' इति।)

व्याख्या—दिष्ट्या—सौभाग्येन, चिरस्य तावत्कालस्य—चिरकालानन्तरं, मन्मथस्य—कन्दर्पस्य, गोचरे—विषये, पतितः—अपतत्। पुरतः—अग्रे, [वादितेन—वादनेन। मा अधिक्षिप—नहि आक्षिप। प्रसादः—अनुग्रहः। भणिता—कथिता। वीणाविज्ञानातिशयेन—वीणायाः विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं तस्य अतिशयेन बाहुल्येन। बालजनदुष्करया—बालजनेन अपरिणतवयस्केन दुष्करया दुःखेन कर्तुं शक्तया, असाधारणया—असामान्यया, अचिरेणैव—शीघ्रमेव, विद्याधरचक्रवर्ती—विद्याधराणां चक्रवर्ती राजाधिराजः, पाणिग्रहणं—विवाहं, निर्वर्त्तयिष्यति—निष्पादयिष्यति।

अनुवाद—**विदूषक**—[नायक को देखकर हर्ष के साथ मन में] भाग्य से यह चिरकाल के बाद कन्दर्प के पल्ले पड़ा है। अथवा नहीं नहीं, एकमात्र मुझ ब्राह्मण के ही (पल्ले पड़ा है)।

चेटी—[प्रेम के साथ] राजकुमारी जी! मैं कह रही हूँ कि इस निर्दय (देवी) के आगे बजाने से क्या लाभ ? [यह कह वीणा खींचती है]

नायिका—[क्रोध के साथ] अरी ! भगवती गौरी की निन्दा मत कर। आज भगवती ने मुझ पर कृपा कर दी है।

चेटी—[हर्ष के साथ] राजकुमारी जी ! कहिए, कैसी कृपा की है ?

नायिका—चेटी ! मैं समझती हूँ, आज स्वप्न में इसी वीणा को बजाती हुई मुझसे भगवती गौरी ने कहा है—'बेटी मलयवती ! मैं तुम्हारे इस वीणा

सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान की अधिकता से तथा मेरे प्रति कन्याओं के लिए कठिन इस असाधारण भक्ति से सन्तुष्ट हूँ। इसलिए शीघ्र ही विद्याधरों का सम्राट् तुम्हारा पाणिग्रहण करेगा।'

टिप्पणी--(१) दिष्ट्या--सौभाग्य से। 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः। (२) मन्मथस्य गोचरे--कामदेव के विषय में अर्थात् काम के वशीभूत। तात्पर्य यह है कि अब यह वैराग्यपथ को छोड़कर भोगपथ पर उतरा है, इसलिए मेरे अधीन ही रहेगा। (३) वीणाविज्ञानातिशयेन—वीणावादन की अतिशय कुशलता से। (४) बालजनदुष्करया--बाल व्यक्ति के लिए कठिन। (५) विद्याधरचक्रवर्ती--विद्याधरों का सम्राट्। चक्रं राजमण्डलं वर्तयति इति चक्रवर्ती चक्र√वृत्+णिच्+णिनि। विद्याधराणां चक्रवर्ती (ष० त०)। पाणिग्रहणम्--विवाह। निर्वर्त्तयिष्यति--करेगा।

चेटी--[सहर्षम्] भट्टिदारिए! जइ एव्वं, ता कीस सिविणअं इमं भणीअदि? णं हिअअत्थिदो वरो देईए दिण्णो। (भर्तृदारिके! यद्येवं, तत् कस्मात् स्वप्नः अयं भण्यते? ननु हृदयस्थितो वरो देव्या दत्तः।)

विदूषकः--[श्रुत्वा] भो वअस्स! अवसरो क्खु एसो अम्हाणं देईदंसणस्स। ता एहि उवसप्पम्ह। (भो वयस्य! अवसरः खल्वेषोऽस्माकं देवीदर्शनाय। तदेहि उपसर्पावः।)

नायकः--न तावत् प्रविशामि।

विदूषकः--[अनिच्छन्तमपि नायकं बलादाकृष्य उपसृत्य] सोत्थि भोदीए! भोदि! सच्चकं ज्जेव चदुरिआ भणादि, वरो एव्व सो देईए दिण्णो। (स्वस्ति भवत्यै। भवति! सत्यमेव चतुरिका भणति, वर एव स देव्या दत्तः।)

नायिका--[ससाध्वसमुत्तिष्ठन्ती नायकमुद्दिश्य] हञ्जे! को णु क्खु एसो? (हञ्जे! को नु खल्वेषः?)

चेटी--[नायकं निरूप्यापवार्य] इमाए अणण्णसरिसाए आकिदीए ऐसो सो भअवदीए पसादीकिदो त्ति तक्केमि। (अनया

अनन्यसदृश्या आकृत्या एष स भगवत्या प्रसादीकृत इति तर्कयामि ।)

नायिका--[सस्पृहं सलज्जञ्च नायकमवलोकयति]

नायकः--

तनुरियं तरलायतलोचने !
श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि ! ।
श्रममलं तपसैव गता पुनः
किमिति सम्भ्रमकारिणि ! खिद्यते ? ।।१७।।

अन्वय--तरलायतलोचने ! श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि ! सम्भ्रमकारिणि ! इयं तनुः तपसा एव अलं श्रमं गता, पुनः किमिति खिद्यते ? ॥१७॥

व्याख्या--स्वस्ति--कल्याणम् (भवतु)। ससाध्वसं--सभयम् अनन्यसदृश्या--नेतरसमानया लोकोत्तरयेति यावत्, आकृत्या--स्वरूपेण, प्रसादीकृतः--अनुग्रहस्वरूपेण दत्तः, इति तर्कयामि--इति चिन्तयामि ।

तरलायतलोचने--तरले चञ्चले आयते दीर्घे च लोचने नयने यस्याः तत्सम्बुद्धौ, श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि--श्वसितेन श्वासवायुना कम्पितौ वेपितौ पीनौ स्थूलौ घनौ कठिनौ स्तनौ कुचौ यस्याः तत्सम्बुद्धौ, सम्भ्रमकारिणि--सम्भ्रमं सहसागन्तुकदर्शनजं त्रासं करोति या तथाभूते, इयं--दृश्यमाना, तनुः--शरीरं, तपसा एव--तपश्चरणेनैव, अलं--पर्याप्तं, श्रमम्--आयासं, गता--प्राप्ता, पुनः--भूयः, किमिति--केन हेतुना, खिद्यते--आयास्यते ? ।।१७।।

अनुवाद--चेटी--[हर्ष के साथ] राजकुमारी जी, यदि ऐसी बात है तो इसको स्वप्न क्यों कह रही हैं। निश्चय ही भगवती ने हृदय में विद्यमान वर (पति) दे दिया है।

विदूषक--[सुनकर] हे मित्र ! हम लोगों के देवी के दर्शन करने का यही अवसर है। इसलिए आओ, समीप चलें।

नायक--मैं तो नहीं जाता।

विदूषक--[न चाहते हुए भी नायक को बलपूर्वक खींचकर और पास

जकर] आपका कल्याण हो। कल्याणि ! चतुरिका सच ही कह रही है कि देवी ने वह वर ही दिया है।

नायिका—[भय के साथ उठती हुई, नायक को लक्ष्य करके] चेटी ! यह कौन है ?

चेटी—[नायक को देखकर अलग] इस अलौकिक आकृति से मैं अनुमान करती हूँ कि भगवती के द्वारा प्रसाद रूप में दिया हुआ यह वही (वर) है।

नायिका—[अभिलाष और लज्जा के साथ नायक को देखती है]।

नायक—हे चंचल और लंबी आँखों वाली ! (जोर से) साँस लेने के कारण काँपते हुए स्थूल और निबिड कुचों वाली ! घबराने वाली ! यह शरीर तपस्या से ही पूरी तरह थक चुका हुआ है, फिर (चलने का) कष्ट क्यों उठा रही हो ?॥१७॥

टिप्पणी—(१) **स्वस्ति**—कल्याण हो। यह अव्यय है। यहाँ आशीर्वाद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः। (२) **ससाध्वसम्**—भय के साथ। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः। (३) **उद्दिश्य**—लक्ष्य या संकेत करके। उद्√दिश्+क्त्वा—ल्यप्। (४) **अपवार्य**—अलग। वह गुप्त बात 'अपवारित' कहलाती है जो दूसरे लोगों से मुँह फेरकर कही जाय। 'तद् भवेदपवारितम्। रहस्यं यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।' इसी भाव में 'अपवार्य' का प्रयोग होता है। फलतः ऐसी बात लोगों से अलग ही कही जाती है। (५) **प्रसादीकृतः**—प्रसाद रूप में दिया। अप्रसादः प्रसादः सम्पद्यमानः कृतः इति प्रसादीकृतः प्रसाद+च्वि, इत्व√कृ+क्त। (६) **श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि**—साँस (के वेग) से जिसके मोटे और कठोर कुच हिल रहे थे ऐसी। श्वसितेन कम्पितौ पीनघनस्तनौ यस्याः सा ब० स०, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति सूत्रेण ङीष्=०पीनघनस्तनी, तत्सम्बोधने ०पीनघनस्तनि। (७) **अलम्**—पर्याप्त। 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः

इस श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है, जिसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥१७॥

नायिका—[अपवार्य] हञ्जे ! अदिसद्धसेण ण सक्कुणोमि

एदस्स अहिमुहो ठादुं। [हञ्जे! अतिसाध्वसेन न शक्नोमि एतस्याभिमुखी स्थातुम्।] [नायकं तिर्यक् सलज्जञ्च पश्यन्ती किञ्चित् पराङ्मुखी तिष्ठति]

चेटी--भट्टिदारिए ! किं एदम् । (भर्तृदारिके ! किमेतत् ?)

नायिका--हञ्जे ! ण सक्कुणोमि एदस्स आसण्णे चिट्ठिदुं। ता एहि अण्णदो गच्छम्ह। (हञ्जे! न शक्नोमि एतस्यासन्ने स्थातुम् । तदेह्यन्यतो गच्छावः ।) [उत्थातुमिच्छति ।]

विदूषकः--भो ! भाअदि क्खु एसा। मम पठिअविज्जं विअ मुहुत्तअं धारेमि । (भो ! बिभेति खल्वेषा। मम पठितविद्यामिव मुहूर्तं धारयामि ।)

नायकः--को दोषः ?

विदूषकः--भोदि ! किं एत्थ तुह्माणं तवोवणे ईरिसो आआरो ?--जेण अदिही आअदो वाआमेत्तएण बि ण संभावीअदि ? (भवति ! किमत्र युष्माकं तपोवने ईदृश आचारः ?--येनातिथि-रागतो वाङमात्रेणापि न सम्भाव्यते ?)

चेटी--[नायिकां दृष्ट्वा आत्मगतम्] अणुरज्जदि बिअ एत्थ एदाए दिट्ठी। भोदु, एव्वं दाव भणिस्सं। [प्रकाशम्] भट्टिदारिए ! जुत्तं भणादि बह्मणो । उइदो क्खु दे अदिहिजणसक्कारो । ता किं ईरिसे महाणुभावे पडिबत्तिमूढा चिट्ठसि ? अहवा चिट्ठ तुमं, अहं एब्ब जधाणुरूबं करइस्सं। [नायकं निर्दिश्य] साअदं अज्जस्स ? आसणपडिग्गहेण अलङ्करेदु अज्जो इमं पदेसं । (अनुरज्यतीवात्रैतस्या दृष्टिः । भवतु, एवं तावत् भणिष्यामि । भर्तृदारिके! युक्तं भणति ब्राह्मणः । उचितः खलु ते अतिथिजन-सत्कारः । तत् किमीदृशे महानुभावे प्रतिपत्तिमूढा तिष्ठसि ? अथवा तिष्ठ त्वम्, अहमेव यथाऽनुरूपं करिष्यामि। स्वागतमार्यस्य । आसनपरिग्रहेण अलङ्करोत्वार्य इमं प्रदेशम् ।)

विदूषकः--भो वअस्स ! सोहणं एसा भणादि । उबविसिअ एत्थ मुहुत्तअं वीसमम्ह । (भो वयस्य ! शोभनमेषा भणति। उप-विश्यात्र मुहूर्तं विश्राम्यावः ।)

नायकः—युक्तमाह भवान् । [उभावुपविशतः]

नायिका—[चेटीमुद्दिश्य] अइपरिहासशीले ! मा एवं करेहि । कदाबि कोबि ताबसो पेक्खदि, तदो मं अविणीदेत्ति संभावइस्सदि । (अयि परिहासशीले ! मा एवं कुरु । कदापि कोऽपि तापसः प्रेक्षते, ततो मामविनीतेति सम्भावयिष्यति ।)

व्याख्या—पठितविद्यामिव—पठिताम् अभ्यस्तां, विद्यामिव, मुहूर्तम्—अल्पसमयं यावत्, धारयामि—तव पुरतः स्थापयामि । अतिथिः—अभ्यागतः, वाङ्मात्रेणापि—केवलया वाचापि, न सम्भाव्यते—न सत्क्रियते । अनुरज्यतीव—अनुरागं बध्नातीव । महानुभावे—महान् अनुभावः प्रभावो यस्य तादृशे, यथानुरूपं—यथायोग्यम् । आसनपरिग्रहेण—आसनस्य स्वीकरणेन, प्रदेशं—स्थानम्, अलङ्करोतु—विभूषयतु । तापसः—तपस्वी, प्रेक्षते—पश्यति, अविनीता—दुःशीला ।

अनुवाद—**नायिका**—[अलग] चेटी ! अतिशय भय के कारण मैं इसके सामने नहीं ठहर सकती । [नायक को लज्जा के साथ तिरछी निगाह से देखती हुई कुछ मुँह फेरे खड़ी रहती है ।]

चेटी—राजकुमारी जी ! यह क्या ?

नायिका—चेटी ! मैं इसके पास ठहर नहीं सकती । इसलिए आओ, दूसरी ओर चलें । [उठना चाहती है]

विदूषक—अजी ! यह तो डर रही है । मैं अपनी पढ़ी हुई विद्या की तरह इसे थोड़ी देर रोक रखता हूँ ।

नायक—(इसमें) क्या दोष है ?

विदूषक—शुभे ! क्या यहाँ आपके तपोवन में ऐसा ही आचार (रीति) है कि आये हुए अतिथि का वचन से भी सत्कार नहीं किया जाता है ?

चेटी—[नायिका को देखकर मन में] इसकी दृष्टि इस (पुरुष) के प्रति अनुराग जैसे कर रही है । अच्छा, इस प्रकार कहूँगी । [प्रकट रूप से] राजकुमारी जी ! ब्राह्मण ठीक कह रहा है । अतिथि का सत्कार करना आपके लिए उचित है । तब ऐसे महानुभाव के विषय में आप किंकर्तव्यविमूढ क्यों

हो रही हैं ? अथवा आप ठहरिए, मैं यथोचित (कर्तव्य) कर दूँगी । [नायक की ओर लक्ष्य करके] आपका स्वागत है । आप आसन स्वीकार करके इस स्थान को अलंकृत करें ।

विदूषक--हे मित्र ! यह सुन्दर कह रही है । यहाँ बैठकर हम लोग थोड़ी देर विश्राम करें ।

नायक--आपने ठीक कहा । [दोनों बैठते हैं]

नायिका--[चेटी को लक्ष्य करके] अरी विनोदप्रिय ! ऐसा मत करो । यदि कोई तपस्वी देख लेगा तो मुझे उद्दण्ड समझेगा ।

टिप्पणी--(१) **तिर्यक् पश्यन्ती**--तिरछी चितवन डालती हुई । (२) **पराङ्मुखी**--विमुख, मुँह फेरे हुई । (३) **आसन्ने**--समीप में । (४) **पठितविद्यामिव**--पढ़ी हुई विद्या की भाँति । विदूषक के कहने का भाव यह है कि जैसे मैं अपनी अभ्यस्त विद्या को थोड़ी ही देर धारण कर पाता हूँ, क्षणमात्र में सब भूल जाता हूँ, उसी तरह इस कन्या को भी थोड़ी ही देर रोक पाऊँगा। (५) **आचारः**--शिष्टाचार, रीति। (६) **अतिथिः**--अभ्यागत । अतति सातत्येन गच्छति, न तिष्ठति इति√अत्+इथिन् अथवा न विद्यते (द्वितीया) तिथिः यस्य स अतिथिः। यास्क ने निरुक्त में इस शब्द की व्युत्पत्ति की है--'अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा' । (७) **वाङ्मात्रेणापि**--वाणीमात्र से भी । अतिथियों का सत्कार, सामग्री के अभाव में, वाणी मात्र से भी करना चाहिए, जसा कि कहा गया है--'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेह नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' (८) **न सम्भाव्यते**--नहीं सम्मानित किया जाता है । (९) **प्रतिपत्तिमूढा**--अभ्यर्चना आदि सत्कार करने में अनभिज्ञ । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रकृतौ गौरवेऽपि च' इति मेदिनी ।

[ततः प्रविशति तापसः]

तापसः--आज्ञापितोऽस्मि कुलपतिना कौशिकेन, यथा--'वत्स शाण्डिल्य ! पितुराज्ञया सिद्धराजमित्रावसुर्भविष्यद्विद्याधरचक्रवर्तिकुमारजीमूतवाहनमिहैव मलये पर्वते क्वापि वर्तमानं भगिन्या मलयवत्या वरहेतोर्द्रष्टुमद्य गतः । तञ्च प्रतीक्षमाणाया मलयवत्याः

कदाचित् मध्यन्दिनसवनवेलातिक्रामेत्, तदेनामाहूयागच्छ' इति। तत् तपोवनगौरीगृहमेव गच्छामि। [परिक्रम्य भूमिं निरूप्य सविस्मयम्] अये! कस्य पुनरियं पांसुले भूप्रदेशे प्रकाशितचक्र-चिह्ना पदपंक्तिः? [अग्रतो जीमूतवाहनं निर्दिश्य] नूनमस्यैवेयं महापुरुषस्य। तथाहि--

उष्णीषः स्फुट एष मूर्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
श्चक्षुस्तामरसानुकारि हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्धते।
चक्राङ्कञ्च यथा पदद्वयमिदं मन्ये तथा कोऽप्ययं
नो विद्याधरचक्रवर्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यति ॥१८॥

अन्वय--मूर्धनि एषः उष्णीषः स्फुटः, भ्रुवोः अन्तः इयम् ऊर्णा विभाति, चक्षुः तामरसानुकारि, वक्षः स्थलं हरिणा स्पर्धते च यथा इदं पदद्वयं चक्राङ्कं तथा मन्ये अयं कोऽपि विद्याधरचक्रवर्तिपदवीम् अप्राप्य नो विश्राम्यति ॥१८॥

व्याख्या--कुलपतिना--आश्रमाध्यक्षेण, कौशिकेन--अस्मदुपाध्यायेन, आज्ञापितोऽस्मि--आदिष्टोऽस्मि। प्रतीक्षमाणायाः--प्रतिपालयन्त्याः, मलयवत्याः, मध्यन्दिनसवनवेला--मध्यन्दिने मध्याह्ने कर्तव्यं यत् सवनं स्नानं तस्य वेला समयः, अतिक्रामेत् व्यतीता भवेत्। आहूय--आकार्य। पांसुले--धूलिप्रचुरे, भूप्रदेशे--भूमिभागे, प्रकाशितचक्रचिह्ना--प्रकाशितानि स्फुटं दृश्यमानानि चक्रचिह्नानि चक्रवर्तिनः राजाधिराजस्य चिह्नानि छत्रकुलिशादीनि लक्षणानि यस्याः तथाभूता, पदपंक्तिः--चरणाङ्कराशिः।

मूर्धनि--मस्तके, एषः--अयम्, उष्णीषः--चिह्नविशेषः, स्फुटः--स्पष्टं लक्ष्यमाणः, भ्रुवोः अन्तः--भ्रूमध्यभागे, इयम्--एषा, ऊर्णा--आवर्ताकारं सूक्ष्मलोममयं चक्रवर्तित्वव्यञ्जकं चिह्नं, विभाति--शोभते, चक्षुः--नेत्रं, तामरसानुकारि--तामरसं रक्तकमलम् अनुकरोति अनुसरति इति तथाभूतम्, वक्षःस्थलम्--उरः, हरिणा--सिंहेन, स्पर्धते--तत्सादृश्यमधिगच्छति, च--एवम्, यथा--येन प्रकारेण, इदं--धूलावुद्धृतं, पदद्वयं--चरणद्वयं, चक्राङ्कं--चक्रचिह्नितं, तथा--तेन प्रकारेण, मन्ये--सम्भावयमि, अयं, कोऽपि (पुरुषः), विद्याधरचक्रवर्तिपदवीं--विद्याधराणां चक्रवर्तिनः सम्राजः पदवीं पदम्, अप्राप्य--अलब्ध्वा, नो विश्राम्यति--नैव निवर्तते ॥१८॥

अनुवाद--[तदनन्तर एक तपस्वी का प्रवेश करता है]

तापस--कुलपति कौशिक ने मुझे आज्ञा दी है कि--'वत्स शाण्डिल्य ! पिता की आज्ञा से सिद्धराज मित्रावसु इसी मलयपर्वत पर कहीं रहते हुए, विद्याधरों के भावी सम्राट् जीमूतवाहन को (अपनी) बहन मलयवती का वर (पति) निश्चित करने के निमित्त आज देखने गये हैं। उसकी प्रतीक्षा करती हुई मलयवती को कदाचित् दोपहर की स्नानवेला बीत जाए, इसलिए उसे बुलाकर ले आओ'। अतः मैं तपोवन के पार्वती-मन्दिर को ही जाता हूँ। [घूमकर भूमि को देखकर आश्चर्य के साथ] अरे ! धूलिमय प्रदेश में स्पष्ट चक्रवर्ती के चिह्नों से युक्त यह किसके पैरों की पंक्ति है ? [आगे जीमूतवाहन की ओर निर्देश करके] यह निश्चित ही इसी महापुरुष की है। क्योंकि--

(इसके) मस्तक पर पट्टबन्धरेखा स्पष्ट है, दोनों भौंहों के बीच यह सूक्ष्मलोममय भौंरी का चिह्न शोभित हो रहा है, नेत्र रक्तकमल के समान है, छाती सिंह (की छाती) से होड़ करती है और जिस तरह इन दोनों पैरों में चक्र के चिह्न हैं, उससे मैं समझता हूँ कि यह कोई पुरुष विद्याधरों के सम्राट् पद को बिना पाये नहीं रहेगा ॥१८॥

टिप्पणी--(१) **कुलपतिना**--कुलपति उसे कहते हैं जो दश सहस्र छात्रों को भोजन-वस्त्रादि समेत विद्यादान देता है--'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादि-पोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥' (२) **मध्यन्दिनसवनवेला**--दोपहर के स्नान का समय। दिनस्य मध्ये इति मध्यन्दिनम्, तत्र यत् सवनं स्नानं तस्य वेला। कहीं '०सवनविधिः' पाठ मिलता है। 'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च' इति मेदिनी। (३) **पांसुले**--धूलि वाले। पांसवः विद्यन्ते अस्मिन् इति पांसुलः पांसु+लच् मत्वर्थीये। (४) **प्रकाशितचक्रचिह्ना**--स्पष्ट (रूप से दिखाई पड़ने वाले) चक्रवर्ती के चिह्नों से युक्त (५) **पदपंक्तिः**--पैरों की पंक्ति। 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदेशयोः। पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः ॥' इति मेदिनी। (६) **उष्णीषः**--पगड़ी बांधने की जगह ललाट पर होने वाली एक प्रकार की रेखा, पट्टबन्धरेखा। 'उष्णीषस्तु शिरोवेष्टे किरीटे लक्षणान्तरे' इति मेदिनी। (७) **ऊर्णा**--भौंरी के आकार का सूक्ष्मलोममय चिह्न। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादावर्ते चान्तरा भ्रुवोः' इत्यमरः।

(८) **तामरसानुकारि**—लाल कमल का अनुकरण करने वाला, कमल-सा। तामरसम् अनुकरोति इति तामरस-अनु√कृ+णिनि कर्तरि, उपपदस० 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः। (९) **हरिणा**—सिंह से। सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। (१०) **विद्याधरचक्रवर्तिपदवीम्**—विद्याधरों के सम्राट् की उपाधि या पद को। सामुद्रिकशास्त्र में चक्रवर्ती का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—'अतिरिक्तः करो यस्य प्रथिताङ्गुलिको मृदुः। चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम्॥ भ्रुवोर्मध्ये यस्य रोम भालश्चैव सुविस्तृतः। करे च चरणे चिह्नं चक्रादि स हि राज्यभाक्॥'

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१८॥

अथवा कृतं सन्देहेन। व्यक्तमेतेनैव जीमूतवाहनेन भवितव्यम्। [मलयवतीं निरूप्य] अये! इयमपि राजपुत्री। [उभौ विलोक्य] चिरात् खलु युक्तकारी विधिः स्यात् यदि युगलमेतदन्योन्यानुरूपं घटयेत्। [उपसृत्य नायकं निर्दिश्य] स्वस्ति भवते।

नायकः—भगवन्! जीमूतवाहनोऽभिवादयते। [उत्थातुमिच्छति]

तापसः—अलमलमभ्युत्थानेन। ननु 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः' इति भवानेवास्माकं पूज्यः। तद् यथासुखं स्थीयताम्।

नायिका—अज्ज! पणमामि। (आर्य! प्रणमामि।)

तापसः—[नायिकां निर्दिश्य] वत्से! अनुरूपभर्तृगामिनी भूयाः। राजपुत्रि! त्वामाह कुलपतिः कौशिकः, यथा—'अतिक्रामति मध्यन्दिनसवनवेला, तत् त्वरितमागम्यताम्' इति।

मलयवती—जं गुरु आणवेदि (यद् गुरुराज्ञापयति।) [आत्मगतम्]

**एक्कतो गुरुवअणं अण्णतो दइअदंसणसुहाइं।
गमणागमणाधिरूढं अज्ज बि दोलएदि मे हिअअं॥१९॥
एकतो गुरुवचनमन्यतो दयितदर्शनसुखानि।
गमनागमनाधिरूढमद्यापि दोलायते मे हृदयम्॥१९॥**

व्याख्या--कृतम्--अलम् । चिरात्--चिरकालानन्तरं, विधिः--विधाता, युक्तकारी स्यात्--अनुरूपयोजको भवेत्, यदि--चेत्, एतत्--इदम्, अन्योन्यानुरूपं--परस्परस्पृहणीयसौन्दर्यं, युगलं--द्वन्द्वं, घटयेत्--संयोजयेत् । अभिवादयते--प्रणमति । अभ्युत्थानेन—उत्थायावस्थानेन । अभ्यागतः--अतिथिः, गुरुः--पूजनीयः । अनुरूपभर्तृगामिनी--स्वसदृशपतिप्राप्तिकर्त्री । त्वरितं--शीघ्रम् ।

एकतः--एकस्मिन् पक्षे, गुरुवचनं--गुरोः कौशिकमुनेः वचनं गृहागमनादेशरूपम्, अन्यतः—अपरस्मिन् पक्षे, दयितदर्शनसुखानि--दयितस्य प्रियस्य दर्शनेन विलोकनेन सुखानि आह्लादाः, (समुपजायन्त इति शेषः । अतएव) गमनागमनाधिरूढं--गमनं च अगमनं च तदधिरूढं गन्तुकाममगन्तुकामं च, मे--मम, हृदयं--चेतः, अद्यापि--अधुनापि, दोलायते--व्याकुलीभवति ॥१६॥

अनुवाद—अथवा सन्देह करना व्यर्थ है, स्पष्ट है कि यही जीमूतवाहन है। [मलयवती को देखकर] अरे! यह राजपुत्री भी। [दोनों को देखकर] चिरकाल के बाद विधाता युक्तियुक्त करने वाला होगा यदि परस्पर अनुरूप इस जोड़े को मिला देगा। [समीप जाकर नायक को लक्ष्य करके] आपका कल्याण हो।

नायक--भगवन् ! जीमूतवाहन (आपको) प्रणाम करता है। [उठना चाहता है]

तापस—बस, बस, उठने की आवश्यकता नहीं है। 'अतिथि सबका गुरु होता है'--इसलिए आप ही हमारे पूज्य हैं। अतः सुखपूर्वक बैठिए।

नायिका--आय ! मैं प्रणाम करती हूँ।

तापस--[नायिका को लक्ष्य करके] वत्से ! अपने अनुरूप पति को प्राप्त करने वाली बनो। राजकुमारी ! कुलपति कौशिक ने तुमसे कहा है कि--'दोपहर के स्नान करने का समय बीत रहा है, इसलिए शीघ्र आओ।'

मलयवती--जैसी गुरुजी की आज्ञा। [मन ही मन]

एक ओर तो गुरुजी की आज्ञा है और दूसरी ओर प्रियतम के दर्शन का सुख है। जाऊँ या न जाऊँ--इस दुविधा (रूप झूले) पर चढ़ा हुआ मेरा मन अब भी झूल रहा है।।१६।।

टिप्पणी--(१) युक्तकारी--योग्य कार्य करने वाला। (२) विधिः--विधाता, दैव या ब्रह्मा। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। 'विधाता विश्वसृड् विधिः' इति चामरः। (३) अन्योन्यानुरूपम्--एक दूसरे के योग्य। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि विधाता का दुर्नाम रहा है कि वह असमान जोड़ा बनाता है, किन्तु आज यदि वह समान गुण वाले जीमूतवाहन और मलयवती के जोड़े को घटित कर देता है तो विधाता का दुर्नाम मिट जाएगा। श्रीहर्ष ने भी नैषध में लिखा है--'चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः'। इसी तरह रघुवंश में कालिदास भी लिख गये हैं--'परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्। अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विमलोऽभविष्यत्।।' (४) सर्वस्याभ्यागतो गुरुः--अतिथि सबका पूज्य होता है। यह वचन एक श्लोक के चौथे चरण में आया है--'गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।।' (पंचतन्त्र)। (५) आर्य--हे सम्मान्य। आराद् यातः आर्यः अर्थात् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यनेन आराद्=असभ्यतादुराचारादिदोषेभ्यो दूरं गतश्च शिक्षासभ्यताविद्यादिभिः देवास्पदत्वं प्राप्तः इति आर्यः पृषोदरादित्वात् साधुत्वम्। अथवा अर्तुं योग्यः आर्यः√ऋ (गतौ)+ण्यत् 'ऋहलोर्ण्यत्' इत्यनेन। वशिष्ठ के मत से आर्य का लक्षण यह है--'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः।।' (६) अनुरूपभर्तृगामिनी--योग्य पति को प्राप्त करने वाली। अनुरूपः भर्ता (कर्म० स०), तं गच्छति इति अनुरूपभर्तृ√गम्+णिनि कर्तरि उपपदसमास, ङीप्। (७) दोलायते--झूल रहा है, डावाँडोल हो रहा है। अर्थात् जाऊँ या न जाऊँ--इस विषय में किंकर्तव्यविमूढ हो रहा है। दोल+क्यङ (नामधातु)+लट्--ते।

इस पद्य में गाथा छन्द है। संस्कृत में जो आर्या है वही प्राकृत में गाथा है। इसका लक्षण--'प्रथमं द्वादश मात्रा द्वितीयेऽष्टादशभिः संयुक्ता। यथा प्रथमं तथा तृतीयं पञ्चदशविभूषिता गाथा' ।।१६।।

[उत्थाय निःश्वस्य सलज्जं सानुरागञ्च नायकं पश्यन्ती तापससहिता निष्क्रान्ता नायिका चेटी च]

नायकः--[सोत्कण्ठं निःश्वस्य नायिकां गच्छन्तीं पश्यन्]

अनया जघनाऽऽभोगभभमन्थरयानया[1] ।
अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम् ॥२०॥

अन्वय--जघनाभोगभरमन्थरयानया अनया अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये पदं निहितम् ॥२०॥

व्याख्या--जघनाभोगभरमन्थरयानया--जघनस्य नितम्बस्य आभोगः विस्तारः तस्य भरः भारः तेन मन्थरं मन्दं गमनं यस्याः तादृश्या, अनया--नायिकया, अन्यतोऽपि--अन्यस्मिन्नपि देशे, व्रजन्त्या--गच्छन्त्या, मे--मम, हृदये--चित्ते, पदं--चरणं, निहितं--स्थापितम् ॥२०॥

अनुवाद--[उठकर लंबी साँस लेकर लज्जा और प्रेम के सथ नायक को देखती हुई नायिका और चेटी तपस्वी के साथ बाहर चली गईं]

नायक--[उत्कंठा के साथ लंबी साँस लेकर, जाती हुई नायिका को देखता हुआ]

नितम्ब के विस्तार के भार से धीरे-धीरे चलने वाली इस (नायिका) ने दूसरी ओर जाती हुई भी मेरे हृदय में पैर रखा है ॥२०॥

टिप्पणी--(१) जघनाभोगभरमन्थरयानया--नितम्ब के विस्तृत होने से भार के कारण मन्द-मन्द चलने वाली। 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः। (२) मे हृदये पदं निहितम्--मेरे हृदय में पैर रखा है। कहने का भाव यह है कि इसके अलौकिक सौन्दर्य से मेरा मन वशीभूत हो गया है, अतएव यह जा तो रही है गुरु के पास किन्तु इसके पैर पड़ रहे हैं मेरे हृदय में ।

इस श्लोक में असंगति नामक अलंकार है, क्योंकि इसका गमन हो रहा है दूसरी ओर और चरणक्षेप हो रहा है नायक के हृदय में, अतः यहाँ कार्य और

१--यातया ।

कारण भिन्नदेशवर्ती हैं। असंगति का लक्षण—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः' इसमें अनुष्टुप् छन्द है ॥२०॥

विदूषकः—भो ! दिट्ठं तुए पेक्खिदव्वं; ता दाणिं मज्झण्हसूरकिरणसंताबदिउणिदो विअ मे उदरग्गी धमधमाअदि; ता एहि णिक्कमम्ह, जेण बह्मणो अदिही भविअ मुणिजणसआसादो लद्धेहिं कंदमूलफलेहिं पि दाव पाणधारणं करेमि। (भो दृष्टं त्वया प्रेक्षितव्यम्। तदिदानीं मध्याह्नसूर्यकिरणसन्तापद्विगुणित इव मे उदराग्निर्धमधमायते। तदेहि निष्क्रामावः, येन ब्राह्मणोऽतिथिर्भूत्वा मुनिजनसकाशात् लब्धैः कन्दमूलफलैरपि यावत् प्राणधारणं करोमि।)

नायकः—[ऊर्ध्वमवलोक्य] मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधितिः। तथाहि—

तापात्तत्क्षणधृष्टचन्दनरसापाण्डू कपोलौ वहन्
संसक्तैर्निजकर्णतालपवनैः संवीज्यमाननः।
सम्प्रत्येष विशेषसिक्तहृदयो हस्तोज्झितैः शीकरै-
र्गाढाऽऽयल्लकदुःसहामिव दशां धत्ते गजानां पतिः ॥२१॥

[निष्क्रान्तौ]

इति प्रथमोऽङ्कः ॥१॥

अन्वय—तापात् तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू कपोलौ वहन्, संसक्तैः निजकर्णतालपवनैः संवीज्यमाननः, हस्तोज्झितैः शीकरैः विशेषसिक्तहृदयः एषः गजानां पतिः सम्प्रति गाढायल्लकदुःसहाम् इव दशां धत्ते ॥२१॥

व्याख्या—प्रेक्षितव्यं—दर्शनीयम्। मध्याह्नसूर्यकिरणसन्तापद्विगुणित इव—मध्याह्ने मध्यन्दिने यः सूर्यः आदित्यः तस्य किरणाः अंशवः तेषां सन्तापेन अत्युष्णतया द्विगुणित इव द्विरावृत्त इव, मे—मम, जठराग्निः—उदराग्निः, धमधमायते—अतिशयेन प्रज्वलतीत्यर्थः। सहस्रदीधितिः—सूर्यः, नभस्तलस्य आकाशस्य मध्यं मध्यभागम्, अध्यास्ते—अधिरोहति।

तापात्--सूर्यजनितग्रीष्मात्, तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू--तत्क्षणं तत्कालं घृष्टेन मुखपार्श्वघर्षणेन चन्दनानां चन्दनवृक्षाणां रसेन आपाण्डू पीतवर्णौ, कपोलौ--गण्डस्थलौ, वहन्--धारयन्, (अन्यत्रापि कामज्वरपीडितो नरः कश्चन शैत्यापादनाय तत्क्षणं परिचारिकया पिष्टस्य चन्दनस्य रसेन ललाटादिषु गाढतरं लिप्तेन धवलौ कपोलौ वहतीति प्रतीयते) संसक्तैः--सम्यक् सक्तैः, निजकर्णतालपवनैः--निजकर्णयोः स्वश्रोत्रयोः तालः आस्फालः तेन जातैः पवनैः वायुभिः, संवीज्यमानाननः--संवीज्यमानं निवृत्ततापतामापाद्यमानम् आननं वदनं यस्य तादृशः (कामज्वरपीडितजनोऽपि चन्दनरसस्य निष्फलत्वं निरूप्य परिचारकवृन्देन उभयकर्णोपान्ते निरन्तरगृह्यमाणव्यजनानां पवनैः किञ्चित् सन्तापशमनमनुभवति), सम्प्रति--इदानीम्, हस्तोज्झितैः--हस्तेन शुण्डादण्डेन उज्झितैः परित्यक्तैः, शीकरैः--जलकणैः, विशेषसिक्तहृदयः--विशेषं सम्पूर्णतया सिक्तं हृदयम् उरःस्थलं यस्य तथाभूतः (अन्योऽपि अतितापात् स्वहस्तेत अन्यहस्तेन वा विसृष्टैः जलकणैः मुखादीन् अवसिच्य हृदयं सविशेषं सिञ्चति), एषः--दृश्यमानः, गजानां--हस्तिनां, पतिः--स्वामी, गाढायल्लकदुःसहाम् इव--गाढेन अनिवार्येण आयल्लकेन उत्कण्ठया दुःसहाम् अतिकठिनाम् इव, दशाम्--अवस्थां, धत्ते--धारयति ।।२१।।

अनुवाद--विदूषक--अजो ! आपने देखने योग्य वस्तु देख ली। अब इस समय मध्याह्नकालीन सूर्यकिरणों की गर्मी से मानो दूना (बढ़ा) हुआ मेरे पेट का अग्नि धम-धम कर रहा है (भड़क रहा है) । इसलिए आओ, चलें, जिससे ब्राह्मण अभ्यागत बनकर मुनियों के पास से पाये हुए कन्द, मूल और फलों से प्राण धारण करूँ ।

नायक--[ऊपर देखकर] भगवान् सूर्य आकाश के मध्य में विराजमान हैं। क्योंकि--

गर्मी के कारण तत्काल रगड़े हुए चन्दन-वृक्षों के रस से पीले बने कपोलों को धारण करता हुआ, दृढता से लगे हुए अपने कानों के संचालन द्वारा उत्पन्न वायु से मुँह पर पंखा करता हुआ और सूँड़ द्वारा फेंके गये जल-कणों से वक्षः स्थल को विशेष रूप से सींचता हुआ यह गजराज इस समय गाढ़ी उत्कंठा

(प्रिया से मिलने की आतुरता) के कारण दुःसह हुई जैसी अवस्था को धारण कर रहा है ।

[यह कह दोनों बाहर चले जाते हैं]

पहला अंक समाप्त ॥१॥

टिप्पणी--(१) **प्रेक्षितव्यम्**--दर्शनीय वस्तु । प्र√ईक्ष्+तव्य । (२) **मध्याह्नसूर्यकिरणसन्तापद्विगुणितः**--दोपहर के सूर्य की किरणों की अत्यधिक गर्मी से दूना हुआ । (३) **घमघमायते**--घूँ घूँ कर रहा है । 'घमघम' यह अग्नि जलने का अनुकरणात्मक शब्द है । घमघम+क्यङ (नामधातु)+लट्--ते । (४) **सहस्रदीधितिः**--सूर्य । दीधिति=किरण । सहस्रं दीधितयो यस्य सः (ब० स०) । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । (५) **मध्यम्अध्यास्ते**--बीच में विराजमान है । 'मध्यम्' में 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से कर्मसंज्ञा--द्वितीया हुई । (६) **तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू**--तत्काल रगड़े गये चन्दन-वृक्षों के (चूते हुए) रस से श्वेतपीत बने हुए । (कामज्वर से पीडित नायक पक्ष में) अभी-अभी घिसे गये चन्दनद्रव से श्वेतपीत । (७) **संसक्तैः**--अच्छी तरह जमे हुए । (८) **निजकर्णतालपवनैः**--अपने कानों के फटकारने या चलाने से उत्पन्न पवनों से । 'तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च सम्मिते । गीतकालक्रियामाने करास्फाले द्रुमान्तरे ॥' इति मेदिनी । (९) **संवीज्यमानाननः**--जिसके मुख पर अच्छी तरह पंखा किया जा रहा है--ऐसा । (नायक-पक्ष में) चन्दनरस से लाभ न पहुँचने पर परिचारक लोग उसके कानों के पास पंखा झलते हैं, जिससे उसे किञ्चित् शीतलता का अनुभव होता है । (१०) **हस्तोज्झितैः**--सूँड़ से फेंके गये । 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात् करेभकरयोरपि' इति विश्वः । (११) **शीकरैः**--जलकणों से । 'शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' इत्यमरः । (१२) **विशेषसिक्तहृदयः**--जिसका वक्षः-स्थल विशेष रूप से सींचा गया है । 'हृदयं मनउरसोः' इति विश्वः । (नायक-पक्ष में) वह भी ताप की अधिकता के कारण अपने हाथ से या दूसरे के हाथ से छोड़े गये जलकणों से मुँह-पर आदि को सिक्त करके वक्षःस्थल को विशेष रूप से सींचता है । (१३) **गाढायल्लकदुःसहाम्**--गाढ़ी उत्कंठा (प्रिया से मिलने की इच्छा) के कारण असह्य । 'स्यादा यल्लकमाध्यानमुत्कण्ठोत्कलिका रतिः' ।

इस पद्य में कवि ने गजपति को विरही नायक के रूप में चित्रित किया और गजवर्णन के द्वारा मध्याह्न के आविर्भाव का प्रतिपादन भी कर दिया है।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलंकार हैं। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२१॥

(१४) निष्क्रान्तौ--मंच से बाहर चले गये। अंक के अन्त में ऐसा करना अपेक्षित है। जैसा कि दशरूपककार ने कहा है—'एकाहचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्। पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥' भरत ने भी कहा है --'रङ्गं तु ये प्रविष्टाः सर्वेषां भवति तत्र निष्क्रामः। बीजार्थमुक्तमुचितं कृत्वा कार्यं यथार्थरसम् ॥' (१५) अङ्क--नाटक का एक खंड या अंश। इसका लक्षण --'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्। नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवत्यङ्कः ॥ यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः। किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः ॥ ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरितसंयोगः। नानावस्थान्तरितः कार्यस्त्वङ्को विकृष्टस्तु ॥'

अथ द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी--आणत्तह्मि भट्टिदारिआए मलअवदीए, जहा—'हञ्जे मणोहरिए! अज्ज चिराअदि मे भाअरो अज्जो मित्तावसु। तो गदुअ जाणेहि किं आअदो ण वेत्ति।' [परिक्रामति। नेपथ्याभिमुखं दृष्ट्वा] का उण एसा तुरिदतुरिदं इदो ज्जेव्व आआच्छदि? [निरूप्य] कहं चदुरिआ! (आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या, यथा—'हञ्जे मनोहरिके! अद्य चिरयति मे भ्राता आर्यः मित्रावसुः। तद् गत्वा जानीहि किमागतो न वा' इति। का पुनरेषा त्वरितत्वरितमित एवागच्छति? कथं चतुरिका!

[ततः प्रविशति द्वितीया चेटी]

प्रथमा--[उपसृत्य] हला चदुरिए ! किं णिमित्तं उण मं परिहरिअ एव्वं तुरिदाए गच्छीअदि ? (हला चतुरिके ! किं निमित्तं पुनर्मां परिहृत्यैवं त्वरितया गम्यते ?)

व्याख्या--हञ्जे--चेटि, चिरयति--विलम्बते। त्वरितत्वरितम्--अतिशीघ्रम्। परिहृत्य--त्यक्त्वा, त्वरितया--शैघ्र्ययुक्तया।

अनुवाद--[तदनन्तर चेटी प्रवेश करती है]

चेटी--राजकुमारी मलयवती ने मुझे आज्ञा दी है कि--चेटी मनोहरिका ! आज मेरे भाई आर्य मित्रावसु विलम्ब कर रहे हैं। इसलिए जाकर पता लगाओ कि वे आये कि नहीं। [घूमती है। नेपथ्य की ओर देखकर] यह कौन बड़ी फुर्ती से इधर ही आ रही है ? [अच्छी तरह देखकर] क्या चतुरिका है !

[तब दूसरी चेटी प्रवेश करती है]

पहली--[निकट जाकर] सखी चतुरिका ! किस हेतु मुझसे बचकर इस प्रकार फुर्ती से जा रही हो ?

टिप्पणी—प्रथम अंक में परस्पर दर्शन से अनुबद्ध रतिभाव वाले नायक-नायिका के विप्रलम्भ का वर्णन करने की इच्छा से कवि ने (द्वितीय) अंक में नायिका के शीतलोपचार आदि के उपयुक्त चन्दन-लतागृह-निर्माण आदि कार्य का प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक के द्वारा प्रतिपादन किया है। जैसा कि भरत ने कहा है—'बह्वाश्रयमप्यथ प्रवेशकैः संक्षिपेच्च सन्धिषु च। अंकेषु सम्प्रयुक्तं जनयति खेदं प्रयोगस्य॥' (ना० शा० अ० २०)। (१) हञ्जे--यह दासी का सम्बोधनपद है, जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है--'हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे, वेश्याज्जुका तथा।' (२) चिरयति--देर कर रहे हैं। चिरं करोतीति चिरयति चिर+णिच्+लट्--ति। (३) त्वरितत्वरितम्--शीघ्र से शीघ्र, जल्दी-जल्दी। यहाँ वीप्सा में द्वित्व हुआ है।

द्वितीया--हला मणोहरिए ! आणत्तह्मि भट्टिदारिए ! मलअ-वदीए--'हञ्जे चदुरिए ! कुसुमावचअपरिस्समणिस्सहं मे सरीरं सरदादवजणिदो विअ मे संदावो अधिअदरं बाधेदि। ता गच्छ तुमं, बालकदलीपत्तपरिक्खित्ते चंदणलदाघरए चन्दमणिसिलाअलं

सज्जीकरेहि' त्ति । अणुचिट्ठिदं अ मए जधा आणत्तं । जाव गदुअ भट्टिदारिआए णिवेदेमि । (हला मनोहरिके ! आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या--'हञ्जे चतुरिके ! कुसुमावचयपरिश्रमनिःसहं मे शरीरं शरदातपजनित इव मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते । तद् गच्छ त्वं, बालकदलीपत्रपरिक्षिप्ते चन्दनलतागृहे चन्द्रमणिशिलातलं सज्जीकुरु' इति । अनुष्ठितञ्च मया यथाऽऽज्ञप्तम् । यावद् गत्वा भर्तृदारिकायै निवेदयामि ।

प्रथमा--जइ एव्वं, ता लहु गदुअ णिवेदेहि, जेण से तहिं गदाए उबसमदि संदाबो । (यद्येवं, तल्लघु गत्वा निवेदय, येनास्यास्तत्र गताया उपशाम्यति सन्तापः ।)

द्वितीया--[विहस्यात्मगतम्] ण ईरिसो से संदाबो जो एव्वं उबसमिस्सदि । विवित्तरमणीअं चंदणलदाघरअं पेक्खन्तीए अधिअदरो संदाबो हुविस्सदि त्ति तक्केमि । [प्रकाशम्] ता गच्छ तुमं । अहम्पि 'सज्जीकिदं मणिसिलाअलं' त्ति गदुअ भट्टिदारिआए णिवेदेमि । (नेदृशोऽस्याः सन्तापो य एवमुपशमिष्यति । विविक्तरमणीयं चन्दनलतागृहं प्रेक्षमाणाया अधिकतरः सन्तापो भविष्यतीति तर्कयामि । तद्गच्छ त्वम् । अहमपि 'सज्जीकृतं मणिशिलातलम्' इति गत्वा भर्तृदारिकायै निवेदयामि ।) [इति निष्क्रान्ते]

प्रवेशकः ।

व्याख्या--कुसुमावचयपरिश्रमनिःसहं--कुसुमानां पुष्पाणाम् अवचये आहरणे यः परिश्रमः खेदः तेन निः सहं क्लेशासहिष्णु, मे--मम, शरीरं--देहं, शरदातपजनितः--शरदि शरत्काले आतपेन सूर्यस्य प्रकाशोद्योतेन जनितः उत्पादितः, सन्तापः, अधिकतरं--बहुतरं, बाधते--पीडयति । बालकदलीपत्रपरिक्षिप्ते--बालकदली अभिनवरम्भावृक्षः तस्य पत्रैः दलैः परिक्षिप्ते परिवेष्टिते, चन्दनलतागृहे--चन्दनलताकुञ्जे, चन्द्रमणिशिलातलं--चन्द्रकान्तशिलातलं, सज्जीकुरु--परिष्करणादिना निर्मलीकुरु । लघु--शीघ्रम् । उपशाम्यति --उपशमं गमिष्यति । नेदृशः--न एतादृशः, एवं--शीतलोपचारेण, उपशमिष्यति--शान्तो भविष्यति । विविक्तरमणीयं--विविक्तं निर्जनं रमणीयं नेत्ररञ्जकं, प्रेक्षमाणायाः--पश्यन्त्याः, तर्कयामि--अनुमिनोमि ।

अनुवाद--द्वितीया--सखी मनोहरिका ! राजकुमारी मलयवती ने मुझे आज्ञा दी है कि--'चेटी चतुरिका ! फूलों को चुनने के परिश्रम के कारण (क्लेश) न सहन कर सकने वाले मेरे शरीर को शरद् ऋतु के घाम से उत्पन्न किये गये की भाँति मेरा सन्ताप बहुत अधिक कष्ट दे रहा है। इसलिए तुम जाओ और नये केलों के पत्तों से घिरी हुई चन्दनलता के कुञ्ज में चन्द्रकान्तमणि के शिलातल को सजाओ।' जैसे आज्ञा मिली थी वैसा मैंने कर दिया है। तो अब जाकर राजकुमारी से निवेदन कर देती हूँ।

प्रथमा—यदि ऐसी बात है तो शीघ्र जाकर निवेदन करो, जिससे वहाँ जाने पर उनका ताप शान्त हो जाय।

द्वितीया--[हँसकर मन में] उनका ताप ऐसा नहीं है जो इस प्रकार शान्त हो जाय। एकान्त और रमणीय चन्दनलताकुञ्ज को देखकर उनका ताप और अधिक हो जाएगा, ऐसा मैं अनुमान करती हूँ। [प्रकट रूप से] तो तुम जाओ। मैं भी जाकर राजकुमारी से निवेदन कर देती हूँ कि मणिशिलातल को सजा दिया है। [यह कह दोनो चली गईं]

प्रवेशक समाप्त।

टिप्पणी--(१) **कुसुमावचयपरिश्रमनिःसहम्**--फूल चुनने के परिश्रम से जिसकी सहनशक्ति समाप्त हो गई हो ऐसा। अव√चि+अच्=अवचयः। यहाँ 'हस्तादाने चेरस्तेये' सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर 'अवचायः' रूप होना चाहिए। किन्तु उक्त सूत्र से घञ् प्रत्यय हाथ से ग्रहण करने योग्य वस्तु के अर्थ में ही होता है। छोटे पौधों से फूल तोड़ने में तो हस्तप्राप्यता हो सकती है, पर बड़े वृक्ष से फूल तोड़ना हाथ से संभव नहीं है, लग्गी आदि के द्वारा ही फूल तोड़ा जा सकता है। यही ध्यान में रखकर प्रायः कवि ने यहाँ 'अवचय' का प्रयोग किया है। कुसुमानाम् अवचयः (ष० त०), तस्मिन् परिश्रमः, तेन निःसहम् (सुप्सुपास०)। (२) **शरदातपजनितः**--शरद् ऋतु की धूप से पैदा हुआ। यहाँ शरदातप के अतिशय तीक्ष्ण होने के कारण तत्सदृश सन्ताप की उत्कटता व्यञ्जित होती है। (३) **सज्जीकुरु**--सजाओ, ठीक-ठाक करो। असज्जं सज्जं सम्पद्यमानं-कुरु इति सज्जीकुरु सज्ज+च्वि, ईत्व√कृ+लोट् (म० पु० ए०)। (४) **लघु**--शीघ्र। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। (५) **प्रवेशकः**--क्रमविशेष में बाँधे

गये वाक्य-समूह को प्रवेशक कहते हैं। यह पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों में से एक है। इसमें निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा घटनाओं की सूचना दी जाती है—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥' (साहित्यदर्पण)। दशरूपककार ने भी यही लक्षण किया है—'तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ॥" किन्तु यह प्रवेशक प्रथम और अन्तिम अंकों मे वर्जित है—'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशः क्वचिदिष्यते। प्रवेशं सूचयेत्तस्मादमुख्याङ्के प्रवेशकात् ॥' (दशरूपकटीका)। प्रवेशयतीति प्रवेशकः प्र√विश्+णिच्+ण्वुल्—अक। यहाँ का प्रवेशक प्रथमाङ्क और द्वितीयाङ्क के बीच में पड़ता है और दो नीच पात्रों—चेटियों—द्वारा प्राकृत भाषा में प्रयुक्त किया गया है तथा मदनबाणपीडित मलयवती चन्दनलतागृह में रहना चाहती है—इस भविष्यत् कथांश का सूचक है।

[ततः प्रविशति सोत्कण्ठा मलयवती चेटी च]

मलयवती—[निः श्वस्यात्मगतम्] हिअअ! तधा णाम तस्सिं जणे लज्जाए [1]परंमुहीकदुअ दाणिं तहिं अत्तणा गदं सि त्ति अहो! दे अत्तंभरित्तणं। [प्रकाशम्] हञ्जे चदुरिए! आदेसेहि मे भअवदीए आअदणं। (हृदय! तथा नाम तस्मिन् जने यत् लज्जया पराङ्मुखीकृत्येदानीं तत्रात्मना गतमसीति अहो! ते आत्मम्भरित्वम्। हञ्जे चतुरिके! आदिश मे भगवत्या आयतनम्।)

चेटी—[आत्मगतम्] चंदणलदाघरअं पत्थिदा भणादि भअवदीए आअदणं। [प्रकाशम्] चंदणलदाघरअं भट्टिदारिआ पत्थिदा। (चन्दनलतागृहं प्रस्थिता भणति भगवत्या आयतनम्। चन्दनलतागृहं भर्तृदारिका प्रस्थिता।)

नायिका—[सलज्जम्] हञ्जे! सुट्ठु सुमराविदं। ता एहि तहिं ज्जेव गच्छम्ह। (हञ्जे! सुष्ठु स्मारितम्। तदेहि तत्रैव गच्छावः।)

चेटी—एदु एदु भट्टिदारिआ। (एतु एतु भर्तृदारिका।)

१—मंथरं मुहं।

नायिका--[अन्यतो गच्छति]

चेटी--[पृष्ठतो दृष्ट्वा सोद्वेगमात्मगतम्] अहो ! से सूण्णहिअअत्तणं ! कहं तं ज्जेव देवीभवणं पत्थिदा। [प्रकाशम्] भट्टिदारिए ! णं इदो चंदणलदाघरअं । ता इदो इदो एहि। (अहो ! अस्याः शून्यहृदयत्वम् ! कथं तदेव देवीभवनं प्रस्थिता। भर्तृदारिके ! नन्वितश्चन्दनलतागृहम् । तदित इत एहि।)

नायिका--[सविलक्षस्मितं तथा करोति]

व्याख्या--सोत्कण्ठा--उत्कण्ठया सहिता। पराङ्मुखीकृत्य--विमुखीं विधाय, आत्मना--स्वयम्। आत्मम्भरित्वं--स्वोदरपूरकत्वं स्वार्थपरत्वमिति यावत्। भगवत्याः--गौर्याः, आयतनं--गृहं मन्दिरमिति यावत्। प्रस्थिता--प्रयाता। सुष्ठु--शोभनम्। सोद्वेगं--दुःखसहितम्। शून्यहृदयत्वं--शून्यं रिक्तं हृदयं चेतः यस्याः तस्याः भावस्तत्त्वम्। सविलक्षस्मितं--विलक्षेण लज्जया विस्मयेन वा स्मितेन मन्दहास्येन च सहितं यथा स्यात्।

अनुवाद--[तदुपरान्त उत्कंठा सहित मलयवती और चेटी प्रवेश करती हैं]

मलयवती--[लंबी साँस लेकर मन में] हृदय ! उस प्रकार उस व्यक्ति के प्रति जो मुझे लज्जा के कारण विमुख करके तुम स्वयं (उसके पास) चले गये हो वह तुम्हारी स्वार्थपरता आश्चर्यजनक है। [प्रकट रूप से] चेटी चतुरिका ! मुझे भगवती-मन्दिर (जाने का मार्ग) बताओ।

चेटी--[मन में] चन्दनलतागृह की ओर चली थी, पर 'भगवती का मन्दिर' कह रही है। [प्रकट रूप से] राजकुमारी ने तो चन्दनलतागृह की ओर प्रस्थान किया था।

नायिका--[लज्जा के साथ] चेटी ! तुमने ठीक स्मरण दिलाया। तो आओ, वहीं चलें।

चेटी--आइए, राजकुमारी जी, आइए।

नायिका--[दूसरी ओर चल पड़ती है]

चेटी--[पीछे की ओर व्याकुलता के साथ मन ही मन] आह ! यह तो हृदय से शून्य हो गई है। कैसे उसी भगवती-मन्दिर की ओर चल पड़ी। [प्रकट]

राजकुमारी जी ! चन्दनलता का कुञ्ज इस ओर है। इसलिए इधर से आइए, इधर से।

नायिका—[बनावटी मुसकराहट के साथ वैसा करती है]

टिप्पणी—(१) सोत्कण्ठा—उत्कंठा सहित। अभिलषित वस्तु के न मिलने पर चित्त में चंचलता आदि और शरीर में शोषण आदि उत्पन्न करने वाली एक विशेष प्रकार की अवस्था को उत्कण्ठा कहते हैं—'रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या। संशोषणी त गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ॥' (२) पराङ्मुखीकृत्य—विमुख करके। पराक् मुखं यस्याः सा पराङ्मुखी (ब० स०), ङीष्। अपराङ्मुखीं पराङ्मुखीं सम्पद्यमानां कृत्वा इति पराङ्मुखीकृत्य पराङ्मुखी√कृ+क्त्वा—ल्यप्। (३) आत्मम्भरित्वम्—अपने को ही भरने का काम, स्वार्थपरायणता। 'आत्मम्भरिः कुक्षिम्भरिः स्वोदरपूरके' इत्यमरः। आत्मानं बिभर्ति इति आत्मम्भरिः आत्मन्√भृ+इन्। तस्य भावः आत्मम्भरित्वम् आत्मम्भरि+त्व। (४) शून्यहृदयत्वम्—हृदय से शून्य होना। शून्यं हृदयं यस्याः सा शून्यहृदया (ब० स०), तस्याः भावः शून्यहृदया+त्व, 'सामान्ये नपुंसकम्' हो जाने के कारण 'हृदया' के स्त्रीत्वबोधक 'आ' का अभाव। (५) सविलक्षस्मितम्—बनावटी या विस्मयान्वित की हँसी के साथ। 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यमरः।

चेटी—इदं चंदणलदाघरअं। ता पविसिअ चंदमणिसिलादले उपविसिअ समस्ससदु भट्टिदारिआ। (इदं चन्दनलतागृहम्। तत् प्रविश्य चन्द्रमणिशिलातले उपविश्य समाश्वसितु भर्तृदारिका।) [उभे उपविशतः]

नायिका—[निःश्वस्य आत्मगतम्] भअवं कुसुमाउह ! जेण तुमं रूबसोहाए णिज्जिदोसि, तस्स तुए ण किम्पि किदं। मम उण अणवरद्धाए बि अबलेत्ति करिअ पहरंतो ण लज्जेसि ? [आत्मानं निर्वर्ण्य मदनावस्थां नाटयन्ती प्रकाशम्] हञ्जे ! कीस उण घणपल्लवणिरुद्धसूरकिरणं तं एव्व चंदणलदाघरअं ण मे अज्जबि संदाबदुक्खं अबणेदि। (भगवन् कुसुमायुध ! येन त्वं रूपशोभया निर्जितोऽसि तस्य त्वया न किमपि कृतम्।) मम पुनरनपराद्धाया अपि अबलेति कृत्वा प्रहरन् न लज्जसे ? हञ्जे ! किं पुनर्घन-

पल्लवनिरुद्धसूर्यकिरणं तदेव चन्दनलतागृहं न मे अद्यापि सन्ताप-दुःखमपनयति ।

चेटी--जाणामि अहं एत्थ संदाबस्स कारणं; किं उण [1]असंभा-वणीअं त्ति भट्टिदारिआ ण तं पडिबज्जिस्सदि त्ति। (जानाम्यहमत्र सन्तापस्य कारणम्; किं पुनरसम्भावनीयमिति भर्तृदारिका न तत् प्रतिपत्स्यते इति ।)

नायिका--[आत्मगतम्] लक्खिदा विअ अहं एदाए, तहबि पुच्छिस्सं । [प्रकाशम्] हञ्जे ! किं तं जं ण पडिबज्जिअदि । ता कहेहि दाव किं तं कारणं ? (लक्षितेवाहमेतया, तथापि पृच्छामि ।) हञ्जे ! किं तत् यन्न प्रतिपद्यते। तत् कथय तावत् किं तत् कारणम् ?

चेटी--एसो दे हिअअट्ठिदो वरो (एष ते हृदयस्थितो वरः ।)

नायिका--[सहर्षं ससम्भ्रममुत्थाय द्वित्राणि पदानि गत्वा] कहिं कहिं सो ? (कुत्र कुत्र सः ?]

चेटी--[उत्थाय सस्मितम्] भट्टिदारिए ! सो को ? (भर्तृदारिके ! स कः ?)

नायिका--[सलज्जमुपविश्य अधोमुखी तिष्ठति ।]

व्याख्या--समाश्वसितु--आश्वस्ता भवतु । कुसुमायुध--कुसुमानि पुष्पाणि एव आयुधानि अस्त्राणि यस्य तादृश ! येन--मम प्रियेण जीमूतवाहनेन, त्वं, रूपशोभया--सौन्दर्यसम्पत्त्या, निर्जितः--पराजितः । अनपराद्धायाः--दोषर-हितायाः, अबला--बलरहिता स्त्री, इति कृत्वा--मनसि विचार्य, प्रहरन्--प्रहारं कुर्वन्, न लज्जसे--न त्रपसे । घनपल्लवनिरुद्धसूर्यकिरणम्--घनैः निविडैः पल्लवैः किसलयैः निरुद्धाः निवारिताः सूर्यकिरणाः सूर्यरश्मयो यस्मिन् ताथाभूतं, सन्तापदुःखं--कामतापजनितं कष्टम्, न अपनयति--नैव दूरीकरोति । न प्रतिपत्स्यते--न स्वीकरिष्यते । द्वित्राणि--द्वे च त्रीणि च ।

अनुवाद--चेटी--यह चन्दनलता का कुंज है। अतः प्रवेश करके चन्द्र-

---

१--असंभाविणी (असंभाविनी) ।

कान्तमणि के शिलातल पर बैठकर राजकुमारी आश्वस्त हों। [दोनों बैठ जाती हैं]

नायिका––[लंबी साँस लेकर मन में] भगवन् कामदेव ! जिसने सौन्दर्य-सम्पत्ति से तुमको जीत लिया, उसका तो तुमने कुछ नहीं किया। किन्तु मुझ निरपराध अबला पर प्रहार करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ? [अपने को देखकर काम (विह्वल)-अवस्था का अभिनय करती हुई प्रकट रूप से] चेटी ! सघन पल्लवों से सूर्यकिरणों को रोकने वाला वही चन्दनलता का कुंज मेरे सन्ताप-दुःख को अब भी क्यों नहीं मिटाता ?

चेटी––मैं इस सन्ताप के कारण को जानती हूँ। क्या उसे असंभव समझकर राजकुमारी स्वीकार नहीं करेंगी ?

नायिका––[मन में] इसने मुझे जैसे ताड़ लिया है। तो भी पूछती हूँ। [प्रकट रूप से] चेटी ! वह क्या है, जिसे मैं स्वीकार नहीं करती ? तो बताओ, क्या कारण है ?

चेटी––यह आपके हृदय में विराजमान वर है।

नायिका––[हर्ष तथा संभ्रम (हड़बड़ी) के साथ उठकर दो-तीन पग चलकर] कहाँ कहाँ है वह ?

चेटी––[उठकर मुसकराहट के साथ] राजकुमारी जी ! वह कौन ?

नायिका––[लज्जा के साथ बैठकर नीचे मुँह किये रहती है]

टिप्पणी––(१) कुसुमायुध––हे कामदेव। कुसुमानि आयुधानि यस्य स कुसुमायुधः (ब० स०), तत्सम्बोधने। कहते हैं कि कामदेव के पाँच फूल पाँच बाण हैं, जो ये हैं––'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥' यहाँ नायिका के कहने का अभिप्राय यह है कि हे कामदेव ! अत्यन्त सौन्दर्य से सम्पन्न तथा बलवान् जीमूतवाहन को छोड़कर उसके सम्बन्ध से मुझ अबला पर प्रहार कर रहे हो, यह लज्जा की बात है। इसमें प्रत्यनीक अलंकार है, जिसका लक्षण है––'प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया। या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥' यही भाव 'रत्नावली नाटिका' में भी कवि ने निबद्ध किया है––'भगवन् कुसुमायुध !

निर्जितसकलसुरासुरो भूत्वा कथं स्त्रीजनं प्रहरन्न लज्जसे।' (२) घनपल्लवनिरुद्धसूर्यकिरणम्--घने पत्तों से जहाँ सूर्य की किरणें अवरुद्ध हो गई हैं, ऐसा। (३) असंभावनीयम्--जिसकी संभावना नहीं की जा सकती, असंभव। सम्√भू+णिच्+अनीयर्=संभावनीयम्, न संभावनीयम् असंभावनीयम् (न० त०)। (४) प्रतिपत्स्यते--स्वीकार करेगी। प्रति√पद्+लृट् आत्मनेपद (प्र० पु० ए०)। (५) लक्षिता--भाँप ली गई हूँ, समझ ली गई हूँ। (६) द्वित्राणि--दो-तीन। द्वे च त्रीणि च इति द्वित्राणि 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' सूत्र से बहुव्रीहिसमास, 'बहुव्रीहौ संख्येये'--सूत्र से डच् प्रत्यय, डित्वात् इ का लोप।

चेटी--भट्टिदारिए! एदस्मिं वत्तुकामा,--एसो दे हिअअट्ठिदो वरो एव्व देईए दिण्णो। सिविणक [1]पत्थाविदे जो तक्खणं एव्व पविमुक्ककुसुमबाणो विअ मअरद्धओ भट्टिदारिआए दिट्ठो सो दे इमस्स संदाबस्स कारणं, जेण एदं सहावसीदलंपि चंदणलदाघरअं ण दे संदाबदुक्खं अवणेदि। (भर्तृदारिके! एतदस्मि वक्तुकामा,--एष ते हृदयस्थितो वर एव देव्या दत्तः। स्वप्ने प्रस्तुते यः तत्क्षणमेव प्रविमुक्तकुसुमबाण इव मकरध्वजो भर्तृदारिकया दृष्टः स ते अस्य सन्तापस्य कारणं, येनैतत् स्वभावशीतलमपि चन्दनलतागृहं न ते सन्तापदुःखमपनयति।)

नायिका--[चतुरिकाया अलकं सज्जयन्ती] हञ्जे! चदुरिआ क्खु तुमं किं दे अबरं पच्छाईअदि, ता कहिस्सं। (हञ्जे! चतुरिका खलु त्वम्। किं ते अपरं प्रच्छाद्यते, तत् कथयिष्यामि।)

चेटी--भट्टिदारिए! दाणिं एव्व कहिदं इमिणा वरालाबमत्तजणिदेण संभमेण। ता मा संतप्प। जइ अहं चदुरिआ, तदा सोबि भट्टिदारिअं अबेक्खंतो ण मुहुत्तअं पि अहिरमिस्सदि। ता एदम्पि मए लक्खिदं। (भर्तृदारिके! इदानीमेव कथितममुना वरालापमात्रजनितेन सम्भ्रमेण। तन्मा सन्तप्यस्व। यद्यहं चतुरिका, तदा सोऽपि भर्तृदारिकामप्रेक्षमाणो न मुहूर्तमप्यभिरंस्यते तदेतदपि मया लक्षितम्।

---

१ पच्छवि (पश्चात्)।

नायिका—[सास्रम्] हञ्जे ! कुदो अम्हाणं एत्तिआणि भाअधेआइं ? (हञ्जे ! कुतोऽस्माकमियन्ति भागधेयानि ?)

चेटी—भट्टिददारिए ! मा एव्वं भण । कि मधुमहणो बच्छत्थलेण लच्छिं अणुव्वहंतो णिव्वुदो भोदि ? (भर्तृदारिके ! मैवं भण । किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृतो भवति ?)

व्याख्या—वक्तुकामा—कथनाभिलाषिणी, हृदयस्थितः—चित्तस्थायी, स्वप्ने प्रस्तुते सति—स्वप्नविषयके आलापे प्रस्तुते सति, प्रविमुक्तकुसुमबाणः—प्रविमुक्ताः विशेषेण त्यक्ताः कुसुमबाणाः पुष्पबाणाः येन तादृशः, मकरध्वज इव—कन्दर्प इव, भर्तृदारिकया—भवत्या, दृष्टः—विलोकितः । अलकं—केशं, सज्जयन्ती—प्रसाधयन्ती । वरालापमात्रजनितेन—वरेत्यक्षरद्वयोच्चारणेन जनितेन उत्पादितेन सम्भ्रमेण सोद्वेगशघ्यू ेण । तत्—तस्मात्, मा सन्तप्यस्व—मा खेदं कुरु । अप्रेक्षमाणः—अपश्यन् । भागधेयानि—भाग्यानि । भण—वद । मधुमथनः—मधोः दैत्यविशेषस्य मथनः नाशकः (विष्णुः), वक्षःस्थलेन—उरसा, लक्ष्मीं—श्रियम्, अनुद्वहन्—अधारयन्, किं, निर्वृतः—सौख्यसम्पन्नः, भवति ?

अनुवाद—चेटी—राजकुमारी जी ! मैं यह कहना चाहती हूँ कि यह आपके हृदय में विराजमान वर ही देवी ने दिया है । स्वप्न आ जाने पर जिसे आपने तत्काल बिना पुष्पबाणों के कामदेव-सा देखा था, वही आपके इस सन्ताप का कारण है, जिससे स्वभावतः शीतल होने पर भी यह चन्दन-लतागृह आपके सन्ताप-कष्ट को नहीं मिटा पा रहा है ।

नायिका—[चतुरिका के घुँघराले वालों को सँवारती हुई] चेटी ! वास्तव में तुम चतुरिका हो । तुम से और क्या छिपाऊँ, इसलिए कहूँगी ।

चेटी—राजकुमारी जी ! अभी-अभी वर की बात छेड़ने मात्र से उत्पन्न हुई (आपकी) इस आकुलता ने कह ही तो दिया । इसलिए आप संताप न करें । यदि मैं चतुरिका हूँ तो वह भी आपको न देखने पर क्षण भर भी चैन से नहीं रहेंगे । मैंने यह भी देख लिया है ।

नायिका—[आँसू के साथ] चेटी ! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ हैं ?

चेटी—राजकुमारी जी ! ऐसा मत कहिए। क्या मधु नामक राक्षस के मारने वाले (विष्णु) लक्ष्मी को छाती से लगाये बिना चैन से रह सकते हैं ?

टिप्पणी--(१) वक्तुकामा--कहने की इच्छुक। वक्तुं कामो यस्याः सा (ब० स०), 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये'—इत्यादिकारिकया तुमुनो मस्य लोपः। (२) प्रविमुक्तकुसुमबाणः--जिसने फूलों का बाण छोड़ दिया है। (३) मकरध्वजः—कामदेव (जिसकी ध्वजा पर मकर=मत्स्य है)। (४) प्रच्छाद्यते छिपाया जाता है। प्र√छद्+णिच्+लट् (कर्मणि)। (५) वरालापमात्रजनितेन--वर सम्बन्धी बातचीत या 'वर' इस अक्षरद्वयमात्र के उच्चारण से उत्पन्न। (६) भागधेयानि--भाग्य। भाग+धेय स्वार्थे। 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः। (७) मधुमथनः--मधु नामक दैत्य के विनाशक, विष्णु। (८) अनुद्वहन्--धारण न करते हुए। कहने का तात्पर्य है कि जैसे लक्ष्मी के बिना विष्णु क्षण भर भी आनन्द लाभ नहीं करते उसी तरह वीराग्रणी जीमूतवाहन भी रमणीरत्न आपको बिना पाये सुखी नहीं रह सकते।

नायिका—किं सुअणो पिअं बज्जिअ अण्णं भणिदुं जाणादि ? सहि ! अदो बिसंदाबो अधिअदरं मं बाधेदि, जं सो महाणुभाओ वाआमेत्तेण बि अकिदपडिबत्ती अदक्खिणेत्ति मं संभावइस्सदि। (किं सुजनः प्रियं वर्जयित्वाऽन्यद् भणितुं जानाति। सखि ! अतोऽपि सन्तापोऽधिकतरं बाधते यत्स महानुभावो वाङ्मात्रेणाप्यकृतप्रतिपत्तिमदक्षिणेति मां सम्भावयिष्यति। [इति रोदिति]

चेटी--भट्टिदारिए ! मा रोद ! अहवा कहं ण रोइस्सदि ? अहिओ से हिअअस्स संदाबो अधिअदरं बाधेदि। ता किं दाणीं एत्थ करइस्सं ? ता जाव चंदणलदापल्लवरसं से हिअए दाइस्सं। [उत्थाय चन्दनपल्लवं गृहीत्वा निष्पीड्य हृदये ददाति] भट्टिदारिए ! णं भणामि, मा रोद। अअं क्खु ईरिसो चंदणरसो इमेहिं अणबरदपडंतेहिं बाहविंदूहिं उण्हीकिदो ण दे हिअअस्स एदं संदाबं अबणेदि। (भर्तृदारिके ! मा रुदिहि। अथवा कथं न रोदिष्यति ? अधिकोऽस्या हृदयस्य सन्तापोऽधिकतरं बाधते। तत् किमिदानीमत्र करिष्ये। तद् यावच्चन्दनलतापल्लवरसमस्या हृदये

दास्ये । भर्तृदारिके ! ननु भणामि, मा रुदिहि । अयं खल्वीदृशश्चन्दनरस एभिरनवरतपतद्भिर्बाष्पबिन्दुभिरुष्णीकृतो न ते हृदयस्य एतं सन्तापमपनयति ।)

[कदलीपत्रमादाय वीजयति]

नायिका--[हस्तेन निवारयति] सहि ! मा वीजेहि । उण्हो क्खु एसो कअलीदलमारुदो । (सखि ! मा वीजय । उष्णः खल्वेष कदलीदलमारुतः ।)

चेटी--भट्टिदारिए ! मा इमस्स दोसं कहेहि । (भर्तृदारिके ! माऽस्य दोषं कथय ।)

व्याख्या--महानुभावः--महाशयः, वाङ्मात्रेणापि--केवलं वचनेनापि, अकृतप्रतिपत्तिः--न कृता न विहिता प्रतिपत्तिः सम्मानं यया तादृशीं माम्, अदक्षिणा--अविदग्धा, इति, संभावयिष्यति--मंस्यते । अनवरतपतद्भिः--निरन्तरं क्षरद्भिः, उष्णीकृतः--तप्तीकृतः, कदलीदलमारुतः--रम्भापत्रवीजितवायुः ।

अनुवाद--नायिका--क्या अच्छे लोग प्रिय बात को छोड़कर दूसरी बात बोलना जानते हैं ? सखी ! इससे भी सन्ताप और अधिक बढ़ रहा है कि वे महानुभाव वाणीमात्र से भी सत्कार न करने वाली मुझे अकुशल (अनभिज्ञ) समझेंगे । [यह कहकर रोने लगती है]

चेटी--राजकुमारी जी ! मत रोइए । अथवा क्यों न रोएँगी । इनके हृदय का अतिशय सन्ताप और अधिक कष्ट दे रहा है । तो अब मैं इस समय क्या करूँ ? हाँ, चन्दनलता के नये पत्तों का रस इसकी छाती पर लगाऊंगी । [उठकर चन्दन का पल्लव लेकर निचोड़कर छाती पर लगाती है] राजकुमारी जी ! मैं कह रही हूँ, मत रोइए । यह चन्दन का रस निरन्तर गिरते हुए इन आँसू के बिन्दुओं से गरम होकर आपके हृदय के सन्ताप को नहीं मिटा पा रहा है ।

[केले का पत्ता लेकर पंखा करती है]

नायिका--[हाथ से रोकती है] सखी ! पंखा मत करो । यह केले के पत्ते का वायु गरम है।

चेटी--राजकुमारी जी ! इसका दोष मत कहिए ।

टिप्पणी--(१) सुजनः--अच्छे लोग या मित्र लोग। सुजन का स्वभाव ही ऐसा होता हैं कि वे सदा अच्छा ही बोला करते हैं। (२) वाङमात्रेणापि --केवल वचन से भी । कहा भी है कि 'वचने का दरिद्रता'। अथवा 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।' किन्तु मैंने लज्जावश इतनी भी शिष्टता नहीं बरती कि अतिथि रूप में आये हुए उस महानुभाव का वचन से भी सत्कार करता । (३) अकृतप्रतित्तिम्--सम्मान न करने वाली। (४) अदक्षिणा--अपटु, अशिष्ट । (५) सम्भावयिष्यति--समझेगा । (६) उष्णीकृतः--गरम किया हुआ। अनुष्णः उष्णः सम्पद्यमानः कृतः इति उष्णीकृतः उष्ण+च्वि, ईत्व√कृ+क्त । (७) वीजयति--पंखा करती है या झलती है।

कुणसि घणचन्दणलदापल्लवसंसग्गसीदलं पि इमं ।
णीसासेंहि तुमं एव्व कदलीदलमारुअं उण्हं ।।१।।
(करोषि घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलमपीमम् ।
निःश्वासैस्त्वमेव कदलीदलमारुतमुष्णम् ।।१।।

अन्वय--त्वमेव घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलम् अपि इमं कदलीदलमारुतं निः श्वासैः उष्णं करोषि ।।१।।

व्याख्या--त्वमेव--भवती एव, घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलं--घना सान्द्रा या चन्दनलता तस्याः पल्लवानां किसलयानां संसर्गेण सम्पर्केण शीतलमपि--अनुष्णमपि, इमं--दृश्यमानं, कदलीदलमारुतं--रम्भापत्रकृतवायुं, निःश्वासैः--तप्तनिःश्वसितैः, उष्णं--तप्तं, करोषि--विदधासि ।।१।।

अनुवाद--आप ही सघन चन्दनलता के कोमल पत्तों के सम्पर्क से शीतल हुए भी इस कदलीपत्र के वायु को आहों से गर्म कर रही हैं ।।१।।

टिप्पणी--(१) कदलीदलमारुतम्--केले के पत्ते के वायु को । (२) निःश्वासैः--गर्म सांसों से । भाव यह है कि शीतल कदलीदल के वायु का

दोष नहीं है। इसे तो आप ही अपनी आहों की गर्मी से तप्त बना रही हैं।

इस पद्य में गाथा छन्द है ॥१॥

नायिका--[सास्त्रम्] सहि, अत्थि कोवि इमस्स दुक्खस्स उवसमोवाओ ? सखि ! अस्ति कोऽप्यस्य सन्तापस्योपशमोपायः ?)

चेटी--भट्टिदारिए ! अत्थि जदि सो एत्थ आअच्छदि। (भर्तृदारिके ! अस्ति यदि सोऽत्रागच्छति ।)

[ततः प्रविशति नायको विदूषकश्च]

नायकः--

व्यावृत्यैव सितासितेक्षणरुचा तानाश्रमे शाखिनः
कुर्वत्या विटपावसक्तविलसत्कृष्णाजिनौघानिव ।
यद् दृष्टोऽस्मि तया मुनेरपि पुरस्तेनैव मय्याहते
पुष्पेषो ! भवता मुधैव किमिति क्षिप्यन्त एते शराः ॥२॥

अन्वय--व्यावृत्यैव सितासितेक्षणरुचा आश्रमे तान् शाखिनः विटपावसक्त-विलसत्कृष्णाजिनौघान् कुर्वत्या इव यत् मुनेः अपि पुरतः दृष्टः अस्मि तेनैव आहते मयि पुष्पेषो ! भवता किमिति मुधैव एते शराः क्षिप्यन्ते ? ॥२॥

व्याख्या--उपशमोपायः--शान्तिप्रतीकारः। व्यावृत्यैव--(दृष्टिं) परा-वृत्यैव, सितासितेक्षणरुचा--सिते तारकामभितः शुभ्रवर्णे असिते तारकाभ्यन्तरे कृष्णवर्णे ये ईक्षणे नेत्रे तयोः रुचा कान्त्या, आश्रमे--तपोवने, तान्--बुद्धि-स्थान्, शाखिनः--वृक्षान्, विटपावसक्तविलसत्कृष्णाजिनौघान्--विटपेषु शाखासु अवसक्तानि लग्नानि विलसन्ति निर्मलतया प्रकाशमानानि कृष्णानां कृष्णसारमृ-गाणां यानि अजिनानि चर्माणि तेषाम् ओघः समूहो येषु तथाभूतान्, कुर्वत्या इव--विदधत्या इव, यत्, मुनेः--ऋषेः, अपि, पुरतः--अग्रे, दृष्टः अस्मि--विलोकितः अस्मि, तेनैव--तदवलोकनेनैव, मयि, पुष्पेषो--हे कामदेव, भवता --त्वया, किमिति--केन हेतुना, मुधैव--व्यर्थमेव, एते, शराः--बाणाः, क्षिप्यन्ते --प्रहीयन्ते ? ॥२॥

अनुवाद--नायिका--[आँसू के साथ] सखी ! क्या इस सन्ताप को शान्त करने का कोई उपाय है ?

चेटी--राजकुमारी जी ! है, यदि वे यहाँ आ जायँ।

[तदुपरान्त नायक और विदूषक प्रवेश करते हैं]

मुड़कर ही उजली और काली आँखों की कान्ति से आश्रम में स्थित उन वृक्षों को मानों शाखाओं में लगे हुए चमकीले कृष्णसार मृगों के चर्म-समूह से युक्त करती हुई उसने जो मुनि के सामने भी मुझे देखा है, उसी से आहत हुए मुझ पर, हे कामदेव ! आप क्यों व्यर्थ ही ये बाण चला रहे हैं ? ॥२॥

टिप्पणी--(१) **व्यावृत्यैव**--दृष्टि को घुमाकर ही; क्योंकि गुरुजन के समक्ष साक्षात् देखना अनुचित है। वि--आ√वृत्+क्त्वा--ल्यप्। (२) **सितासितेक्षणरुचा**--उजली और काली आँखों की कान्ति से। क्योंकि नायिका की आँखें पुतलियों के आस-पास सफेद थीं और पुतलियों के भीतर काली थीं। (३) **विटपावसक्तविलसत्कृष्णाजिनौघान्**--जहाँ शाखाओं पर कृष्णसार मृगों के चमकते हुए चर्मों का समूह टंगा हुआ हो ऐसे। तात्पर्य यह है कि नेत्रों की श्वेत-कृष्ण कान्ति के सम्पर्क से, नायिका द्वारा देखे गये आश्रमस्थ वृक्षा ऐसे लगते थे जैसे कि उनकी शाखाओं पर कृष्णसार मृगों के चमकीले चर्मों का समूह टँगा हो। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। यहाँ 'इव' शब्द के संभावनार्थक होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है। (४) **दृष्टोऽस्मि**--देखा है। यहाँ 'अहम्' के अर्थ में प्रयुक्त 'अस्मि' शब्द विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। अन्यत्र भी ऐसा मिलता है--'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये'। (५) **तेनैव आहते मयि**--उसी से मारे गये मुझ पर। (६) **पुष्पेषो**--हे पुष्पों के बाण वाले (कामदेव)। पुष्पाणि एव इषवो यस्य स पुष्पेषुः (ब० स०), तत्सम्बोधने। (७) **मुधैव**--व्यर्थ ही। कहने का तात्पर्य है कि मलयवती के कमनीय कटाक्ष से ही जब मेरा हृदय विद्ध हो गया तब उसे विद्ध करने के लिए तुम्हारा बाण-प्रहार व्यर्थ ही तो है।

इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२॥

विदूषकः--भो वअस्स ! कहिं क्खु दे गदं तं धीरत्तणं ? (भो वयस्य ! कुत्र खलु ते गतं तद् धीरत्वम् ?)

नायकः——वयस्य ! ननु धीर एवास्मि । कुतः——

नीताः किं न निशाः शशाङ्कधवला[1] नाघ्रातमिन्दीवरं ?
किं नोन्मीलितमालतीसुरभयः सोढाः प्रदोषानिलाः ? ।
झङ्कारः कमलाकरे मधुलिहां किं वा मया न श्रुतो ?
निर्व्याजं विधुरेष्वधीर इति मां येनाभिधत्ते भवान् ? ।।३।।

अन्वय—शशाङ्कधवला निशाः किं न नीताः ? इन्दीवरं (किं) न आघ्रातम् ? उन्मीलितमालतीसुरभयः प्रदोषानिलाः किं न सोढाः ? वा कमलाकरे मधुलिहां झङ्कारः किं मया न श्रुतः ? येन विधुरेषु अधीर इति मां भवान् निर्व्याजम् अभिधत्ते ।।३।।

व्याख्या——शशाङ्कधवलाः——शशाङ्केन चन्द्रमसा धवलाः शुभ्राः, निशाः——रात्रयः, किं, न, नीताः——यापिताः, इन्दीवरं——कमलं, (किं) न आघ्रातं——घ्राणविषयीकृतम् ? उन्मीलितमालतीसुरभयः——उन्मीलिताभिः प्रस्फुटिताभिः मालतीभिः सुरभयः सौरभमादधानाः, प्रदोषानिलाः——सायंकालिकपवनाः, किं, न, सोढाः——सहनविषयीकृताः ? वा——अथवा, कमलाकरे——कमलवने, मधुलिहां——भ्रमराणां, झङ्कारः——सातिशयगुञ्जितं, किं, मया, न श्रुतः——न आकर्णितः ? येन——यस्मात्, विधुरेषु——दयिताविप्रयुक्तेषु, अधीरः——व्याकुलीकृतचित्तः, इति, मां, भवान्——त्वं, निर्व्याजं——निश्छलम्, अभिधत्ते——वक्ति ।।३।।

अनुवाद——विदूषक——हे मित्र ! आपकी वह धीरता कहाँ चली गई ?

नायक——मित्र ! मैं तो धीर ही हूँ । क्योंकि——

क्या मैंने चन्द्रमा के कारण धवल रातें नहीं बितायीं ? क्या नीलकमल को नहीं सूँघा ? क्या खिली हुई चमेली (के फूलों) से सुगन्धित सायंकालिक वायु को नहीं सहा ? अथवा कमलवन में भौंरों का गुंजारव क्या मैंने नहीं सुना ? जो आप मुझे विरहियों में अधीर——यह निश्छलतापूर्वक कह रहे हैं ।।३।।

टिप्पणी——(१) शशाङ्कधवलाः——चन्द्रमा से उजली बनी । अर्थात् चाँदनी के कारण (विरहियों के लिए) दुष्प्रेक्ष्य (रातों को मैंने बिताया। क्या यह धीरता की बात नहीं हुई ? तब तुम क्यों मुझे अधीर कह रहे हो ?) । (२)

---

१० रुचयो ।

इन्दीवरम्—नीलकमल या बहुत सुगन्धित कमल। (३) उन्मीलितमालती-सुरभयः—विकसित मालतीपुष्पों से सुगन्धित। (४) प्रदोषानिलाः—सायंकालिक वायु। ऐसे वायु के सेवन से उद्दीपन होता है। (५) सोढाः—सहे हैं। √सह्+क्त कर्मणि, तस्य धः, हस्य ढः, ष्टुत्व, ढलोप। (६) मधुलिहाम्—भ्रमरों का। मधु लेढि इति मधुलिट् मधु√लिह्+क्विप्, षष्ठी बहुवचने 'मधुलिहाम्'। (७) विधुरेषु—विरहियों, प्रियावियुक्तों में। 'विधुरं तु प्रविश्लेषे' इत्यमरः। 'वैकल्येऽपि च विश्लेषे विधुरं विकले त्रिषु' इति मेदिनी। (८) निर्व्याजम्—(परिहास का) छल त्यागकर। नास्ति व्याजः छलं यस्मिन् (कर्मणि) तत् (प्रादिबहुव्रीहि)। नायक के कहने का तात्पर्य यह है कि चन्द्र आदि के उद्दीपक होने पर भी मैंने निर्विकार चित्त से सबका सहन किया है, जो कोई धीर पुरुष ही कर सकता है। अतः 'क्व गतं ते धैर्यम्' यह तुम्हारा आक्षेप व्यर्थ है। इससे धैर्यरूप पुरुष-गुण व्यक्त होता है, जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—'व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि'।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३॥

[विचिन्त्य] अथवा मृषा नाभिहितम्। वयस्यात्रेय! नन्वधीर एवास्मि।

स्त्रीहृदयेन न सोढाः क्षिप्ताः कुसुमेषवोऽप्यनङ्गेन।
येनाद्यैव पुरस्तव वदामि धीर इति स कथमहम् ॥४॥

अन्वय—स्त्रीहृदयेन येन (मया) अनङ्गेन क्षिप्ताः कुसुमेषवः अपि न सोढाः सः अहम् अद्यैव तव पुरः धीर इति कथं वदामि ॥४॥

व्याख्या—स्त्रीहृदयेन—स्त्रीगतं स्त्रियां सक्तं हृदयं चेतो यस्य तादृशेन अथवा स्त्रिया इव रागाद्यभिभवासहिष्णु हृदयं यस्य तथोक्तेन, येन—मया, अनङ्गेन—कामदेवेन, क्षिप्ताः—प्रयुक्ताः, कुसुमेषवोऽपि—पुष्पबाणा अपि, न सोढाः—न असह्यन्त, सः, अहम् अद्यैव—अद्यनैव, तव—भवतः, पुरः—अग्रे, धीर इति, कथं—केन प्रकारेण, वदामि—वच्मि ॥

अनुवाद—[सोचकर] अथवा (आपने) मिथ्या नहीं कहा है। मित्र आत्रेय! वस्तुतः मैं अधीर ही हूँ।

स्त्री के प्रति आसक्त चित्त वाले जिसने अंगरहित (कामदेव) के द्वारा फेंके गये फूलों के बाण भी नहीं सहे, वह मैं आज ही तुम्हारे सामने 'धीर हूँ' यह कैसे कहूँ ? ॥४॥

टिप्पणी--(१) मृषा--मिथ्या। (२) स्त्रीहृदयेन--स्त्री पर गये हुए या स्त्री के समान चित्त वाले। (३) अनङ्गेन--बिना शरीर वाले, कामदेव के द्वारा। 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः। [नास्ति अङ्गं यस्य स अनङ्गः (नञ्बहुव्रीहि)। (४) कुसुमेषवः--पुष्पों के बाण। कहने का भाव यह है कि जो पुष्पों का प्रहार भी नहीं सह सका ऐसा मैं धीर कैसे कहा जा सकता ? इस पद्य में आर्या छन्द है ॥४॥]

विदूषकः--[आत्मगतम्] एव्वमधीरत्तणं पडिवज्जंतेण आचक्खिदो महन्तो अणेण हिअअस्स आवेगो। ता जाव कहिं एव्व एदं अवक्खिवामि। [प्रकाशम्] भो वअस्स ! कीस उण अज्ज तुमं लहु एव्व गुरुअणं सुस्सूसिअ इह आगदो ? (एवमधीरत्वं प्रतिपद्यमानेनाख्यातो महाननेन हृदयस्यावेगः, तत् यावत् कुत्रैव एनम् अपक्षिपामि। भो वयस्य ! कथं पुनरद्य त्वं लघ्वेव गुरुजनं शुश्रूषित्वा इहागतः ?)

नायकः--वयस्य ! स्थाने खल्वेष प्रश्नः, कस्य वाऽन्यस्यैतत् कथनीयम् ? अद्य खलु स्वप्ने जानामि--सैव प्रियतमा [अङ्गुल्या निर्दिशन्] अत्र चन्दनलतागृहे चन्द्रकान्तमणिशिलायामुपविष्टा प्रणयकुपिता किमपि मामुपालभमानेव रुदती मया दृष्टा, तदिच्छामि स्वप्नानुभूतदयितासमागमरम्ये अस्मिंश्चन्दनलतागृहे दिवसशेषं समतिवाहयितुम्। तदेहि, गच्छावः। [परिक्रामतः]

चेटी--[कर्णं दत्त्वा ससम्भ्रमम्] भट्टिदारिए ! पदसद्दो विअ सुणीअदि। भर्तृदारिके ! पदशब्द इव श्रूयते।

नायिका--[ससम्भ्रममात्मानं पश्यन्ती] हञ्जे ! मा ईरिसं आआरं पेक्खिअ कोबि मे हिअअं तुलईस्सदि[1]। ता उट्ठेहि, इमिणा रत्तासोअपादवेण अंतरिदा पेक्खम्ह दाव को एसो त्ति। (हञ्जे ! मा ईदृशमाकारं प्रेक्ष्य कोऽपि मे तुलयिष्यति।

१ कलइस्सदि (कलयिष्यति)।

तदुत्तिष्ठ, अनेन रक्ताशोकपादपेन अन्तरिते प्रेक्षावहे तावत् क एष इति ।) [तथा कुरुतः]

विदूषकः--एदं चंदणलदाघरअं । ता एहि, पविसम्ह । (इदं चन्दनलतागृहम् । तदेहि, प्रविशावः ।) [नाट्येन प्रविशतः]

व्याख्या--एवम्--इत्थम्, अधीरत्वं--चलचित्तत्वम्, प्रतिपद्यमानेन--अङ्गीकुर्वता, अनेन--जीमूतवाहनेन, आवेगः--संक्षोभः, आख्यातः--प्रकटितः। कुत्रैव--क्वापि (अन्यत्र), अपक्षिपामि--नियोजयामीत्यर्थः। स्थाने--युक्तमेव। प्रणयकुपिता--प्रणयेन प्रणयमानेन कुपिता क्रुद्धा, उपालभमानेव--तिरस्कुर्वतीव, रुदती--रोदनं कुर्वती, दृष्टा--विलोकिता। स्वप्नानुभूतदयितासमागमरम्ये--स्वप्ने संवेशे अनुभूतेन दयितायाः प्रियायाः समागमेन परस्परमिलनेन रम्ये रमणीये, दिवसशेषं--दिनस्यावशिष्टभागं, समतिवाहयितुं--यापयितुम् । ईदृशमाकारं--शिशिरोपचारादिभिर्निर्लिप्तं, मदीयं--मामकीनं, शरीरं, प्रेक्ष्य--दृष्ट्वा, मा कोऽपि मे हृदयं तुलयिष्यति--बहिराकारदर्शनेन हृद्गताभिप्रायस्य अनुमानं न कोऽपि करिष्यतीत्यर्थः। रक्ताशोकपादपेन--रक्ताशोकस्य वृक्षेण, अन्तरिते भूत्वा प्रच्छन्ने भूत्वा, प्रेक्षावहे--पश्यावः ।

अनुवाद--विदूषक--[मन ही मन] इस प्रकार अधीरता स्वीकार करते हुए इसने (अपने) हृदय के महान् क्षोभ को प्रकट किया है, इसलिए तब तक इसके मन को कहीं अन्यत्र लगा देता हूँ । [प्रकट रूप से] हे मित्र! आज आप शीघ्र ही गुरुजन की सेवा करके यहाँ कैसे चले आये ?

नायक--मित्र! यह प्रश्न उचित ही किया है, अथवा (तुमको छोड़कर) दूसरे किससे यह कहूँ ? आज स्वप्न में मैंने देखा कि वही प्रियतमा [अंगुलि से बताते हुए] इस चन्दनलता के कुञ्ज में चन्द्रकान्तमणि की शिला पर बैठी, प्रेम में रूठी और मुझे कुछ उलाहना देती हुई-सी रो रही है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि स्वप्न में अनुभव किये गये प्रिया के समागम से रमणीय इस चन्दनलता के कुञ्ज में दिन के शेष भाग को बिताऊँ । अतः आओ, चलें। [दोनों घूम जाते हैं]

चेटी--[कान देकर घबराहट के साथ] राजकुमारी जी! पैरों की आहट-सी सुनाई देती है।

नायिका--[घबराहट के साथ अपने को देखती हुई] चेटी ! ऐसी आकृति को देखकर कोई मेरे हृदय को ताड़ न जाय। इसलिए उठो, इस लाल अशोक-वृक्ष की आड़ लेकर हम दोनों देखें कि यह कौन है। [वैसा ही करती हैं]

विदूषक--यह चन्दनलता का कुंज है। इसलिए आइए, प्रवेश करें। [अभिनयपूर्वक प्रवेश करते हैं]

टिप्पणी--(१) **प्रतिपद्यमानेन**--स्वीकार करते हुए। प्रति√पद्+लट्--शानच्। (२) **आवेगः**--क्षोभ। आ√विज्+घञ्। (३) **अपक्षिपामि**--लगाता हूँ। अर्थात् इसके मन को दूसरी जगह लगाकर बहलाता हूँ। (४) **लघ्वेव**--शीघ्र ही, बहुत जल्दी। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। (५) **शुश्रूषित्वा**--सेवा करके। √श्रु+सन्, द्वित्वादि+क्त्वा। (६) **स्थाने**--उचित। [यह अव्यय शब्द है। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। (७) **प्रणयकुपिता**--प्रणयमान से क्रुद्ध, प्रेम का कोप किये हुए। बिना कारण भी प्रणयसम्बन्धी किसी हेतु को लक्ष्य करके कुपित होना प्रणयमान कहलाता है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने लिखा है--'मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः। द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि। प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ॥' (८) **उपालभमाना इव**--उलाहना देती हुई-सी। उप-आ√लभ्+लट्--शानच्, मुक् आगम, टाप्। (९) **समतिवाहयितुम्**--बिताने के लिए। सम्-अति√वह्+णिच्+तुमुन्। (१०) **तुलयिष्यति**--तोल लेगा अर्थात् हृदय के भाव को जान लेगा। तुलां करोति इति तुलयति तुला+णिच् 'तत्करोति तदाचष्टे' इत्यनेन, (नामधातु)+लट्--ति।

नायकः--

चन्दनलतागृहमिदं सचन्द्रमणिशिलमपि प्रियं न मम।
चन्द्राननया रहितं चन्द्रिकया मुखमिव निशायाः ॥५॥

अन्वय--सचन्द्रमणिशिलमपि इदं चन्दनलतागृहं चन्द्राननया रहितं (सत्) चन्द्रिकया (रहितं) निशायाः मुखमिव मम न प्रियम् ॥५॥

व्याख्या--सचन्द्रमणिशिलमपि--चन्द्रमणिशिलया चन्द्रकान्तमणिप्रस्तरेण सहितमपि, इदं--दृश्यमानं, चन्दनलतागृहं, चन्द्राननया--इन्दुमुख्या, रहितं--

वर्जितं (सत्), चन्द्रिकया--कौमुद्या, (रहितं) निशायाः--रात्र्याः, मुखं--प्रारम्भमागः प्रदोषः, इव--यथा, मम प्रियं न--मह्यं न रोचते इत्यर्थः ॥५॥

अनुवाद--नायक--चन्द्रकान्तमणि की शिला से युक्त हुआ भी यह चन्दनलता का कुंज (उस) चन्द्रमुखी के बिना मुझे उसी तरह प्रिय नहीं है जैसे चाँदनी के बिना रात्रि का अगला भाग ॥५॥

टिप्पणी--(१) **चन्द्राननया**--चन्द्रमा के समान मुख वाली से। चन्द्र इव आननं यस्याः सा चन्द्रानना (ब० स०), तया। (२) **चन्द्रिकया**--चाँदनी से। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः। (३) **निशायाः मुखम्**--रात्रि का प्रारंभ भाग, प्रदोषकाल। 'प्रदोषो रजनी-मुखम्' इत्यमरः। भाव यह है कि जैसे चांदनी से रहित सायंकाल लोगों को आनन्द नहीं देता है उसी तरह चन्द्रमुखी प्रियतमा से रहित यह चन्दनलतागृह मुझे हर्ष नहीं दे रहा है।

इस श्लोक में स्वभावतः शीतल भी चन्दनलतागृह के प्रीत्युत्पादक न होने में चन्द्रमुखी से रहित होना कारण है, अतः पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, जिसका लक्षण है--'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्'। 'मुखमिव' में उपमा अलंकार भी है। इसमें आर्या छन्द है ॥५॥

चेटी--[दृष्ट्वा] भट्टिदारिए ! दिट्ठिआ वड्ढसि। सो एव्व णं दे हिअअवल्लहो जणो। (भर्तृदारिके ! दिष्ट्या वर्धसे। स एव ननु ते हृदयवल्लभो जनः।)

नायिका--[दृष्ट्वा सहर्षं ससाध्वसञ्च] हञ्जे ! एदं पेक्खिअ अदिसद्धसेण ण सक्कुणोमि इह एव्व असण्णे चिट्ठिदुं, कदावि एसो मं पेक्खदि, ता एहि अण्णदो गच्छम्ह। [सोत्कण्ठं पदं दत्त्वा] हञ्जे ! बेबंति मे ऊरुओ। (हञ्जे ! एनं प्रेक्ष्य अतिसाध्वसेन न शक्नोमि इहैवासन्ने स्थातुं, कदापि एष प्रेक्षते, तदेहि अन्यतो गच्छावः। वेपेते मे ऊरू।)

चेटी--[विहस्य] अइ काअरे ! इइ ट्ठिदं तुमं को पेक्खदि ? णं विसुमरिदो दे अअं रत्तासोअपादबो। ता इध एव्व उबबिसिअ चिट्ठम्ह। (अयि कातरे ! इह स्थितां त्वां कः प्रेक्षते ? ननु

विस्मृतस्ते अयं रक्ताशोकपादपः । तदिहैव उपविश्य तिष्ठावः ।) [तथा कुरुतः]

विदूषकः——[निरूप्य] भो वअस्स ! एसा सा चंदमणि-सिला । (भो वयस्य ! एषा सा चन्द्रमणिशिला ।)

नायकः——[सबाष्पं निःश्वसिति]

चेटी——भट्टिदारिए ! जाणामि सिबिणआलाबो विअ, ता अबहिदा दवि सुणम्ह । (भर्तृदारिके ! जानामि स्वप्नालाप इव, तदवहिते तावत् शृणुवः ।) [उभे आकर्णयतः]

विदूषकः——[हस्तेन चालयन्] भो वअस्स ! णं भणामि, एसा सा चंदमणिसिलेत्ति । (भो वयस्य ! ननु भणामि, एषा सा चन्द्रमणिशिलेति ।)

नायकः——[सबाष्पं निःश्वस्य] सम्यगुपलक्षितम् । [हस्तेन निर्दिश्य]

व्याख्या——दिष्ट्या——भाग्येन, वर्धसे——विजयसे । हृदयवल्लभः——प्रियतमः । ससाध्वसं——सभयम् । अतिसाध्वसेन——अत्यन्तभयेन । प्रेक्षते——पश्यति । ऊरू——जङ्घे, वेपेते——कम्पेते । अयि कातरे——हे भीरु । स्वप्नालापः——स्वप्न-सम्बन्धिनी वार्ता । अवहिते——सावधाने ।

अनुवाद——चेटी——[देखकर] राजकुमारी जी ! भाग्य से आप बढ़ रही हैं (अर्थात् आपको बधाई है) । वही आपके हृदय के प्रिय पात्र हैं ।

नायिका——[देखकर हर्ष और भय के साथ] चेटी ! इनको देखकर अति-शय भय के कारण मैं यहीं निकट में नहीं रह सकती हूँ, कदाचित् ये देख लेंगे, इसलिए आओ, दूसरी जगह चलें । [उत्कंठा के साथ पैर रखकर] मेरी जांघें काँप रही हैं ।

चेटी——[हँसकर] हे डरपोक ! यहाँ रहने पर आपको कौन देखेगा ? क्या इस रक्त अशोकवृक्ष को आप भूल गईं ? इसलिए आइए, यहीं बैठकर रहें । [वैसा ही करती हैं]

विदूषक--[देखकर] हे मित्र ! यही वह चन्द्रमणिशिला है।

नायक--[आँसू के साथ लंबी साँस लेता है]

चेटी--राजकुमारी जी ! मैं समझती हूँ कि स्वप्न के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है। इसलिए सावधान होकर सुनें। [दोनों सुनती हैं]

विदूषक--[हाथ से हिलाता हुआ] हे मित्र ! मैं कह रहा हूँ कि यही वह चन्द्रकान्तमणि की शिला है।

नायक--[आँसू के साथ गहरी साँस लेकर] ठीक देखा। [हाथ से बताकर]

टिप्पणी--(१) **दिष्ट्या वर्धसे**--बधाई है। यह एक मुहावरा है। इसका शब्दार्थ है--आनन्द की बात है कि तुम बढ़ रही हो। 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः। (२) **ऊरू वेपेते**--जाँघें काँप रही हैं। इसमे अनुरागोत्पन्न 'कम्प' नामक सात्त्विक भाव को कवि ने सूचित किया है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है--'रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः'।

शशिमणिशिला सेयं यस्यां विपाण्डुरमाननं
करकिसलये कृत्वा वामे घनश्वसितोद्गमा।
चिरयति मयि व्यक्ताकूता मनाक् स्फुरितैर्भ्रुवो-
र्विरमितमनोमन्युर्दृष्टा मया रुदती प्रिया ॥६॥

अन्वय--इयं सा शशिमणिशिला यस्यां मयि चिरयति विपाण्डुरम् आननं वामे करकिसलये कृत्वा घनश्वसितोद्गमा भ्रुवोः मनाक् स्फुरितैः व्यक्ताकूता विरमितमनोमन्युः रुदती प्रिया मया दृष्टा ॥६॥

व्याख्या--इयं--दृश्यमाना, सा, शशिमणिशिला--चन्द्रकान्तशिला, यस्यां, मयि, चिरयति--विलम्बं कुर्वति सति, विपाण्डुरं--पीतच्छायम्, आननं--वदनं, वामे--दक्षिणेतरे, करकिसलये--हस्तपल्लवे, कृत्वा--विधाय, घनश्वसितोद्गमा--घनः सान्द्रः श्वसितोद्गमः श्वसितानां वहिः निःसरतां श्वासानाम् उद्गमः आविर्भावः यस्याः तादृशी, भ्रुवोः, मनाक्--ईषत्, स्फुरितैः--चलनैः, व्यक्ताकूता--व्यक्तः प्रकटीकृतः आकूतः अभिप्रायः यया तादृशी, विरमितमनो-

मन्युः--विरमितः उपशमितः मनोगतः मन्युः क्रोधः यया तादृशी, रुदती--रोदनं कुर्वंती, प्रिया--दयिता, दृष्टा--विलोकिता ॥६॥

अनुवाद--यह वही चन्द्रकान्तमणि की शिला है, जहाँ मेरे विलम्ब करने पर (अपने) पीले-से मुख को नवपल्लव जैसे बायें हाथ पर रखकर गहरी साँस खींच ने वाली, भौंहों के कुछ-कुछ चलने से प्रकट हुए अभिप्राय वाली और (पश्चात्) मन का रोष शान्त करने वाली रोती हुई प्रिया को मैंने देखा था ॥६।

टिप्पणी--(१) चिरयति--देर करने पर। चिरं करोति इति चिर+णिच् (नामधातु)+लट्--शतृ=चिरयन्, तस्मिन्। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण सति सप्तमी। (२) विपाण्डुरम्--समान रूप से पीले और गोरे। 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। विशेषेण पाण्डुरम् इति विपाण्डुरम्। (३) करकिसलये--नये पत्ते जैसे (कोमल तथा लाल) हाथ पर। (४) घनश्वसितोद्गमा--गहरे निःश्वासों को छोड़ने वाली,। इससे इष्ट वस्तु के न मिलने से अतिशय चिन्ता व्यक्त की गई है। जैसा कि कहा है--'ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यता श्वासतापकृत्'। (५) विरमितमनोमन्युः--जिसने क्रोध को शान्त कर लिया हो, ऐसी। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः।

इस श्लोक में हरिणी छन्द है, जिसका लक्षण है--'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' ॥६॥

अतस्त्वस्यामेव चन्द्रमणिशिलायामुपविशावः।

[उभावुपविशतः]

नायिका--[विचिन्त्य] का उण एसा हुविस्सदि ? (का पुनरेषा भविष्यति ?)

चेटी--भट्टिदारिए ! जधा अम्हे ओवारिदा दाव एदं पेक्खम्ह, मा णाम तुमम्पि एव्वं दिट्ठा। (भर्तृदारिके ! यथा आवामपवारिते तावदेनं प्रेक्षावहे, मा नाम त्वमप्येवं दृष्टा।)

नायिका--जुज्जदि एदं। किं उण पणअकुविदं पिअअणं हिअए करिअ मंतेदि ? (युज्यते एतत्। किं पुनः प्रणयकुपितं प्रियजनं हृदये कृत्वा मन्त्रयति ?)

चेटी--भट्टिदारिए ! मां ईरिसिं सङ्कं करेहि, पुणोबि दाव सुणम्ह । (भर्तृदारिके ! मा ईदृशीं शङ्कां कुरुष्व । पुनरपि तावत् शृणुवः ।)

विदूषकः--[आत्मगतम्] अहिरमदि एसो एदाए कधाए, भोदु एदं ज्जेव्व वड्ढाइस्सं । [प्रकाशम्] भो वअस्स ? तदा सा तुए रुदती किं भणिदा ? (अभिरमते एष एतया कथया, भवतु एतामेव वर्धयिष्यामि । भो वयस्य ! तदा सा त्वया रुदती किं भणिता ?

नायकः--वयस्य ! इदमुक्तम्--

निष्यन्दत इवानेन मुखचन्द्रोदयेन ते ।
एतद् बाष्पाम्बुना सिक्तं चन्द्रकान्तशिलातलम् ॥७॥

अन्वय--बाष्पाम्बुना सिक्तम् एतत् चन्द्रकान्तशिलातलं ते अनेन मुखचन्द्रोदयेन निष्यन्दत इव ॥७।

व्याख्या--अपवारिते--प्रच्छन्ने, प्रेक्षावहे--पश्यावः । प्रणयकुपितं--प्रणयेन प्रेम्णा कुपितं क्रुद्धं, हृदये कृत्वा--मनसि निधाय, मन्त्रयति--ब्रवीति । अभिरमते--आनन्दं प्राप्नोति । एतामेव वर्धयिष्यामि--एतामेव कथां विस्तरेण वर्णयामि ।

बाष्पाम्बुचा--अश्रुजलेन, सिक्तम्--आर्द्रीकृतम्, एतत्--इदं, चन्द्रकान्तशिलातलं--चन्द्रकान्तशिलायाः चन्द्रकान्तमणिप्रस्तरस्य तलम् अधोभागः, ते--तव, अनेन--स्फुटं दृश्यमानेन, मुखचन्द्रोदयेन--मुखं वदनम् एव चन्द्रः तस्य उदयेन आविर्भावेन, निष्यन्दत इव--क्षरतीव ।।७।।

अनुवाद--इसलिए इसी चन्द्रकान्त मणि की शिला पर बैठें ।

[दोनों बैठ जाते हैं]

नायिका--[सोचकर] यह कौन होगी ?

चेटी--राजकुमारी जी ! जैसे हम दोनों छिपकर इन्हें देख रहे हैं, वैसे (इन्होंने) आपको भी न देख लिया हो ।

नायिका--यह ठीक है। किन्तु ये प्रेम में रूठी प्रिया को हृदय में रखकर क्या बातें कर रहे हैं ?

चेटी--राजकुमारी जी ! ऐसी शंका मत कीजिए। पुनः हम दोनों तब तक सुनें।

विदूषक--[मन में] इस बातचीत से यह आनन्द ले रहा है। अच्छा, इसी बात को बढ़ाऊँगा। [प्रकट रूप से] हे मित्र ! तब रोती हुई उससे आपने क्या कहा ?

नायक--यह कहा--

आँसुओं के जल से भींगा हुआ यह चन्द्रकान्त मणि का शिलातल तुम्हारे इस मुखचन्द्र के उदय से मानों पसीज रहा है ॥७॥

टिप्पणी--(१) अपवारिते--आच्छादित अर्थात् छिपकर। अप√वृ+णिच्+क्त। (२) युज्यते--ठीक है अर्थात् तुम्हारा कथन सही मालूम हो रहा है। (३) बाष्पाम्बुना--आँसुओं के जल से। (४) सिक्तम्--सींचा हुआ। √सिच्+क्त। (५) मुखचन्द्रोदयेन--मुख रूपी चन्द्रमा के उदय से। मुखमेव चन्द्रः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपसमासः)।

इस पद्य में 'मुखचन्द्रम्' में रूपक अलंकार है। यहाँ कवि ने बाष्पसिक्तत्व की चन्द्रोदय के कारण निःसृत जललव से उत्प्रेक्षा की है, अतः क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। 'बाष्पाम्बुना सिक्तम्' मे काव्यलिङ्ग अलंकार है। फिर इन अलंकारों में परस्पर अंगांगिभाव संबंध होने से संकर अलंकार है। इसमें अनुष्टुप् छन्द है ॥७॥

नायिका--[सरोषम्] चदुरिए ! अत्थि किं अदो बि अबरं सोदब्बं ? [सास्रम्] ता एहि, अण्णदो गच्छम्ह। (चतुरिके ! अस्ति किमतोऽप्यपरं श्रोतव्यम् ? तदेहि, अन्यतो गच्छावः।)

चेटी--[हस्ते गृहीत्वा] भट्टिदारिए ! एव्वं मा भण, तुमं एव्व सिबिणए दिट्ठा, ण एदस्स अणस्सिं दिट्ठी अहिरमदि। (भर्तृदारिके ! एवं मा भण, त्वमेव स्वप्ने दृष्टा, न एतस्य अन्यस्यां दृष्टिरभिरमते।)

नायिका—ण मे हिअअं पतिआअदि, ता कहावसाणं जाव पडिवालेम्ह । (न मे हृदयं प्रत्येति, तत् कथावसानं यावत् प्रतिपालयावः ।

नायकः—वयस्य ! जाने तामेवास्यां शिलायामालिख्य, तया चित्रगतया आत्मानं विनोदयामीति । तदित एव गिरितटान्मनः शिलाशकलान्यादाय आगच्छ ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । [परिक्रम्य । गृहीत्वोपसृत्य] भो वअस्स ! तुए एक्को वण्णओ आणत्तो । मए उण इध ज्जेव्व सुलहा पञ्चराइणो वण्णआ आणीदेति । आलिहदु भवं । (यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य ! त्वया एको वर्णक आज्ञप्तः, मया पुनरिहैव सुलभाः पञ्चरागिणो वर्णा आनीता इति । आलिखतु भवान् ।) [उपनयति]

नायकः—वयस्य ! साधु कृतम् । [गृहीत्वा शिलायामालिखन् सरोमाञ्चम्] सखे ! पश्य—

अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवस्य शशिन इव ।
दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमदृष्टेयम् ।।८।।

[आलिखति]

अन्वय—अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवस्य शशिनः इव दयितामुखस्य प्रथमदृष्टा इयं रेखापि सुखयति ।।८।।

व्याख्या—प्रत्येति—विश्वसिति, कथावसानं—कथायाः अवसानम् अन्तं, यावत्, प्रतिपालयावः—प्रतीक्षमाणे तिष्ठावः । आलिख्य—चित्रयित्वा, चित्रगतया—चित्रस्थया, विनोदयामि—आनन्दपात्रतां नयामि । मनः शिलाशकलानि—मनः शिला गैरिकादिधातुविशेषः तस्य शकलानि खण्डानि, आदाय—गृहीत्वा । वर्णकः—रञ्जनसाधनो धातुः, पञ्चवर्णाः—शुक्लनीलपीतरक्ताः शुद्धाः संकीर्णाश्च ।

अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य—अक्लिष्टं परिपक्वं यत् बिम्बं बिम्बफलं तच्छोभः तद्वत् कान्तः अधरः अधरोष्ठः यस्मिन् तादृशस्य (चन्द्रपक्षे अक्लिष्टा

मेघाच्छादनेन विरहिता बिम्बस्य मण्डलस्य या शोभा छविः तस्याः धरः धारकः), नयनोत्सवस्य--नयनयोः नेत्रयोः उत्सवस्य आनन्ददायकस्य, शशिनः चन्द्रस्य, इव, दयितामुखस्य--प्रियावदनस्य, प्रथमदृष्टा--प्रथमम् अवलोकिता (चन्द्रपक्षे प्रतिपदि साक्षात्कृता), इयं--दृश्यमाना, रेखापि--चित्रकर्मविरहाद-समग्रा एकापि रेखा, सुखयति--आनन्दं प्रददाति ॥८॥

अनुवाद--नायिका--[क्रोध के साथ] चतुरिका ! क्या इससे आगे भी कुछ सुनना चाहिए ? [आँसू के साथ] इसलिए आओ, दूसरी ओर चलें।

चेटी--[हाथ पकड़कर] राजकुमारी जी ! ऐसा मत कहिए, आप ही को स्वप्न में देखा है। इनकी दृष्टि दूसरी (नायिका) में नहीं रम रही है।

नायिका--मेरा हृदय विश्वास नहीं करता, इसलिए बातचीत के अन्त तक हम दोनों प्रतीक्षा करें।

नायक--मित्र ! मैं सोच रहा हूँ कि उसी को इस शिला पर चित्रित करके चित्रलिखित उससे मनोविनोद करूँ। इसलिए इधर ही पहाड़ के किनारे से गैरिक के टुकड़े लेकर आओ।

विदूषक--जो आपकी आज्ञा। [घूमकर। लेकर पास आकर] हे मित्र ! आपने मुझे एक ही रंग का धातु लाने की आज्ञा दी थी, किन्तु मैंने पाँच रंग के धातु ला दिये हैं। आप चित्र बनाइए। [पास ले जाता है]

नायक--मित्र ! अच्छा किया। [लेकर शिला पर चित्र खींचता हुआ रोमांच के साथ] मित्र ! देखो--

परिपक्व बिम्बफल के समान शोभा से युक्त अधरोष्ठ वाले (चन्द्र-पक्ष में मेघाच्छादन से रहित मण्डल की शोभा धारण करने वाले) तथा नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा के समान प्रिया के मुख की पहले पहल देखी गई (चन्द्र-पक्ष में प्रतिपदा को देखी गई) यह रेखा भी सुख पहुँचाती है ॥८॥

[चित्र बनाता है]

टिप्पणी--(१) प्रतिपालयावः--प्रतीक्षा करें। (२) आलिख्य--चित्र बनाकर। नायिका का चित्र बनाने से भी विरहविधुर नायक का मनोविनोद होता है। जैसा कि कहा है--'वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं, ततश्चित्रं

-कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि। तदङ्गस्पृष्टानामुपशमवतां दर्शनमपि, प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः ।।' यहाँ स्वप्नदर्शन तो पहले बताया जा चुका है, अब चित्रदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। (३) मनःशिलाशकलानि-- मैनसिल या गैरिक आदि धातुविशेष के टुकड़े। 'भित्तं शकलखण्डे वा पुंसि' इत्यमरः। यहाँ प्रतिमुखसन्धि में मलयवतीसमागमरति के प्रति नायक का चित्र-लेखन आदि प्रयत्न अत्यन्त अनुकूल है, इसलिए विलास नामक प्रतिमुखसन्धि का यह अंग है। जैसा कि धनञ्जय ने कहा है--'रत्यर्थेहा विलासः स्यात्'। (४) पञ्चरागिणो वर्णाः--पांच रंगों के धातु उज्ज्वल, नील, पीत, रक्त और इनके सम्मिश्रण। (५) अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य--(दयितामुख-पक्ष में) अच्छी तरह पके हुए बिम्बफल के तुल्य शोभा वाला ओंठ जिसमें है ऐसा। (चन्द्रपक्ष में) मेघों से रहित मंडल की शोभा को धारण करने वाले। (६) नयनोत्सवस्य-- आंखों को उत्सव अर्थात् आनन्द देने वाले। (७) सुखयति--सुख देती है। सुखं करोति इति सुखयति सुख+णिच् (नामधातु)+लट्--ति।

इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलंकार है, जिसका लक्षण है-- 'सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्।' (साहित्यदर्पण)। इसमें आर्या छन्द है ।।८।।

विदूषकः--[सकौतुकं निर्वर्ण्य] भो वअस्स! अपच्चक्खेबि एव्वं णाम रूअं लिहीअदि, अहो अच्छरिअं! (भो वयस्य! अप्रत्यक्षेऽपि एवं नाम रूपं लिख्यते, अहो आश्चर्यम्!)

नायकः--[सस्मितम्] वयस्य!

प्रिया सन्निहितैवेयं संकल्पस्थापिता पुरः ।।
दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः ।।९।।

अन्वय--संकल्पस्थापिता इयं प्रिया पुरः सन्निहिता एव, यदि एनां दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखामि तत् अत्र कः विस्मयः ।।९।।

व्याख्या--अप्रत्यक्षेऽपि--परोक्षेऽपि (वस्तुनि), एवम्--इत्थं विशदतयेति यावत्, रूपं, लिख्यते--चित्रे निवेश्यते, अहो आश्चर्यं--विस्मयकरम्।

संकल्पस्थापिता--सकल्पैः तद्विषयकचिन्तनैः स्थापिता निहिता, इयम्--एषा, प्रिया--दयिता, पुरः--अग्रे, सन्निहिता एव--समीपस्था एव, यदि--चेत्, एनाम्--इमां, दृष्ट्वा दृष्ट्वा--दर्शं दर्शं, लिखामि--चित्रयामि, तत्--तर्हि, अत्र--अस्मिन् विषये, कः विस्मयः--आश्चर्यम् ? ॥९॥

अनुवाद--विदूषक--[कुतूहल के साथ देखकर] हे मित्र ! (रूपाधार वस्तु के) सामने न रहने पर भी आप इस प्रकार रूप को चित्रित कर रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

नायक--[मुसकराहट के साथ] मित्र !

मानसिक चिन्तनों के द्वारा स्थापित की गई यह प्रिया सामने समीप ही है। यदि इसे देख-देख कर चित्रित कर रहा हूँ तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥९॥

टिप्पणी--(१) अप्रत्यक्षेऽपि--जो सामने नहीं है उसका भी। (२) संकल्पस्थापिता--(तद्विषयक) संकल्पों--चिन्तनों के द्वारा रखी गई। 'संकल्पः कर्म मानसम्' इत्यमरः। (३) पुरः--आगे। (४) सन्निहिता--पास में स्थित। सम् नि√धा+क्त, धा के स्थान में हि आदेश। इस श्लोक का-सा भाव भवभूति के उत्तररामचरित में भी पाया जाता है--'चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः।' इसमें अनुष्टुप् छन्द है ॥९॥

नायिका--[सास्रम्] चदुरिए ! जाणिदं क्खु कहावसाणं, ता एहि दाव मित्तावसुं पेक्खम्ह। (चतुरिके ! ज्ञातं कथावसानं, तदेहि तावन्मित्रावसुं प्रेक्षावहे।)

चेटी--[सविषादमात्मगतम्] हं जीविदणिरवेक्खो विअ से [1]उल्लाबो। (प्रकाशम्) भट्टिदारिए ! णं गदा एव्व तर्हि मणोहारिआ, ता कदाबि भट्टा मित्तावसू इध एव्व आअच्छदि। (हम्, जीवितनिरपेक्ष इवास्या उल्लापः। भर्तृदारिके ! ननु गतैव तत्र मनोहरिका, तत् कदापि भर्ता मित्रावसुरिहैवागच्छति।)

[ततः प्रविशति मित्रावसुः]

मित्रावसुः--आज्ञापितोऽस्मि तातेन, यथा 'वत्स मित्रावसो !

१--आलापो (आलापः)।

जीमूतवाहनोऽस्माभिरिहासन्नभावात् सुपरीक्षितोऽयम्। कुतोऽस्माद् योग्यो वरः? तदस्मै वत्सा मलयवती प्रतिपाद्यताम्' इति। अहन्तु स्नेहपराधीनतया अन्यदेव किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। अन्यच्च,—

यद्विद्याधरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतो
रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधनो विद्वान् विनीतो युवा।
यच्चासूनपि सन्त्यजेत्करुणया सत्त्वार्थमभ्युद्यत-
स्तेनास्मै ददतः स्वसारमतुला तुष्टिर्विषादश्च मे ॥१०॥

अन्वय—यत् विद्याधरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतः रूपेण अप्रतिमः पराक्रमधनः विद्वान् विनीतः युवा, च यत् सत्त्वार्थम् अभ्युद्यतः करुणया असून् अपि सन्त्यजेत् तेन अस्मै स्वसारं ददतः मे अतुला तुष्टिः विषादश्च ॥१०॥

व्याख्या—हम्—इति विषादसूचकं प्राकृतभाषायामव्ययम्। उल्लापः—आलापः, जीवितनिरपेक्षः—जीविते स्वजीवने निरपेक्षः आस्थापराङ्मुखः। तातेन—पित्रा, आज्ञापितोऽस्मि—आदिष्टोऽस्मि, आसन्नभावात्—निकटसंस्थानेन, सुपरीक्षितः—वररूपेण विचारितः। प्रतिपाद्यतां—दीयताम्। स्नेहपराधीनतया—स्नेहेन भगिनीगतप्रेम्णा पराधीनः परवशः, किमपि—अनिर्वचनीयम्, अवस्थान्तरम्—अन्यामवस्थाम्।

यत्—यतः, विद्याधरराजवंशतिलकः—विद्याधराणां राजवंशस्य नृपकुलस्य तिलकः अलङ्कारभूतः, प्राज्ञः—प्रज्ञावान्, सतां—सज्जनानां, सम्मतः—माननीयः, रूपेण—सौन्दर्येण, अप्रतिमः—अद्वितीयः, पराक्रमधनः—विक्रमातिशयवान्, विद्वान्—सुधीः, विनीतः—विनम्रः, युवा—युवकः, च—अथ, यत्—यस्मात् कारणात्, सत्त्वार्थं—प्राणिनां रक्षणार्थम्, अभ्युद्यतः—उद्युक्तः, करुणया—अनुकम्पया, असून्—प्राणान्, अपि, सन्त्यजेत्—जह्यात्, तेन—कारणेन, अस्मै—जीमूतवाहनाय, स्वसारं—भगिनीं, ददतः—प्रयच्छतः, मे—मम, अतुला—अनुपमा, तुष्टिः—सन्तोषः, विषादश्च—दुःखमपि (भवतः) ॥१०॥

अनुवाद—नायिका—[आँसू के साथ] चतुरिका! कथा का अन्त तो समझ गई, इसलिए आओ, अब हम मित्रावसु को देखें।

चेटी—[विषाद के साथ मन में] ओह! इसकी बात से तो मालूम पड़ता है कि इसे जीवन से कोई मोह नहीं है। [प्रकट रूप से] राजकुमारी जी!

मनोहरिका तो वहाँ गई ही है, इसलिए कदाचित् स्वामी मित्रावसु यहीं आते हों।

[तदनन्तर मित्रावसु प्रवेश करता है]

मित्रावसु--मुझे पिता जी ने आज्ञा दी है कि--'पुत्र मित्रावसु ! यहाँ समीपवर्ती होने से इस जीमूतवाहन को हम लोगों ने अच्छी तरह परख लिया है। इससे योग्य वर कहाँ मिलेगा ? इसलिए इसे पुत्री मलयवती दे दो'। किन्तु मैं स्नेह के वशीभूत होने से कुछ दूसरी अवस्था का ही अनुभव कर रहा हूँ। और भी--

क्योंकि जीमूतवाहन विद्याधरों के राजवंश में श्रेष्ठ है, बुद्धिमान्, सज्जनों का आदर-पात्र, सुन्दरता में अद्वितीय, अतिशय पराक्रमी, विद्वान्, विनम्र और युवक है और क्योंकि प्राणियों की रक्षा के लिए तत्पर वह करुणावश प्राणों को भी दे डाले, इस कारण उसे बहन देते हुए मुझे अनुपम सन्तोष और विषाद भी हो रहा है ॥१०॥

टिपणी--(१) **उल्लापः**--वचन। उद्√लप्+घञ् दकार को परसवर्ण लकार। (२) **जीवितनिरपेक्षः**--जीवन की अपेक्षा न रखने वाला। निर्गता यस्मात् स निरपेक्षः (प्रादिबहुव्रीहि), जीविते निरपेक्षः जीवितनिरपेक्षः (सुप्सुपास०) मलयवती के बोलने में स्वरविकृतियों से चतुरिका को पता चला कि यह जीवन के प्रति निरपेक्ष हो गई है। यह 'उल्लापः' का विशेषण है। (३) **अवस्थान्तरम्**--अन्य अवस्था अर्थात् हर्ष और विषाद दोनों अवस्थाओं का। अन्या अवस्था अवस्थान्तरम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपसमासः)। (४) **सतां सम्मतः**--सज्जनों का मान्य। 'सतां' में 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से षष्ठी हुई, क्योंकि 'सम्मतः' में 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' सूत्र से वर्तमान में क्त प्रत्यय हुआ है। (५) **अप्रतिमः**--अद्वितीय। नास्ति प्रतिमा यस्य स अप्रतिमः (नञ्बहुव्रीहि)। (६) **पराक्रमधनः**--पराक्रम ही जिसका धन है, अत्यन्त पराक्रमी। इन गुणों के कारण जीमूतवाहन समीचीन वर है। कहा भी है--'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति' इत्यादि। (७) **सत्त्वार्थम्**--प्राणियों के लिए। (८) **असून्**--प्राणों को। पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इत्यमरः। इस श्लोक में मित्रावसु ने अनिर्वचनीय अवस्था के

अनुभव का कारण बताया है। उसे हर्ष तो भगिनीपति के कुलीन, गुणी तथा सुन्दर होने के कारण है और खेद है उसके प्राणियों की रक्षा के लिए अपने प्राणों के दे देने के—जीवितनिरपेक्ष व्यवहार से। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१०॥

श्रुतञ्च यथा,––जीमूतवाहनो गौर्याश्रमसम्बद्धे चन्दनलतागृहे वर्तत इति, तदेतत् चन्दनलतागृहं यावत् प्रविशामि। [प्रविशति]

विदूषकः––[ससम्भ्रममवलोक्य] भो वअस्स ! पच्छादेहि इमिणा कअलीबत्तेण इमं चित्तगदं कण्णअं, एसो क्खु सिद्धजुवराओ मित्तावसू इव आअदो कदावि पेक्खिस्सदि। (भो वयस्य ! प्रच्छादय अनेन कदलीपत्रेण इमां चित्रगतां कन्यकाम् एष खलु सिद्धयुवराजो मित्रावसुरिहागतः कदापि प्रेक्षिष्यते।)

नायकः––[कदलीपत्रेण प्रच्छादयति]

मित्रावसुः––[प्रविश्य] कुमार ! मित्रावसुः प्रणमति।

नायकः––[दृष्ट्वा] मित्रावसो ! स्वागतम् ! इतः स्थीयताम्।

चेटी––भट्टिदारिए ! आअदो भट्टा मित्तावसू (भर्तृदारिके ! आगतो भर्ता मित्रावसुः।)

नायिका––हञ्जे ! पिअं मे। (हञ्जे ! प्रियं मे।)

नायकः––मित्रावसो ! अपि कुशली सिद्धराजो विश्वावसुः ?

मित्रावसुः––कुशली तातः।[1] तातसन्देशेनास्मि त्वत्सकाशमागतः।

नायकः––किमाह तत्रभवान् ?

नायिका––सुणिस्सं दाव, किं तादेण कुसलं संदिट्ठं त्ति। (श्रोष्यामि तावत्, किं तातेन कुशलं सन्दिष्टमिति।)

---

१ तातादेशेन।

मित्रावसुः--[सास्रम्] इदमाह--'तात ! अस्ति मे मलयवती नाम कन्या जीवितमिवास्य सर्वस्यैव सिद्धराजान्वयस्य। सा मया तुभ्यं प्रतिपाद्यते । प्रतिगृह्यताम्" इति ।

चेटी--[विहस्य] भट्टिदारिए ! किं ण कुप्यसि दाणीं ? (भर्तृदारिके ! किं न कुप्यसीदानीम् ।)

नायिका--[सस्मितं सलज्जञ्च अधोमुखी स्थिता] हञ्जे ! मा हस, किं विसुमरिदं दे एदस्स अण्णहिअअत्तणं ? (हञ्जे ! मा हस, किं विस्मृतं ते एतस्यान्यहृदयत्वम् ।)

व्याख्या--प्रच्छादय--आवृणु । सिद्धराजान्वयस्य--सिद्धराजवंशस्य, जीवितमिव--प्राणा इव, प्रतिपाद्यते--दीयते । प्रतिगृह्यतां--स्वीक्रियताम् । मा हस--हासं मा विधेहि, अन्यहृदयत्वम्--अन्यस्यां नायिकायां सक्तं हृदयं चेतो यस्य सः तस्य भावः अन्यरमणीगतचित्तत्वमिति यावत् ।

अनुवाद--सुना है कि--जीमूतवाहन गौरीआश्रम से लगे हुए चन्दनलता के कुंज में है, इसलिए इस चन्दनलताकुंज में प्रवेश करता हूँ। [प्रवेश करता है]

विदूषक--[घबराहट के साथ देखकर] हे मित्र ! इस केले के पत्ते से इस चित्रस्थ कन्या को ढक दीजिए। यह सिद्धों का युवराज मित्रावसु यहाँ आ गया है, कदाचित् देख लेगा ।

नायिका--[केले के पत्ते से ढक देता है]

मित्रावसु--[प्रवेश करके] कुमार ! मित्रावसु (आपको) प्रणाम करता है ।

नायक--[देखकर] मित्रावसु ! स्वागत है। इधर विराजिए ।

चेटी--राजकुमारी जी ! स्वामी मित्रावसु आ गये ।

नायिका--चेटी ! मेरे लिए प्रिय बात है।

नायक--मित्रावसु ! सिद्धों के राजा विश्वावसु कुशल से तो हैं !

मित्रावसु--पिता जी कुशल हैं। पिता जी का सन्देश लेकर मैं आपके पास आया हूँ।

नायक--मान्यवर ने क्या कहा है?

नायिका--मैं सुनूंगी। पिता जी ने क्या कुशल-सन्देश दिया है।

मित्रावसु--[आँसू के साथ] यह कहा है--'वत्स! इस सम्पूर्ण सिद्धराजकुल की प्राण जैसी मलयवती नाम की मेरी एक कन्या है। वह मैं तुम्हें दे रहा हूँ। स्वीकार करो।'

चेटी--[हँसकर] राजकुमारी जी! अब क्यों नहीं कुपित होती हैं?

नायिका--[मुसकराहट और लज्जा के साथ नीचे मुँह किये रहती है] चेटी! मत हँसो। क्या तुम भूल गई कि इनका मन किसी और पर लगा है।

टिप्पणी--(१) तत्रभवान्--माननीय, पूज्य। 'त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि' इत्यमरः। परोक्ष व्यक्ति के लिए 'तत्रभवान्' और प्रत्यक्ष के लिए 'अत्रभवान्' का प्रयोग किया जाता है। (२) जीवितमिव--जीवन के समान। भाव यह है कि जैसे देहधारियों को जीवन सबसे अधिक प्रिय होता है, वैसे सिद्धराजवंश वालों को मलयवती प्रिय है। कालिदास ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये हैं--'कुलपतेरुच्छ्वसितमिव' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। (३) अन्यहृदयत्वम्--दूसरी रमणी में मन का लगना। अन्यस्यां हृदयं यस्य स अन्यहृदयः (ब० स०), तस्य भावः अन्यहृदयत्वम् अन्यहृदय+त्व।

नायकः--[अपवार्य] वयस्य! सङ्कटे पतिताः स्मः।

विदूषकः--[अपवार्य] भो! जाणामि, ण तं वज्जिअ दे अण्णसिं चित्तं अहिरमदि जधा, तधा जं किम्पि भणिअ विसज्जीअदु एसो। (भो! जानामि, न तां वर्जयित्वा ते अन्यत्र चित्तमभिरमते यथा, तथा यत् किमपि भणित्वा विसृज्यतामेषः।)

नायिका--[सरोषमात्मगतम्] हदास! को वा एदं ण जाणादि? (हताश! को वा एतन्न जानाति?)

नायकः--क इह नेच्छेद् भवद्भिः सह श्लाघ्यमीदृशं सम्ब-

न्धम् ? किन्तु न शक्यते चित्तमन्यतः प्रवृत्तमन्यतः प्रवर्तयितुं, ततो नाहमेनां प्रतिग्रहीतुमुत्सहे ।

नायिका--[मूर्च्छां नाटयति[

चेटी--समस्ससदु समस्ससदु भट्टिदारिआ । (समाश्वसितु समाश्वसितु भर्तृदारिका ।)

विदूषकः--भो पराधीणो क्खु एसो, किं एदिणा अब्भत्थिदेण ? ता गुरुअणं से गदुअ अब्भट्ठेहि । (भोः पराधीनः खलु एषः किमनेनाभ्यर्थितेन ? तद् गुरुजनमस्य गत्वा अभ्यर्थय ।)

मित्रावसुः--[आत्मगतम्] साधूक्तम्; नायं गुरुजनमतिक्रामति । एष गुरुरप्यस्मिन्नेव गौर्याश्रमे प्रतिवसति । तद् यावद् गत्वा अस्य पित्रा मलयवतीं ग्राहयामि ।

नायिका--[समाश्वसिति]

मित्रावसुः--[प्रकाशम्] एवं निवेदितात्मनोऽस्मान् प्रत्याचक्षाणः कुमार एव बहुतरं जानाति ।

नायिका--[सरोषं विहस्य] कहं पच्चाक्खाणलहू मित्तावसू पुणो वि मन्तेदि ? कथं प्रत्याख्यानलघुर्मित्रावसुः पुनरपि मन्त्रयति ?)

[मित्रावसुः निष्क्रान्तः]

व्याख्या--अपवार्य--अपवारितं कृत्वा । संकटे--कष्टे, वर्जयित्वा--त्यक्त्वा, अभिरमते--लगति । विसृज्यतां--त्यज्यताम् । श्लाघ्यं--प्रशस्यम् । अन्यतः प्रवृत्तम्--अन्यस्यामासक्तम् । निवेदितात्मनः--निवेदितः प्रकटीकृतः आत्मा स्वाभिप्रायो यैः तान्, प्रत्याचक्षाणः--निराकुर्वन्, बहुतरम्--अधिकं, जानाति--वेत्ति । प्रत्याख्यानलघुः--प्रत्याख्यानेन निराकरणेन लघुः हीनः, मन्त्रयति--परामर्शं करोति ।

अनुवाद--नायक--[अलग] मित्र ! हम लोग संकट में पड़ गये हैं ।

विदूषक--[अलग] अजी ! मैं जानता हूँ कि आपका चित्त उसको छोड़कर दूसरी जगह नहीं रमता है । इसलिए जो कुछ कहकर इसे विदा कर दीजिए ।

नायिका—[क्रोध के साथ मन में] ओ मुए ! इसे कौन नहीं जानता है ?

नायक—आपके साथ ऐसा प्रशंसनीय सम्बन्ध कौन नहीं चाहेगा ? किन्तु एक ओर लगे हुए चित्त को दूसरी ओर नहीं लगाया जा सकता । इसलिए मैं इसे स्वीकार करने का उत्साह नहीं करता हूँ ।

नायिका—[मूर्च्छित होने का नाट्य करती है]

चेटी—राजकुमारी जी आश्वस्त हों, आश्वस्त हों ।

विदूषक—अजी ! ये पराधीन हैं । (अतः) इनसे प्रार्थना करने से क्या लाभ ? इसलिए इनके माता-पिता से जाकर प्रार्थना कीजिए ।

मित्रावसु—[मन में] ठीक कहा है; ये माता-पिता (की आज्ञा) का उल्लंघन नहीं करते हैं । इनके पिता भी इसी गौरी-आश्रम में निवास करते हैं । इसलिए जाकर इनके पिता से मलयवती को स्वीकार करवाता हूँ ।

नायिका—[आश्वस्त होती है]

मित्रावसु—[प्रकट रूप से] इस प्रकार अपना अभिप्राय प्रकट किये हुए हम लोगों को ठुकराने वाले कुमार ही (इस विषय में) अधिकतर जानते होंगे ।

नायिका—[क्रोध के साथ हँसकर] स्वीकार न करने से अपमानित हुए मित्रावसु क्यों पुनः बातें कर रहे हैं ?

[मित्रावसु बाहर निकल गया]

टिप्पणी—(१) **परावृत्य**—अलग मुड़कर । जहाँ किसी पात्र को किसी पात्र से गुप्त बात करनी होती है ताकि उसके अलावा अन्य कोई न सुनने पाये, वहाँ 'परावृत्य', 'अपवारितम्' आदि शब्दों का प्रयोग होता है—'रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्' (दशरूपक) 'रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते' (सा० द०) । (२) **संकटे पतिताः**—संकट में पड़ गये हैं । नायक के कहने का तात्पर्य है कि विश्वावसु जी की आज्ञा से मुझे मलयवती को पत्नी अवश्य बनानी चाहिए, अन्यथा गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन होगा किन्तु मेरा चित्त स्वप्न में दिखाई पड़ी किसी अन्य सुन्दरी में आसक्त है । अतः दो प्रकार के कार्यों में तुल्यबलविरोध होने से हम कष्टपूर्ण दशा का अनुभव कर

रहे हैं। (३) अन्यतः प्रवृत्तम्--नायक का भाव यह है कि मेरा मन जब एक जगह लग गया है तब उसे वहाँ से हटाना कठिन है । कालिदास ने भी लिखा है—'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्' (कुमारसंभव)। (४) अभ्यर्थितेन--प्रार्थना करने से। अभि√अर्थ्+क्त (कर्मणि)। (५) निवेदितात्मनः--जिन्होंने अपना अभिप्राय या विचार प्रस्तुत कर दिया है ऐसे। (६) प्रत्याचक्षाणः—(मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता इस प्रकार) निराकरण करते हुए। प्रति-आ√चक्ष्+लट्—शानच्। (७) बहुतरम्--बहुत अधिक। अतिशयेन बहु इति बहुतरम् बहु+तरप्। (८) प्रत्याख्यानलघुः—निराकरण या स्वीकार न करने से हीन या अपमानित।

नायिका--[सास्रमात्मानं पश्यन्ती आत्मगतम्]--किं मम एदिणा दोहग्गकलङ्कमइलेण अच्चंतदुक्खभाइणा अज्जबि सरीरेण [1]धारिदेण ? ता इध ज्जेव्व असोअपाअवे इमाए अदिमुत्तलदाए उब्बंधिअ अत्ताणं वाबादइस्सं, ता एदं एव्वं दाव। [प्रकाशं विलक्षस्मिततेन] हञ्जे ! पेक्ख दाव मित्तावसू गदो ण वेत्ति, जेण अहम्पि इदो गमिस्सं। (किं मम एतेन दौर्भाग्यकलङ्कमलिनेन अत्यन्तदुःखभागिना अद्यापि शरीरेण धारितेन ? तदिहैव अशोकपादपे अनया अतिमुक्तलतया उद्बध्य आत्मानं व्यापादयिष्यामि, तदिदमेवन्तावत्। हञ्जे ! प्रेक्षस्व तावत् मित्रावसुर्गतो न वेति, येन अहमपि इतो गमिष्यामि।)

चेटी--[कतिचित् पदानि गत्वा अवलोक्यात्मगतम्] अण्णारिसं से हिअअं पेक्खामि, ता ण गमिस्सं। इध ज्जेव्व ओबारिदा पेक्खामि, किं एसा पडिबज्जदि त्ति। (अन्यादृशमस्यां हृदयं प्रेक्षे, तन्न गमिष्यामि। इहैवापवारिता प्रेक्षे, किमेषा प्रतिपद्यते इति।)

नायिका--[दिशोऽवलोक्य पाशं गृहीत्वा सास्रम्] भअवदि गोरि ! तुए इध ण किदो पसादो, ता जम्मन्तरे जधा ण ईरिसी दुक्खभाइणी होमि, तधा करेसि। (भगवति गौरि ! त्वया इह

१ हदएण (हतकेन)।

न कृतः प्रसादः, तत् जन्मान्तरे यथा न ईदृशी दुःखभागिनी भवामि, तथा करिष्यसि।) [इत्यभिधाय कण्ठे पाशमर्पयति]

चेटी--[दृष्ट्वा ससम्भ्रममुपसृत्य] परित्ताअदु परित्ताअदु अज्जो। एसा भट्टिदारिआ उब्बंधिअ अत्ताणअं वाबादेदि। (परित्रायतां परित्रायतामार्यः, एषा भर्तृदारिका उद्बध्य आत्मानं व्यापादयति।)

नायकः--[ससम्भ्रममुपसृत्य] क्वासौ ? क्वासौ ?

चेटी--इअं असोअपादवे। (इयमशोकपादपे।)

नायकः--[सहर्षमवलोक्य] सैवेयमस्मन्मनोरथभूमिः। [नायिकां पाणौ गृहीत्वा लतापाशमाक्षिपति।]

व्याख्या--दौर्भाग्यकलङ्कमलिनेन--दौर्भाग्यमेव प्रियस्य स्नेहानवाप्तिरेव कलङ्कः लाञ्छनं तेन मलिनेन मलदूषितेन, अत्यन्तदुःखभागिना--अतिशयदुःखावहेन, शरीरेण--देहेन, धारितेन--रक्षितेन, किम्--अलं नास्ति प्रयोजनमित्यर्थः। इहैव--अस्मिन्नेव, अशोकपादपे--अशोकवृक्षे, अतिमुक्तलतया--माधवीलतया (बन्धनरज्जुभूतया), उद्बध्य--संनह्य, व्यापादयिष्यामि--मारयिष्यामि। अपवारिता--प्रच्छन्ना। सैव--सा सुन्दरी एव, इयं--पुरतो दृश्यमाना, अस्मन्मनोरथानां--मदीयाभिलाषाणां, भूमिः--विश्रामस्थानम्। आक्षिपति--मोचयति।

अनुवाद--नायिका--[आँसू के साथ अपने को देखती हुई मन में] मुझे दौर्भाग्यरूपी कलंक से मलिन तथा अत्यन्त दुःखभागी इस शरीर के अब भी धारण करने से क्या लाभ ? इसलिए इसी अशोक वृक्ष पर इस माधवीलता से फाँसी लगाकर अपने को मार डालूँगी, इसलिए ऐसा करूँ। [प्रकट रूप में आश्चर्ययुक्त मुसकराहट के साथ] चेटी ! देखो तो मित्रावसु गये कि नहीं, जिससे मैं भी यहाँ से चली जाऊँगी।

चेटी--[कुछ पग चलकर देखकर मन में] इसके हृदय को और जैसा देख रही हूँ, इसलिए नहीं जाऊँगी। यहीं छिपकर देखती हूँ कि यह क्या करती है।

नायिका--[चारों तरफ देखकर फाँस को लेकर आँसू के साथ] हे भगवती गौरी ! तुमने इस जन्म में (मुझ पर) कृपा नहीं की, इसलिए दूसरे जन्म में जिस प्रकार ऐसी दुःखभागिनी न बनूँ वैसा करना।

[यह कहकर गले में फाँस डालती है]

चेटी--[देखकर हड़बड़ी के साथ समीप जाकर] आर्य बचाइए, बचाइए। यह राजकुमारी फाँसी लगाकर आत्महत्या कर रही है।

नायक--[घबराहट के साथ पास जाकर] वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?

चेटी--यह अशोकवृक्ष के नीचे हैं।

नायक--[हर्ष के साथ देखकर] वही यह [मेरे मनोरथ की विश्राम-भूमि है। [नायिका का हाथ पकड़कर लता की फाँस को छुड़ाता है]

टिप्पणी--(१) **दौर्भाग्यकलङ्कमलिनेन**--दुर्भाग्यरूपी कलंक से दूषित। दुर्भगायाः भावः दौर्भाग्यम् दुर्भगा+ष्यञ्, उभयपदवृद्धि। दौर्भाग्यमेव कलङ्कः (कर्म० स०), तेन मलिनम् (तृ० त०), तेन। (२) **अत्यन्तदुःखभागिना**--अत्यन्तं दुःखम् (प्रादिस०), अत्यन्तदुःखं भजति इति अत्यन्तदुःख√भज्+णिनि। (३) **अतिमुक्तलतया**--माधवीलता से। 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता' इत्यमरः। (४) **उद्बध्य**--ऊपर बाँधकर, फाँसी लगाकर। उद्√बन्ध्+क्त्वा--ल्यप् (५) **व्यापादयिष्यामि**--मार डालूंगी। वि-आ√पद्+णिच्+लृट् (उ० पु० ए०)। (६) **अस्मन्मनोरथभूमिः**--हमारे मनोरथों की भूमि (विश्रामस्थान)।

न खलु न खलु मुग्धे ! साहसं कार्यमीदृक्
व्यपनय करमेतं पल्लवाभं लतायाः।
कुसुममपि विचेतुं यो न मन्ये समर्थः
कलयति स कथं ते पाशमुद्बन्धनाय ॥११॥

अन्वय--मुग्धे ! ईदृक् साहसं न खलु न खलु कार्यम्, पल्लवाभम् एतं करं लतायाः व्यपनय, मन्ये यः कुसुमम् अपि विचेतुं न समर्थः सः ते उद्बन्धनाय पाशं कथं कलयति ॥११॥

व्याख्या--मुग्धे--हे सुन्दरि !, ईदृक्--ईदृशं, साहसम्--आत्महत्यारूपं, न खलु न खलु कार्यं--कथमपि नैवाचरणीयमित्यर्थः, पल्लवाभं--किसलय-कान्तिम् एतम्--इमम्, करं--हस्तं, लतायाः--वल्ल्याः, व्यपनय--दूरीकुरु, मन्ये--जाने, यः--करः, कुसुमं--पुष्पम्, अपि, विचेतुम्--अवचेतुं, न समर्थः--न क्षमः, सः--करः, ते--तव, उद्बन्धनाय--बद्धुम्, पाशम्--अतिमुक्तलतारूप-रज्जुं, कथं--केन प्रकारेण, कलयति--धारयति ।।११।।

अनुवाद--ऐ भोली ! ऐसा साहस बिलकुल न करना । पल्लव की तरह कान्ति वाले इस हाथ को लता से हटा लो। मैं समझता हूँ, जो (हाथ) फूल को भी चुनने में समर्थ नहीं है, वह तुम्हारी फाँसी लगाने के लिए लतापाश (फाँस) को कैसे धारण किये हुए है ।।११।।

टिप्पणी--(१) मुग्धे--अरी भोली या सुन्दरी। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। (२) साहसम्--बिना समझे-बूझे काम कर बैठने का प्रयत्न। सहसा बलेन निर्वृत्तं साहसं सहस्+अण्। (३) न खलु न खलु--बिलकुल नहीं। यहाँ साहस को अत्यन्त अनुचित समझकर उसके निषेध के लिए दो बार इस पद का प्रयोग किया गया है। कालिदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है--'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्' (शाकुन्तलम्)। (४) उद्बन्धनाय--ऊपर लटकाने या फाँसी लगाने के लिए। इसमें 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्र से चतुर्थी हुई। इस श्लोक का भाव कवि ने रत्नावली नाटिका में भी निबद्ध किया है--'अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते, त्वरितमपि विमुञ्च त्वं लतापाशमेनम्'।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है; जिसका लक्षण है 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ।।११।।

नायिका--[ससाध्वसम्] हञ्जे ! को उण एसो ? [निरूप्य सरोषं हस्तमाक्षेप्तुमिच्छति] मुञ्च मुञ्च अग्गहत्थम्, को तुमं णिवारेदुं ? मरणे वि किं तुमं ज्जेव्व अब्भत्थणीओ ? हञ्जे ! कः पुनरेषः ? मुञ्च मुञ्चाग्रहस्तं, कस्त्वं निवारयितुम् ? मरणेऽपि किं त्वमेवाभ्यर्थनीयः ?)

नायकः--नाहं मुञ्चामि।

कण्ठे हारलतायोग्ये येन पाशस्त्वयार्पितः ।
गृहीतः सापराधोऽयं कथं ते मुच्यते करः ? ॥१२॥

अन्वय--त्वया येन हारलतायोग्ये कण्ठे पाशः अर्पितः, अयं ते करः सापराधः गृहीतः, कथं मुच्यते ? ॥१२॥

व्याख्या--ससाध्वसं--सभयम् । अग्रहस्तं--हस्तस्य अग्रभागम् । मरणेऽपि --प्राणपरित्यागेऽपि, अभ्यर्थनीयः--प्रार्थनीयः ।

त्वया--भवत्या, येन--करेण, हारलतायोग्ये--मौक्तिकहारपरिधानोचिते, कण्ठे--गले, पाशः--बन्धनरज्जुः, अर्पितः--दत्तः, अयं--दृश्यमानः, ते--तव, करः--हस्तः, सापराधः--अपराधेन सह वर्तमानः, गृहीतः--मया हस्ते धृत इत्यर्थः ॥१२॥

अनुवाद--**नायिका**--[भय के साथ] चेटी ! यह कौन है ? हाथ के अगले हिस्से को छोड़ो, छोड़ो । तुम रोकने वाले कौन होते हो ? क्या मरने में भी तुमसे ही प्रार्थना करनी चाहिए ?

नायक--मैं नहीं छोड़ता ।

तुमने जिस (हाथ) से लता सदृश हार (मोतियों की माला) पहनने योग्य गले में फाँस डाली है, वह तुम्हारा हाथ, अपराध सहित पकड़ा गया है, कैसे (वह) छोड़ा जा सकता है ? ॥१२॥

टिप्पणी--(१) निवारयितुम्--रोकने के लिए, नि√वृ+णिच्+तुमुन् । (२) हारलतायोग्ये--लता-सी मोतियों की माला पहनाने योग्य । हारः लता इव (उपमित समास) तस्याः योग्यः (ष० त०), तस्मिन् । (३) सापराधः--अपराध सहित, रंगे हाथ । श्लोक का भाव यह है कि जिस गले में मोतियों की माला पहनाई जानी चाहिए उसी गले में तुम्हारे इस हाथ ने फांसी लगाने के लता की फँसरी लटकाई है । यह इसका बड़ा अपराध है । अतएव इस अपराधी को रंगे हाथ पकड़ लेने पर कैसे छोड़ा जा सकता है ?

इस पद्य में अनुष्टुप् छन्द है ॥१॥

विदूषकः--भोदि, किं उण से इमस्स मरणव्ववसाअस्स

कारणं ? (भवति ! किं पुनरस्या अस्य मरणव्यवसायस्य कारणम् ?)

चेटी—[साकूतम्] णं एसो एव्व दे पिअवअस्सो । (नन्वेष एव ते प्रियवयस्यः ।)

नायकः—कथमहमेवास्या मरणकारणम् ? न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भोदि ! कहं विअ ? (भवति ! कथमिव ?)

चेटी—[साकूतम्] जा सा पिअवअस्सेण दे कावि हिअअवल्लहा सिलाअले आलिहिदा, ताए पक्खवादिणा एदेण पडिबादअन्तस्सवि मित्तावसुणो णाहं पडिच्छिदेत्ति जादणिव्वेदाए इमाए एव्वं व्ववसिदं । (या सा प्रियवयस्येन ते काऽपि हृदयवल्लभा शिलातले आलिखिता, तस्याः पक्षपातिना एतेन प्रतिपादयतोऽपि मित्रावसोर्नाहं प्रतीष्टेति जातनिर्वेदया अनया एवं व्यवसितम् ।)

नायकः—[सहर्षमात्मगतम्] कथमियमेवासौ विश्वावसोर्दुहिता मलयवती । अथवा रत्नाकराद् ऋते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः ? हा ! कथं वञ्चितोऽस्मि ।

विदूषकः—भोदि ! जइ एव्वं, ता अणवरद्धो दाणिं पिअवअस्सो । अहवा जइ मम ण पत्तिआअदि, तदा सअं ज्जेव्व सिलाअलं गदुअ पेक्खदु भोदी । (भवति ! यद्येवं, तदनपराद्ध इदानीं प्रियवयस्यः । अथवा यदि मम न प्रत्येति, तदा स्वयमेव शिलातलं गत्वा प्रेक्षतां भवती ।)

नायिका—[सहर्षं सलज्जञ्च नायकं पश्यन्ती हस्तमाकर्षति ।]

नायकः—[सस्मितम्] न तावन्मुञ्चामि यावन्मम हृदयवल्लभां शिलायामालेख्यगतां न पश्यसि ।

[सर्वे परिक्रामन्ति]

व्याख्या--मरणव्यवसायस्य--आत्महत्यानिश्चयस्य । साकूतं—साभिप्रायम्। पक्षपातिना--पक्षधरेण तदुपर्यासक्तेनेत्यर्थः प्रतिपादयतः—ददतः, प्रतीष्टा--स्वीकृता, जातनिर्वेदया—जातः (ईर्ष्यावशेन) उत्पन्नः निर्वेदः आत्मावमाननं यस्याः तथाभूतया, व्यवसितं--निश्चितम् । रत्नाकरात्—रत्नानाम् आकरात् निधेः समुद्रात्, ऋते--विना, चन्द्रलेखायाः—चन्द्रकलायाः, प्रसूतिः--उत्पत्तिः । अनपराद्धः--अपराधरहितः । प्रत्येति—विश्वसिति ।

अनुवाद--विदूषक—शुभे ! इनके इस मरने के निश्चय का क्या कारण है ?

चेटी--[अभिप्राय के साथ] आपके ये प्रिय मित्र ही ।

नायक—कैसे मैं इनके मरने का कारण हूँ? मैं निश्चित ही नहीं जानता ।

विदूषक--भद्रे ! किस तरह ?

चेटी--[अभिप्राय के साथ] आपके प्रिय मित्र ने (अपनी) जिस किसी प्राणप्रिया को शिला पर चित्रित किया, उसके प्रति आसक्त हुए उन्होंने मित्रावसु के द्वारा दिये जाने पर भी इन्हें स्वीकार नहीं किया--इस कारण वितृष्णा उत्पन्न होने पर इन्होंने ऐसा निश्चय किया ।

नायक--[हर्ष के साथ मन में] क्या यही वह विश्वावसु की पुत्री मलयवती है। अथवा समुद्र को छोड़कर चन्द्रकला का जन्म और कहाँ हो सकता है ? हाय ! क्यों मैं धोखा खा गया हूँ ।

विदूषक--भद्रे ! यदि ऐसी बात है तो अब मेरे प्रिय मित्र निरपराध हैं। अथवा यदि मुझ पर विश्वास नहीं करती हैं तो स्वयं जाकर शिलातल को देखिए ।

नायिका--[हर्ष और लज्जा के साथ नायक को देखती हुई हाथ खींचती है ।]

नायक--[मुसकराहट के साथ] मैं तब तक नहीं छोड़ूँगा जब तक शिला पर चित्रित मेरी प्राणप्रिया को नहीं देख लोगी ।

[सब घूमते हैं]

टिप्पणी—(१) मरणव्यवसायस्य—मरने के प्रयत्न या निश्चय का। (२) साकूतम्—अभिप्राय के साथ। (३) पक्षपातिना—पक्षपात करने वाला, प्रगाढ़ रूप से अनुरक्त या आसक्त। पक्ष√पत्+णिनि, उपपदस०। (४) प्रतिपादयतः—देते हुए। प्रति√पद्+णिच्+लट्—शतृ=प्रतिपादयन्, तस्य। (५) प्रतीष्टा—वांछित या स्वीकृत। प्रति√इष्+क्त+टाप् (आ)। (६) जातनिर्वेदया—जिसे विरक्ति या ग्लानि उत्पन्न हुई हो, ऐसी। (७) ऋते रत्नाकरात्—समुद्र के बिना या समुद्र को छोड़कर। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे रत्नों की खान समुद्र से ही चन्द्रकला रूपी रत्न की उत्पत्ति होती है, अन्य से नहीं, उसी प्रकार गुणों की खान विश्वावसु से ही मलयवती जैसी गुणवती रमणी की उत्पत्ति हो सकती है, अन्य से नहीं। यहाँ चन्द्रकला और मलयवती एवं रत्नाकर और विश्वावसु में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है, जिसका लक्षण है—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।

विदूषकः—[कदलीपत्रमपनीय] भोदि ! पेक्ख एदं से हिअअवल्लहं जणं। (भवति ! प्रेक्षस्व एतमस्य हृदयवल्लभं जनम्।)

नायिका—[निरूप्यापवार्य सस्मितम्] चदुरिए ! अहं विअ आलिहिदा। (चतुरिके ! अहमिवालिखिता।)

चेटी—[चित्राकृतिं नायिकाञ्च निर्वर्ण्य] भट्टिदारिए ! किं भणसि ? अहं विअ आलिहिदेत्ति। ईरिसं सोसारिच्छं, जेण ण जाणीअदि, किं दाव इध ज्जेव्व मणिसिलाअले भट्टिदारिआए पडिबिम्बं सङ्कंतं, उद तुमं आलिहिदे त्ति। (भर्तृदारिके ! किं भणसि ? अहमिवालिखितेति। ईदृशं सौसादृश्यं, येन न ज्ञायते किं तावदिहैव मणिशिलातले भर्तृदारिकायाः प्रतिबिम्बं सङ्क्रान्तम्, उत त्वमालिखितेति।)

नायिका—[विहस्य] हञ्जे ! दुज्जणीकिदम्हि इमिणा मं चित्तगदं दंसअंतेण। (हञ्जे ! दुर्जनीकृतास्मि अनेन मां चित्रगतां दर्शयता।)

विदूषकः--णिव्वुत्तो दाणिं दे गन्धव्वो विआहो । ता मुञ्च दाव से अग्गहत्थं । एसा क्खु कावि तुरिदतुरिदा इध ज्जेव्व आअच्छदि । (निर्वृत्त इदानीं ते गान्धर्वो विवाहः । तन्मुञ्च तावदस्या अग्रहस्तम् । एषा खलु कापि त्वरितत्वरिता इहैवाऽऽगच्छति ।) [नायको मुञ्चति]

द्वितीया चेटी--[प्रविश्य सहर्षम्] भट्टिदारिए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । पडिच्छिदा क्खु तुमं भट्टिग्रो जीमूदवाहणस्स गुरूहिं । (भर्तृदारिके ! दिष्ट्या वर्धसे । प्रतीष्टा खलु त्वं भर्तृजीमूतवाहनस्य गुरुभिः ।)

विदूषकः--[नृत्यन्] ही ही भो ! सम्पुण्णा मणोरहा पिअवअस्सस्स । अहवा णहि णहि, भादीए मलअवदीए । अहवा ण एदाणं, [भोजनमभिनयन्] मम ज्जेव्व एक्कस्स बम्हणस्स । (ही हो भोः ! सम्पूर्णा मनोरथाः प्रियवयस्यस्य । अथवा नहि नहि, भवत्या मलयवत्याः । अथवा न एतयोः, ममैव एकस्य ब्राह्मणस्य ।)

व्याख्या--निर्वर्ण्य--निपुणं निरीक्ष्य । ईदृशम्--एतादृशं, सौसादृश्यं--सर्वथा तुल्यरूपता, प्रतिबिम्बं--छाया, संक्रान्तं--पतितम्, उत--अथवा, आलिखिता--चित्रिता । दुर्जनीकृतास्मि--प्रतिमूढा कृतास्मि स्वचेतसि लज्जापितास्मीति यावत् । निर्वृत्तः--निष्पन्नः, गान्धर्वो विवाहः--ब्राह्मदैवादिषु अष्टसु विवाहप्रकारेषु अन्यतमो नायकनायिकयोरिच्छामात्रजन्यः । त्वरितत्वरिता --अतिशैघ्ययुक्ता ।

अनुवाद--विदूषक--[केले के पत्ते को हटाकर] माननीये ! देखिए, यही इनके हृदय की प्रिय व्यक्ति है।

नायिका--[देखकर अलग मुसकराहट के साथ] चतुरिका ! मानों मैं चित्रित की गई हूँ ।

चेटी--चित्र की आकृति और नायिका को ध्यानपूर्वक देखकर] राजकुमारी जी ! आप क्या कहती हैं कि मानों मैं चित्रित की गई हूँ ? (दोनों में)

इतनी सुन्दर समानता है कि यह पता ही नहीं चलता है कि इसी मणिशिलातल पर आपकी परछाँई पड़ी हुई है, अथवा आप चित्रित की गई है।

नायिका-- [हँसकर] चेटी! इन्होंने मुझे चित्र में दिखाकर दुर्जन बना दिया है।

विदूषक--अब आपका गान्धर्व विवाह हो गया है। इसलिए इनका हाथ छोड़ दीजिए। यह कोई (स्त्री) बहुत तेजी से यहीं आ रही है। [नायक छोड़ देता है]

दूसरी चेटी--[प्रवेश करके हर्ष के साथ] राजकुमारी जी! आपको बधाई है। स्वामी जीमूतवाहन के माता-पिता ने आपको (पुत्रवधू के रूप में) स्वीकार कर लिया है।

विदूषक--[नाचता हुआ] अहा! हा!! हा!!! प्रिय मित्र के मनोरथ पूरे हो गये। अथवा नहीं नहीं, माननीया मलयवती के, अथवा इन दोनों के नहीं, [खाने का अभिनय करता हुआ] अकेले मुझ ब्राह्मण के ही।

टिप्पणी--(१) **सौसादृश्यम्**--सुन्दर या अच्छी समानता। सुष्ठु सदृशः सुसदृशः (प्रादि त० स०), सुसदृशस्य भावः सौसादृश्यम् सुसदृश+ष्यञ्। (२) **प्रतिबिम्बम्**--परछाँई। (३) **सङ्क्रान्तम्**--पड़ी हुई। सम्√क्रम्+क्त। (४) **दुर्जनीकृतास्मि**--दुर्जन (बुरी) बना दी गई हूँ। अदुर्जना दुर्जना सम्पद्यमाना कृता इति दुर्जनीकृता दुर्जना+च्वि, ईत्व√कृ+क्त+टाप्। (५) **गान्धर्वो विवाहः**--'ब्राह्म' आदि आठ प्रकार के विवाहों में से एक, जहाँ नायक और नायिका एक दूसरे को देखकर स्वेच्छा से परस्पर विवाह कर लेते हैं, उसे 'गान्धर्व-विवाह' कहते हैं--'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥' (मनुस्मृति २,१२)।

चेटी--[नायिकामुद्दिश्य] आणत्तम्हि जुअराजमित्तावसुणा, जह--'अज्ज ज्जेव्व मलअवदीए विआहो, ता लहु तं गेण्हिअ आअच्छ' त्ति। ता एहि गच्छम्ह। (आज्ञप्तास्मि युवराजमित्रावसुना, यथा--'अद्यैव मलयवत्या विवाहः, तल्लघु तां गृहीत्वा आगच्छ' इति। तदेहि गच्छावः।)

विदूषकः--गदा क्खु तुमं दासीए धीए ! एदं गेण्हिअ। वअस्सेण किं इध ज्जेव्व अवत्थिदव्वं ? (गता खलु त्वं दास्याः पुत्रि ! इमां गृहीत्वा। वयस्येन किमिहैव अवस्थातव्यम् ?)

चेटी--हदास ! मा तुवर तुवर। तुम्हाणं पि ण्हवणअं आअदं ज्जेव्व। (हताश ! मा त्वरस्व त्वरस्व। युष्माकमपि स्नपनकमागतमेव।)

नायिका--[सानुरागं सलज्जञ्च नायकं पश्यन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता]

वैतालिकः--[नेपथ्ये पठति]

वृष्ट्या पिष्टातकस्य द्युतिमिह मलये मेरुतुल्यां दधानः
सद्यः [1]सिन्दूरदूरीकृतदिवससमारम्भसन्ध्याऽऽतपश्रीः।
उद्गीतैरङ्गनानां [2]चलचरणरणन्नूपुरह्लादहृद्यै-
रुद्वाहस्नानवेलां कथयति भवतः सिद्धये सिद्धलोकः ॥१३॥

अन्वय—इह मलये पिष्टातकस्य वृष्ट्या मेरुतुल्यां द्युतिं दधानः, सद्यः सिन्दूरदूरीकृतदिवससमारम्भसन्ध्यातपश्रीः, सिद्धलोकः अङ्गनानां चलचरणरणन्नूपुरह्लादहृद्यैः उद्गीतैः सिद्धये भवतः उद्वाहस्नानवेलां कथयति ॥१३॥

व्याख्या--लघु--शीघ्रम्। दास्याः पुत्रि--नीचदासीत्यर्थः। हताश—निराश क्षुद्रेति यावत्। मा त्वरस्व--शीघ्रतां मा कुरु।

इह--अस्मिन्, मलये--मलयाख्ये पर्वते, पिष्टातकस्य--पटवासकस्य, वृष्ट्या--वर्षणेन, मेरुतुल्यां सुमेरुपर्वतसदृशीं, द्युतिं--कान्तिं, दधानः—धारयन्, सद्यः--तत्क्षणं, सिन्दूरदूरीकृतदिवससमारम्भसन्ध्याऽऽतपश्रीः--सिन्दूरेण उपर्युपरि विक्षिप्तेन सिन्दूरचूर्णेन दूरीकृता तिरस्कृता दिवससमारम्भस्य प्रातःकालस्य सन्ध्यातपस्य सायंकालिकद्योतस्य श्रीः शोभा येन तादृशः, | सिद्धलोकः—सिद्धजननिवासभूमिः, अङ्गनानां ललनानां चलचरणरणन्नूपुरह्लादहृद्यैः—चलचरणेषु चञ्चलपादेषु रणन्तः शब्दायमानाः ये नूपुराः तेषां ह्लादेन मृदुध्वनिना

---

१ धूली। २ ० मरुणमणि।

हृद्यैः मनोहरैः, उद्गीतैः--उच्चैर्गीयमानैः गीतैः, सिद्धये--माङ्गल्याय, भवतः--तव, उद्वाहस्नानवेलां--विवाहसम्बन्धिनः स्नानस्य समयं, कथयति--सूचयति ॥१३॥

अनुवाद--चेटी--[नायिका को लक्ष्य करके] युवराज मित्रावसु ने मुझे आज्ञा दी है कि--'आज ही मलयवती का विवाह है, इसलिए शीघ्र उसे लेकर आ जाओ'। इसलिए आइए, चलें।

विदूषक--अरी दासी की बेटी! इन्हें लेकर तो तुम चल पड़ी। क्या (मेरे) मित्र को यहीं रहना है?

चेटी--ओ मुए! जल्दियाओ मत, जल्दियाओ मत। तुम लोगों के लिए भी स्नान का सामान आया ही समझो।

नायिका--[नायक को अनुराग और लज्जा के साथ देखती हुई सपरिवार चली गई]

वैतालिक--[नेपथ्य में पढ़ता है]

यहाँ मलयपर्वत पर अबीर-गुलाल की वर्षा के कारण सुमेरु पर्वत जैसी कान्ति धारण करता हुआ तत्काल सिन्दूर (गुलाल) से प्रातः काल एवं सन्ध्याकाम की धूप की शोभा को तिरस्कृत करने वाला सिद्धलोक ललनाओं के चलते-फिरते पैरों में बजने वाले नूपुरों (पायलों) की झंकार से सुन्दर उच्चस्वरीय गीतों से मंगलार्थ आपके विवाह-स्नान की सूचना दे रहा है ॥१३॥

टिप्पणी--(१) दास्याःपुत्रि--री दासी की बेटी अर्थात् नीच दासी। 'दास्याः पुत्रि' यह समस्त पद है, 'षष्ठ्या आक्रोशे' सूत्र से निन्दा के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का अलुक् हो गया है। (२) हताश--मूर्ख, निगोड़े। 'हताशो निर्दये चाशारहिते पिशुनेऽपि च' इति मेदिनी। (३) स्नपनकम्--स्नानोचित सामग्री, उबटन आदि। (४) वैतालिकः--समय की सूचना देने वाला स्तुतिपाठक। विविधेन तालेन शब्देन चरति इति वा विविधः तालः प्रयोजनमस्य इति विग्रहे वि‌ताल+ठक् 'चरति' इति सूत्रेण वा 'प्रयोजनमस्य' इति सूत्रेण, तस्य इकादेशः--वैतालिकः। 'वैतालिकाः बोधकराः' इत्यमरः। (५) पिष्टातकस्य--गुलाल की। 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः। पिष्टात एव पिष्टातकः

पिष्टात+क स्वार्थे। (६) द्युतिं दधानः--शोभा को धारण करते हुए। (७) सिन्दूरदूरीकृत०--जिसने प्रातः कालीन और सायंकालीन धूप की शोभा को फीका कर दिया है ऐसा। (८) सिद्धलोकः--सिद्ध लोगों की निवास-भूमि। (९) अङ्गनानाम्--सुन्दरियों के। प्रशस्तानि अङ्गानि आसाम् इति अङ्गनाः अङ्ग+न+टाप्, तासाम्। (१०) चलचरणरणन्नूपुरह्लावहृद्यैः--चंचल चरणों में शब्दायमान नूपुर की ध्वनियों से मनोहर। (११) उद्गीतैः--गान्धार ग्राम में उच्च स्वर से गाये जाने वाले गीतों से। संगीतशास्त्र के अनुसार देव-योनि के प्राणी गान्धार नामक ग्राम गाते हैं--'षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः। न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः।।' श्लोक का भाव यह है कि चारों ओर अबीर-गुलाल उड़ाये जा रहे हैं, सिन्दूर फेंका जा रहा है, जिससे मलयाचल सुमेरुपर्वत की शोभा धारण कर रहा है, प्रातः सायंकालीन धूप की कान्ति भी उसके सामने फीकी पड़ रही है और रमणियाँ थिरकते पैरों में पायल की झंकार से मनोहर मांगलिक गीतों को उच्च स्वर से गा रही हैं। इससे मालूम पड़ता है कि आपके स्नान का समय हो गया है। अतः यहाँ रहना उचित नहीं, शीघ्र आइए।

इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है, जिसका लक्षण है--'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।।१३।।

विदूषकः--[आकर्ण्य] भो वअस्स ! दिट्ठिआ आगदं ण्हवणअं। (भो वयस्य ! दिष्ट्या आगतं स्नपनकम्।)

नायकः--[सहर्षम्] सखे ! यद्येवं किमिदानीमिह स्थितेन ? तदागच्छ। तातं नमस्कृत्य स्नानभूमिमेव गच्छावः।

अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम्।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ।।१४।।

[निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।।२।।

अन्वय--मन्ये--विचारयामि, अन्योन्यदर्शनकृतः समागमः समानरूपानुरागकुलवयसां केषाञ्चित् पुण्यवताम् एव भवति ॥१४॥

व्याख्या--अन्योन्यदर्शनकृतः--परस्परावलोकनविहितः, समागमः--विवाहः, समानरूपानुरागकुलवयसां--समानानि सदृशानि रूपं च अनुरागश्च स्नेहश्च कुलं च वंशश्च वयश्च अवस्था च--एतानि येषां तेषां, केषाञ्चित्, पुण्यवतां--धर्मात्मनाम्, एव, भवति--जायते ॥१४॥

अनुवाद--विदूषक--[सुनकर] हे मित्र ! आनन्द की बात है कि स्नान-सामग्री आ गई।

नायक--[हर्ष के साथ] मित्र ! यदि ऐसा है तो अब यहाँ रहने से क्या लाभ ? इसलिए आओ। पिताजी को प्रणाम करके स्नान करने के स्थान पर ही चलें।

मैं समझता हूँ, एक दूसरे को देखकर किया गया समागम (विवाह) समान रूप, प्रेम, कुल और अवस्था वाले किन्हीं पुण्यात्माओं का ही होता है ॥१४॥

[सब चले गये]

दूसरा अंक समाप्त।

टिप्पणी--(१) अन्योन्यदर्शनकृतः--परस्पर अवलोकन के द्वारा निष्पन्न। वात्स्यायन कामसूत्र के अनुसार नायक-नायिका का परस्पर अवलोकन मुख्य घटक है--'यस्यां मनश्चक्षुषोः प्रवृत्तिस्तस्यामृद्धिः' (अधिकरण ३, अध्याय १, सूत्र १८)। (२) पुण्यवताम्--पुण्यवानों या भाग्यवानों का। श्लोक का तात्पर्य है कि वर-कन्या का एक-दूसरे को देखकर समान रूप, अनुराग, कुल और अवस्था होने पर विवाह करना चाहिए, किन्तु ऐसा विवाह पुण्यवानों का ही होता है, सबका नहीं। महाकवि भवभूति भी विवाह के लिए वर-वधू के परस्पर प्रेम को ही सर्वाधिक महत्ता देते हैं--'इतरेतरानुरागो हि विवाहकर्मणि पराध्यं मङ्गलम्' (मालतीमाधव)। विश्ववन्द्य कवि कालिदास ने बिना प्रेम के विवाह के प्रति अवज्ञा और परस्पर अनुराग होने की अवस्था में जीवन तक के बलिदान की भावना के प्रति अपनी आस्था दिखाई है--'अनातुरोत्कण्ठितयोः

प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति। परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयो: ॥' (मालविकाग्निमित्र)।

इस श्लोक में आर्या छन्द है ॥१४॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति मत्तो विचित्रविह्वलवेशश्चषकहस्तो विटः स्कन्धारोपितसुराभाण्डश्चेटश्च]

विटः—

णिच्चं जो पिबइ सुरं जणस्स पिअसंगमञ्च जो कुणइ ।
मह दे दो अबि देवा बलदेओ कामदेओ अ ॥१॥
(नित्यं यः पिबति सुरां जनस्य प्रियसङ्गमञ्च यः करोति ।
मम तौ द्वावपि देवौ बलदेवः कामदेवश्च ॥१॥)

अन्वय—यः नित्यं सुरां पिबति च यः जनस्य प्रियसङ्गमं करोति, तौ द्वौ अपि—बलदेवः कामदेवश्च मम देवौ ॥१॥

व्याख्या—मत्तः—मद्यपानेन उन्मत्तः, विचित्रविह्वलवेशः—विचित्रः कौतूहलोत्पादकः विह्वलः अस्तव्यस्तः वेशः परिधानं यस्य तथाभूतः, चषकहस्तः—चषकं पानपात्रं हस्ते यस्य तादृशः, विटः—नायकस्य शृङ्गारसहायः पुरुषविशेषः, स्कन्धारोपितसुराभाण्डः—स्कन्धे अंके आरोपितं स्थापितं सुराभाण्डं मदिरापात्रं येन तादृशः, चेटः—नायकस्य शृङ्गारसहायोऽधमः पुरुषविशेषः।

यः, नित्यं—प्रतिदिनं, सुरां—मदिरां, पिबति—धयति, च—तथा, यः, जनस्य—लोकस्य, प्रियसङ्गमं—प्रियजनसमागमं, करोति—विदधाति, तौ, द्वौ—उभौ, अपि, बलदेवः—बलभद्रः, कामदेवश्च—कन्दर्पश्च, मम—मे, देवौ—उपास्यौ (स्तः) ॥१॥

अनुवाद—[तदनन्तर मतवाला, विचित्र और अस्त-व्यस्त वेश बनाये हुए तथा हाथ में मद्य पीने का पात्र लिये हुए विट एवं कन्धे पर मद्य का मटका रखे हुए चेट प्रवेश करते हैं]

विट—जो नित्य मदिरा पीते हैं और जो लोगों को प्रियजन से मिलाते हैं, वे दोनों भी—बलदेव और कामदेव मेरे (उपास्य) देव हैं ॥१॥

टिप्पणी—(१) **तृतीयोऽङ्कः**—दूसरे अंक में नायिका की आत्महत्या की चेष्टा तक विप्रलंभशृंगार का वर्णन करके नाटककार तीसरे अंक में संभोग-शृंगार का वर्णन प्रस्तुत करता है; क्योंकि कहा गया है—'संभोगो विप्रलम्भेन विना न पुष्टिमाप्नुयात्' अर्थात् संभोग की परिपुष्टि विप्रलंभ के विना नहीं होती। उसमें भी 'नाटक सर्वरसविशिष्ट होना चाहिए' इस नियम के अनुसार यहाँ शृंगाररस के वर्णनार्थ कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया गया है, जिसका लक्षण है—'या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता। कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥' (नाट्यशास्त्र २२,४७)। इस वृत्ति के द्वारा विट, चेट आदि के संवाद में स्पष्ट प्रतीत होने वाले हास्य-नर्म का प्रस्ताव हुआ है। नर्म का लक्षण—'आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तवीररसम्। हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविधं विजानीयात् ॥' (ना० शा० २२, ४६)।

(२) **मत्तः**—मतवाला, मद्यपान से उन्मत्त। (३) **विचित्रविह्वलवेशः**—अनोखे और अस्त-व्यस्त पोशाक वाला। (४) **चषकहस्तः**—हाथ में प्याला लिये हुए। 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः। (५) **विटः**—नायक के शृंगार में सहायता पहुँचाने वाला एक विदूषक की श्रेणी का पात्र, जिसका लक्षण है—'सम्भोगहीनसम्पत् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥' (६) **स्कन्धारोपितसुराभाण्डः**—जिसने कंधे पर मद्य-पात्र रख लिया है ऐसा। (७) **चेटः**—नायक का शृंगारसहायक भृत्यविशेष, जिसका लक्षण है—'शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः। भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥ तथा शकारचेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः।' (८) **सुराम्**—मद्य। (९) **प्रियसङ्गमम्**—प्रिय जनों या प्रियतम-प्रियतमा का समागम। प्रियश्च प्रिया च इति प्रियौ (एकशेषद्वन्द्वस०), तयोः सङ्गमः (ष० त०), तम्। (१०) **बलदेवः**—बलराम, श्रीकृष्ण के बड़े भाई। कहते हैं कि ये वारुणी मदिरा बहुत पीते थे। इस पद्य में गाथा छन्द है ॥१॥

[घूर्णन्] सफलं क्खु मे सेहरअस्स जीविदं। (सफलं खलु मे शेखरकस्य जीवितम्।)

वच्छत्थलम्हि दइआ [1]दिण्णुप्पलवासिआ मुहे मइरा।
सीसम्मि अ सेहरओ णिच्चं विअ संठिआ जस्स ॥२॥

(वक्षः स्थले दयिता दत्तोत्पलवासिता मुखे मदिरा।
शीर्षे च शेखरको नित्यमिव संस्थिता यस्य ॥२॥)

अन्वय--यस्य वक्षः स्थले दयिता, मुखे दत्तोत्पलवासिता मदिरा च शीष शेखरकः नित्यमिव संस्थिताः ॥२॥

व्याख्या--यस्य--शेखरकस्य, वक्षः स्थले--उरसि, दयिता--प्रिया, मुखे --आनने, दत्तोत्पलवासिता--दत्तैः तत्र निहितैः उत्पलैः कमलैः वासिता सौगन्ध्यमापादिता, मदिरा--मद्यं (विद्यते), च--तथा, शीर्षे--शिरसि, शेखरकः--विटाधिपत्यसूचको मुकुटविशेषः, नित्यमिव--सततमिव, संस्थिताः --विद्यन्ते (तस्यैव मे जीवनं सफलं नान्यस्येत्यर्थः।)॥२॥

अनुवाद--[झूमता हुआ] मुझ शेखर का जीवन निश्चित ही सफल है।
जिस (मुझ शेखर) के वक्षः स्थल पर प्रिया, मुख में, डाले गये कमलों से सुवासित मदिरा और मस्तक पर मुकुट मानों सतत पड़े रहते हैं ॥२॥

टिप्पणी--(१) दत्तोत्पलवासिता--डाले गये कमलों से सुगन्धित अर्थात् कमलों के सुगन्ध से सुगन्धित की हुई (मदिरा)। (२) शेखरकः--मुकुट।√ शिङ्ख्+अरन्, पृषोदरादित्वात् सिद्धि। इस पद्य में भी गाथा छन्द है।

[प्रस्खलन्] अरे! को मं चालेदि? [सहर्षम्] अवस्सं णोमालिआ मं परिहसदि। (अरे! को मां चालयति? अवश्यं नवमालिका मां परिहसति।)

चेटः--भट्टक! ण अ दाव सा अज्जवि इहागच्छदि। (भर्तः! न च तावत्साद्यापीहाऽऽगच्छति।)

१--नीलु०।

विटः—[सरोषम्] पढमपहरे ज्जेव्व मलअवदीए विआहमंगलं णिव्वुत्तं । ता कीस सा दाणिं पभादे बि ण आअच्छदि ? [विचिन्त्य सहर्षम्] अहवा विआहमहोस्सवे सब्बो ज्जेव्व णिअपणइणीजणसणाहो सिद्धविज्जाहरलोओ कुसुमाअरुज्जाणे आवाणअसोक्खमणुभविस्सदि त्ति तक्केमि । तहिं ज्जेव्व णोमालिआ मं अवेक्खमाणा चिट्ठदि । ता तहिं ज्जेव्व गमिस्सं । कीरिसो णोमालिआए बिणा सेहरओ ? (प्रथमप्रहरे एव मलयवत्या विवाहमङ्गलं निर्वृत्तम् । तत्कथं सा इदानीं प्रभातेऽपि नागच्छति ? अथवा विवाहमहोत्सवे सर्व एव निजप्रणयिजनसनाथः सिद्धविद्याधरलोकः कुसुमाकरोद्याने आपानकसौख्यमनुभविष्यतीति तर्कयामि । तत्रैव नवमालिका मामपेक्षमाणा तिष्ठति । तदहमपि तत्रैव गमिष्यामि । कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः ? [प्रस्खलन् परिक्रामति]

चेटः—एदु एदु भट्टके । एदं कुसुमाअरुज्जाणं । ता पविसदु भट्टके । (एतु एतु भर्ता । एतत् कुसुमाकरोद्यानम् । तत् प्रविशतु भर्ता ।) [उभौ प्रवेशं नाटयतः]

व्याख्या—चालयति—दोलयति । परिहसति—उपहसति । निर्वृत्तम्—निष्पन्नम् । निजप्रणयिजनसनाथः—स्वदयितासंयुतः, सिद्धविद्याधरलोकः—सिद्धानां विद्याधराणां च लोकः गणः, आपानकसौख्यम्—आपानं पानगोष्ठी तस्य सौख्यम् आनन्दम् । नवमालिकया विना—नवमालिकापुष्पादृते, शेखरकः—शिरोमाल्यं, कीदृशः—नैव शोभते (विटपक्षे—नवमालिकया विना—स्वदयितया विना, शेखरकः—शेखरकनामा विटः, कीदृशः—नैव शोभते) ।

अनुवाद—[लड़खड़ाता हुआ] अरे ! कौन मुझे हिला रहा है ? [हर्ष के साथ] अवश्य ही नवमालिका मुझसे मजाक कर रही है।

चेट—स्वामी ! वह यहाँ अभी तक नहीं आयी है।

विट—[क्रोध के साथ] पहले पहर में ही मलयवती का विवाह सम्पन्न हो गया था। तब वह इस समय प्रातःकाल हो जाने पर भी क्यों नहीं आई ? [सोचकर हर्ष के साथ] अथवा विवाह के उत्सव में सभी सिद्ध और विद्याधर लोग अपनी प्रियतमाओं के साथ कुसुमाकर नामक उद्यान में मदिरा-पान का

आनन्द अनुभव करते होंगे, ऐसा मैं अनुमान करता हूं। वहीं नवमालिका मेरी प्रतीक्षा करती हुई बैठी होगी। इसलिए मैं भी वहीं जाऊंगा। नवमालिका के बिना शेखरक कैसा? [लड़खड़ाता हुआ घूमता है।]

चेट--आइए स्वामी, आइए। यह कुसुमाकर उद्यान है। अतः स्वामी प्रवेश करें। [दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।]

टिप्पणी--(१) प्रथमप्रहरे--(रात्रि के) पहले पहर में। (२) निजप्रणयिजनसनाथः--अपनी प्रियतमाओं से युक्त। निजः प्रणयिजनः (कर्म० स०), तेन सनाथः (तृ० त०)। (३) आपानकसौख्यम्--मद्यपान करने की गोष्ठी का सुख। 'आपानं पानगोष्ठिकम्' इत्यमरः। (४) कीदृशो नव०--भाव यह है कि जैसे नवमालिका (एक प्रकार की चमेली) पुष्प के बिना शेखरक (शिर पर धारण करने योग्य माला) की शोभा नहीं होती वैसे ही नवमालिका नामक प्रियतमा के बिना शेखरक नामक विट की शोभा नहीं हो सकती।

[ततः प्रविशति स्कन्धन्यस्तवस्त्रयुगलो विदूषकः]

विदूषकः--संपुण्णा मणोरहा पिअवअस्स। सुदं क्खु मए वि पिअवअस्सो कुसुमाअरुज्जाणं गमिस्सदित्ति। ता जाव तहिं ज्जेव्व गमिस्सं। [परिक्रम्य विलोक्य च] इदं कुसुमाअरुज्जाणं, जाव पविशामि इदं। [प्रविश्य भ्रमरबाधां नाटयन्] अरे! कीस उण दुट्ठमहुअरा मं ज्जेव्व अभिभवंति! [आत्मानमाघ्राय] भोदु जाणिदं, जं तं मलअवदीबंधुजणेण जामातुस्स पिअवअस्सो त्ति कदुअ सबहुमाणं वण्णकेहिं विलित्तोम्हि। सन्ताणकुसुमसेहरअं च मम सीसे पिणद्धं। सो क्खु एसो अच्चाअरो अणत्थीभूदो। किं दाणिं एत्थ करिस्सं? अहवा एदेण ज्जेव्व मलअवदीसआसादो लद्धेण रत्तसुअजुअलेण इत्थिआवेसं विहिअ उत्तरीअकिदावगुण्ठणो गमिस्सं। पेक्खामि दाव किं दासीए पुत्ता महुअरा करिस्संति। (सम्पूर्णा मनोरथाः प्रियवयस्यस्य।) श्रुतं खलु मयापि प्रियवयस्यः कुसुमाकरोद्यानं गमिष्यतीति। तद् यावत्तत्रैव गमिष्यामि। इदं कुसुमाकरोद्यानं, यावत् प्रविशामीदम्। अरे! कथं पुनर्दुष्टमधुकरा मामेव अभिभवन्ति। भवतु ज्ञातं, यत् तन्मलयवतीबन्धुजनेन जामातुः प्रियवयस्य इति कृत्वा सबहुमानं वर्णकैर्विलिप्तोऽस्मि। सन्तानकुसु-

मशेखरकञ्च मम शीर्षे पिनद्धम् । स खलु एषोऽत्यादरो मेऽनर्थीभूतः । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? अथवा एतेनैव मलयवतीसकाशाल्लब्धेन रक्तांशुकयुगलेन स्त्रीवेशं विधाय उत्तरीयकृतावगुण्ठनो गमिष्यामि । पश्यामि तावद् दास्याः पुत्रा दुष्टमधुकराः किं करिष्यन्तीति । [तथा करोति]

विटः—[निरूप्य सहर्षम्] अरे चेड़ ! [अङ्गुल्या निर्दिश्य सहासम्] एसा क्खु णोमालिआ आअदा मं पेक्खिअ 'अहं चिरस्स आअदो' त्ति कुविदा अवगुण्ठणं कदुअ अण्णदो गच्छदि । ता कण्ठे गेण्हिअ पसादेमि णं । (अरे चेट ! एषा खलु नवमालिका आगता मां प्रेक्ष्य 'अहं चिरस्यागत' इति कुपिताऽवगुण्ठनं कृत्वाऽन्यतो गच्छति । तत्कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयाम्येनाम् ।)

व्याख्या—स्कन्धन्यस्तवस्त्रयुगलः—स्कन्धे अंसे न्यस्तं स्थापितं वस्त्रयुगलं वस्त्रद्वयं येन तादृशः मनोरथाः—अभिलाषाः, सम्पूर्णाः—पूर्णतामगुः । दुष्टमधुकराः—दुष्टभ्रमराः, अभिभवन्ति—आक्रामन्ति । सबहुमानम्—अतिशयसम्मानेन सह, वर्णकैः—अङ्गरागैः कुङ्कुमादिविलेपनैः, विलिप्तोऽस्मि—विशेषेण लिप्ताङ्गोऽहं जातः । सन्तानकुसुमशेखरकञ्च—सन्तानकुसुमैः कल्पवृक्षपुष्पैः निर्मितं शेखरकं—शिरोमाल्यं, पिनद्धं—बद्धम् । अत्यादरः—अधिकसत्कारः, अनर्थीभूतः—अनिष्टरूपेण परिवृत्तः । लब्धेन—प्राप्तेन, रक्तांशुकयुगलेन—रक्ते रक्तवर्णे अंशुके वस्त्रविशेषे तयोः युगलेन द्वन्द्वेन, उत्तरीयकृतावगुण्ठनः—उत्तरीयेण उत्तरीयवस्त्रेण कृतं विहितम् अवगुण्ठनम् आवरणं येन तादृशः । चिरस्य—विलम्बेन, कण्ठे गृहीत्वा—कण्ठालिङ्गनं कृत्वेत्यर्थः, प्रसादयामि—तोषयामि ।

अनुवाद—[तदनन्तर कंधे पर दो वस्त्रों को रखे हुए विदूषक प्रवेश करता है ।]

विदूषक—प्रिय मित्र के मनोरथ पूरे हो गये । मैंने सुना है कि प्रिय मित्र कुसुमाकर नामक उद्यान में जायेंगे । इसलिए मैं वहीं जाऊँगा । [घूमकर और देखकर] यह कुसुमाकर-उद्यान है । तो मैं इसमें प्रवेश करता हूँ । [प्रवेश करके भौंरों द्वारा तंग किये जाने का अभिनय करता हुआ] अरे ! कैसे दुष्ट भौंरे फिर

मुझ पर ही आक्रमण करते हैं। [अपने को सूँघकर] अच्छा, समझ लिया कि मलयवती के बन्धु लोगों ने मुझे 'जामाता का प्रिय मित्र जानकर अतिशय आदर के साथ मुझे अंगरागों से पोत दिया है। और मेरे शिर पर कल्पवृक्ष के फूलों की माला पहना दी है। सो यह अतिशय आदर ही मेरे लिए अनर्थ हो गया है। अब मैं यहाँ क्या करूँगा? अथवा मलयवती से प्राप्त इन्हीं दो लाल रेशमी वस्त्रों से स्त्री का वेश बनाकर और चादर से घूँघट काढ़कर जाऊँगा। तब देखता हूँ कि ये दासी के बेटे दुष्ट भौंरे क्या करते हैं। [वैसा ही करता है।]

विट—[अच्छी तरह देखकर हर्ष के साथ] अरे चेट! [अंगुली से दिखाकर हँसी के साथ] यह आयी हुई नवमालिका मुझे देखकर 'मैं विलम्ब से आया' ऐसा समझकर क्रुद्ध हो घूँघट काढ़कर दूसरी ओर जा रही है। इसलिए गले लगकर इसे प्रसन्न करता हूँ।

टिप्पणी—(१) वर्णकैः—अंगरागों या कुंकुम आदि के लेपों से। 'वर्णकं स्याद् विलेपनम्' इत्यमरः। (२) सन्तानकुसुमशेखरकम्—कल्पवृक्ष के फूलों से बनाई गई माला। (३) पिनद्धम्—बाँध दी है। अपि√नह्+क्त, 'नहो धः' इति सूत्रेण हस्य धः, 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इति कारिकया अपेः अकारस्य लोपः। (४) अनर्थीभूतः—अनर्थ या विपत्ति बन गया। अर्थः अनर्थः सम्पद्यमानः भूतः इति अनर्थीभूतः अनर्थ+च्वि, ईत्व√भू+क्त। (५) चिरस्य—बहुत देर करके। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः।

[सहसोपसृत्य कण्ठे गृहीत्वा मुखे ताम्बूलं दातुमिच्छति]

विदूषकः—[मद्यगन्धं सूचयन्नासिकां गृहीत्वा पराङ्मुखः स्थित्वा] अहं एक्काणं महुअराणं सआसादो परिब्भट्ठो दाणिं अण्णस्स दुट्ठमहुअरस्स मुहे पडिदोम्हि। (अहमकेषां मधुकराणां सकाशात्कथमपि परिभ्रष्ट इदानीमन्यस्य दुष्टमधुकरस्य मुखे पतितोऽस्मि।)

विटः—कहं कोवेण परम्मुहीभूदा? भोदु, पाएसु पडिअ पसादेम्हि। (कथं कोपेन पराङ्मुखीभूता? भवतु, पादयोः पतित्वा

प्रसादयामि । [प्रणामं कुर्वन् विदूषकस्य चरणमात्मनः शिरसि कृत्वा] पसीद णोमालिए, पसीद । (प्रसीद नवमालिके ! प्रसीद ।)

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी आणत्तम्हि भट्टिदारिआए,—'हञ्जे णोमालिए ! कुसुमाअरुज्जाणं गदुअ उज्जाणपालिअ पल्लविअं भणाहि । अज्ज सविसेसं तमालवीहिअं सज्जीकरेहि । मलअवदीसहिदेण जामाउकेण तत्थ गन्तव्वं' त्ति । आणत्ता मए पल्लविआ । ता जाव रअणीविरहवड्ढतोत्कण्ठं पिअवअस्सअं सेहरअं अण्णेसामि । [दृष्ट्वा] एसो सेहरओ । [सरोषम्] कहं अण्णं कम्पि इत्थिअं पसादेदि ! ता इह ट्ठिदा ज्जेव जाणामि का एसेत्ति । (आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया—'हञ्जे नवमालिके ! कुसुमाकरोद्यानं गत्वा उद्यानपालिकां पल्लविकां भण । अद्य सविशेषं तमालवीथिकां सज्जीकुरु । मलयवतीसहितेन जामात्रा तत्र गन्तव्यम्' इति । आज्ञप्ता मया पल्लविका । तद् यावद् रजनीविरहवर्धितोत्कण्ठं प्रियवयस्यं शेखरकमन्विष्यामि । एष शेखरकः । कथमन्यां कामपि स्त्रियं प्रसादयति ! तदिह स्थितैव जानामि कैषेति ।)

व्याख्या—एकेषाम्—एकविधानाम्, मधुकराणां—भ्रमराणां, सकाशात्—सामीप्यात्, कथमपि—केनापि प्रकारेण, परिभ्रष्टः—मुक्तः, अन्यस्य—अन्यविधस्य, दुष्टमधुकरस्य—शठभ्रमरस्य (विटपक्षे मधु मदिरा करे हस्ते यस्य स मधुकरः सततमदिरासेवी मद्यपः विटः तस्य) । आज्ञप्तास्मि—आदिष्टास्मि, उद्यानपालिकां—वनरक्षिकां, भण—कथय, तमालवीथिकां—तमालतरुविरचितं गृहविशेषं तमालतरुमध्यस्थितं मार्गं वा, सविशेषं विशेषेण अतिशयेन सह, सज्जीकुरु—परिष्कुरु । रजनीविरहवर्धितोत्कण्ठं—रजन्यां रात्रौ यः विरहः वियोगः तेन वर्धिता उत्कण्ठा समागमोत्सुकता यस्य तादृशं, शेखरकम्, अन्विष्यामि—मार्गयामि ।

अनुवाद—[एकाएक पास जाकर गले लगाकर मुँह में पान देना चाहता है ।]

विदूषक—[मदिरा के गंध की सूचना देता हुआ नाक पकड़कर मुँह फेरे हुए अवस्थित होकर] मैं किसी तरह एक प्रकार के मधुकरों (भ्रमरों) के पास से छूटा तो अब दूसरे दुष्ट मधुकर (मद्यप) के मुँह में (पल्ले) पड़ गया हूँ।

विट—क्या क्रोध से मुँह फेर लिया? अच्छा, पैरों पर गिरकर मना लूँगा। [प्रणाम करता हुआ विदूषक के पैर को अपने शिर पर रखकर] प्रसन्न हो जाओ, नवमालिका! प्रसन्न हो जाओ।

[तब चेटी प्रवेश करती है]

चेटी—मुझे राजकुमारी ने आज्ञा दी है—'सखी नवमालिका! कुसुमाकर-उद्यान में जाकर वाटिका की रक्षिका पल्लविका से कहो कि आज तमालवृक्षों वाले मार्ग (या गृहविशेष) को विशेष रूप से सजाओ। मलयवती सहित जामाता को वहाँ जाना है।' पल्लविका को मैंने आज्ञा दे दी है। तो अब रात्रि-वियोग के कारण बढ़ी हुई उत्कण्ठा वाले प्रिय मित्र शेखरक को ढूँढ़ती हूँ। [देखकर] यह शेखरक है। [क्रोध के साथ] क्यों यह दूसरी किसी स्त्री को मना रहा है? इसलिए यहीं रहकर जान लेती हूँ कि यह (स्त्री) कौन है।

टिप्पणी—(१) एकेषाम्—एक प्रकार के। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। (२) मधुकराणाम्—भौंरों के। मधु कुर्वन्ति इति मधुकरः मधु√कृ+ट। (३) मधुकरस्य—मद्यप, शराबी के। मधु करे यस्य सः। (४) उद्यानपालिकाम्—बगीचे की रक्षिका, मालिन को। (५) तमालवीथिकाम्—तमालवृक्षों वाले मार्ग को या तमालवृक्षों से रचित गृहविशेष को। 'वीथी पङ्क्तौ गृहाङ्गे च रूपकान्तरवर्त्मनोः' इति मेदिनी। (६) रजनीविरहवर्धितोत्कण्ठम्—रात में वियोग के कारण जिसकी (प्रिया-मिलन की) उत्कण्ठा और अधिक हो गई है, ऐसे।

विटः—[सहर्षम्]

हरिहरपिदामहाणं पि गव्विदो जो ण जाणइ णमिदुं।
सो सेहरओ चलणेसु तुज्ज णोमालिए पडइ ॥३॥
(हरिहरपितामहानामपि गर्वितो यो न जानाति नन्तुम्।
स शेखरकश्चरणयोस्तव नवमालिके पतति ॥३॥)

अन्वय––नवमालिके ! यः गर्वितः (सन्) हरिहरपितामहानपि नन्तुं न जानाति, स शेखरकः तव चरणयोः पतति ॥३॥

व्याख्या––नवमालिके ! यः, गर्वितः––अभिमानयुक्तः (सन्) हरिहरपितामहानपि––हरिः विष्णुः हरः शङ्करः पितामहः ब्रह्मा एतानपि, नन्तुं––प्रणन्तुं, न जानाति––न वेत्ति, स शेखरकः, तव––ते, चरणयोः––पादयोः, पतति मानभञ्जनायेति शेषः ॥३॥

अनुवाद––हे नवमालिके ! जो अभिमान के कारण विष्णु, शंकर और ब्रह्मा को भी प्रणाम करना नहीं जानता है, वह शेखरक तुम्हारे पैरों पर पड़ रहा है ॥३॥

टिप्पणी––(१) गर्वितः––अभिमानी । गर्वः संजातोऽस्य इति गर्वितः गर्व+इतच् । हरिहरपितामहान्––ब्रह्मा, विष्णु, महेश को । हरिश्च हरश्च पितामहश्च इति हरिहरपितामहाः (द्वन्द्वस०), तान् । इस पद्य में गाथा छन्द है ॥३॥

विदूषकः––दासीए पुत्ता ! भत्तपालआ ! कुदो एत्थ णोमालिआ ? (दास्याः पुत्र ! भत्तपालक ! कुतोऽत्र नवमालिका !)

चेटी––[निरूप्य सस्मितम्] कधं मं त्ति करिअ मदपरवसेण सेहरएण अज्ज अत्तेओ पसादिअदि ? ता जाव अलीअं कोबं करिअ दुवेबि एदे परिहस्सिं [(कथं मामिति कृत्वा मदपरवशेन शेखरकेण आर्यात्रेयः प्रसाद्यते ? तद् यावद् अलोकं कोपं कृत्वा द्वावप्येतौ परिहसिष्यामि ।)

चेटः––[चेटीं दृष्ट्वा शेखरकं हस्तेन चालयन्] भट्टका ! सुदं एदं । ण भोदि एसा णोमालिआ । [एसा उण रोसारत्तेहिं लोअणेहिं पेक्खंती आअदा । (भर्तः ! मुञ्चैतम् । न भवत्येषा नवमालिका । एषा पुना रोषारक्ताभ्यां लोचनाभ्यां प्रेक्षमाणा आगता ।)

चेटी––[उपसृत्य] सेहरअ ! का उण एसा पसादिअदि ? शेखरक ! का पुनरेषा प्रसाद्यते ?)

विदूषकः—[अवगुण्ठनमवतार्य] भोदि ! कोबि बम्हणो अहं मन्दभाअधेअपउत्तो । (भवति ! कोऽपि ब्राह्मणोऽहं मन्दभागधेयप्रयुक्तः ।)

विटः—[विदूषकं निरूप्य] अरे कबिलमंकड ! तुमंपि सेहरअं पदारेसि ? अरे चेड ! गेण्ह एदं, जाव णोमालिअं पसादेमि । (अरे कपिलमर्कट ! त्वमपि शेखरकं प्रतारयसि ! अरे चेट ! गृहाणैनं यावन्नवमालिकां प्रसादयामि ।)

चेटः—जं भट्टको आणवेदि । (यद्भर्ता आज्ञापयति ।)

विटः—[विदूषकं मुक्त्वा चेट्याः पादयोः पतति ।] पसीद णोमालिए! पसीद । (प्रसीद नवमालिके ! प्रसीद ।)

विदूषकः—[आत्मगतम्] एसो मे अवक्किदुं अवसरो । (एष मेऽपक्रमितुमवसरः ।)

[पलायितुमीहते ।]

चेटः—[विदूषकं यज्ञोपवीते गृह्णाति । यज्ञोपवीतं त्रुट्यति ।] कहिं कहिं कबिलमंकड ! पलाअसि ? (कुत्र कुत्र कपिलमर्कट ! पलायसे ?)

[तदुत्तरीयेण गले बद्ध्वाऽऽकर्षति]

व्याख्या—मत्तपालक—मत्तश्रेष्ठ मदान्धेति यावत् । मामिति कृत्वा—स्वप्रिया चेटी एवेयमिति मनसि निधाय, मदपरवशेन—मदान्धेन, आत्रेयः—तन्नामा विदूषकः, प्रसाद्यते—(पादपतनेन) अनुकूलो विधीयते । अलीकं—मिथ्या, कोपं—क्रोधं, कृत्वा—विधाय, एतौ परिहसिष्यामि—एताभ्यां सह परिहासं करिष्यामि । रोषाक्ताभ्यां—रोषेण क्रोधेन आरक्ताभ्याम् आसमन्ताद्भावेन अरुणाभ्यां, लोचनाभ्यां—नेत्राभ्याम्, प्रेक्षमाणा—पश्यन्ती । मन्दभागधेयप्रयुक्तः—मन्दभाग्यवशग इत्यर्थः । कपिलमर्कट—पिङ्गलवर्णवानर, प्रतारयसि—वञ्चयसि । अपक्रमितुं—पलायितुम्, अवसरः—कालः । ईहते—वाञ्छति प्रयतते इत्यर्थः ।

अनुवाद--विदूषक—दासी के बेटे ! पियक्कड़ों के सरदार ! यहाँ नवमालिका कहाँ ?

चेटी—[अच्छी तरह देखकर मुसकराहट के साथ] नशे में चूर होने के कारण शेखरक आर्य आत्रेय (विदूषक) को मेरे भ्रम से कैसे प्रसन्न कर रहा है ? तो नकली क्रोध करके मैं इन दोनों की हँसी उड़ाऊँगी।

चेट--[चेटी को देखकर शेखरक को हाथ से हिलाता हुआ] स्वामी ! इसको छोड़ दो। यह नवमालिका नहीं है। नवमालिका तो क्रोध के कारण लाल-लाल आँखों से देखती हुई आयी है।

चेटी--[पास जाकर] शेखरक ! यह किसको मना रहे हो ?

विदूषक--[घूँघट को हटाकर] श्रीमती ! मैं तो मन्द भाग्य का मारा हुआ एक ब्राह्मण हूँ।

विट--[विदूषक को देखकर] अरे भूरे बन्दर ! तुम भी शेखरक को छल रहे हो ? अरे चेट ! इसको पकड़े रहो, जब तक मैं नवमालिका को मनाता हूँ।

चेट--स्वामी की जो आज्ञा।

विट--[विदूषक को छोड़कर चेटी के पैरों पर पड़ता है] प्रसन्न हो जाओ नवमालिका ! प्रसन्न हो जाओ।

विदूषक--[मन में] यह मेरे (लिए) भाग जाने का मौका है।

[भागने का प्रयत्न करता है।]

चेटी--[विदूषक का यज्ञोपवीत पकड़ लेता है। यज्ञोपवीत टूट जाता है] भूरे बंदर ! कहाँ, कहाँ भागे जा रहे हो ?

[उसी की चादर से गला बाँधकर खींचता है]

टिप्पणी—(१) दास्याः पुत्र--दासी का बेटा, हरामी। (२) मत्तपालक--पियक्कड़ों का राजा, मदान्ध। (३) मामिति कृत्वा--मुझे मानकर, 'मैं हूँ' इस भ्रम से। (४) मदपरवशेन--नशे में चूर होने से। (५) अलीकम्--मिथ्या, नकली। (६) परिहसिष्यामि--परिहास, दिल्लगी करूँगी। (७)

रोषारक्ताभ्याम्--क्रोध के मारे बहुत लाल। (८) मन्दभागधेयप्रयुक्तः--दुर्भाग्य से प्रेरित, अभागा। (९) कपिलमर्कट--भूरे या बादामी रंग के वानर। (१०) प्रतारयसि--ठग रहे हो या बेवकूफ बनाते हो। प्र√तॄ+णिच्+लट् (म० पु० ए०)। (११) अपक्रमितुमवसरः--भाग जाने या खिसकने का मौका।

विदूषकः--भोदि णोमालिए! पसीद मोआवेहि मं। (भवति नवमालिके! प्रसीद। मोचय माम्।)

चेटी--[विहस्य] जइ भूमीए सीसं णिवेसिअ पादेसु मे पडसि। (यदि भूमौ शीर्षं निवेश्य पादयोर्मे पतसि।)

विदूषकः--[सरोषं सप्रकम्पञ्च] भो! राअमित्तो बम्हणो भविअ दासीए धीआए पादेसु पडइस्सं? (भोः! राजमित्रं ब्राह्मणो भूत्वा दास्याः पुत्र्याः पादयोः पतिष्यामि?)

चेटी--[अङ्गुल्या तर्जयन्ती सस्मितम्] दाणि पाडइस्सं। सेहरअ! उट्ठेहि, पसण्णा दे अहं। [कण्ठे गृह्णाति] एसो उण जामाउकस्स पिअवअस्सो तुए खलीकिदो। एव्वञ्च सुणिअ कदावि भट्टा मित्तावसू तव कुप्पइ। ता आदरेण सम्माणेहि णं। (इदानीं पातयिष्यामि। शेखरक! उत्तिष्ठ, प्रसन्ना तेऽहम्। एष पुनर्जामातुः प्रियवयस्यस्त्वया खलीकृतः। एवञ्च श्रुत्वा कदाऽपि भर्ता मित्रावसुस्तुभ्यं कुप्यति। तदादरेण सम्मानयैनम्।)

विटः--जं णोमालिआ आणवेदि। [विदूषकं कण्ठे गृहीत्वा] अज्ज! तुमं मए पिअसम्बन्धिओत्ति करिअ परिहसिदो। [घूर्णन्] किं सच्चकं ज्जेव्व सेहरओ मत्तो? किदो परिहासो। [उत्तरीयं वर्तुलीकृत्य आसनं ददाति] इह उपविसदु संबन्धिओ। (यन्नवमालिका आज्ञापयति। आर्य! त्वं मया प्रियसम्बन्धीतिकृत्वा परिहसितः। किं सत्यमेव शेखरको मत्तः? कृतः परिहासः। इह उपविशतु सम्बन्धी।)

विदूषकः--[स्वगतम्] दिट्ठिआ अवगदो विअ से मदावेगो। (दिष्ट्याऽपगता इवास्य मदाऽऽवेगः।) [उपविशति]

व्याख्या—राजमित्रं—राज्ञः जीमूतवाहनस्य मित्रं सखा। खलीकृतः—दुष्टीकृतः क्लेशितो वा। तुभ्यं कुप्यति—तवोपरि क्रोधं कुर्यात्। सम्मानय—पूजय। दिष्ट्या—भाग्यवशात्, अस्य, मदावेगः—मत्ततया जायमान आवेगः चेतसो विह्वलता, अपगत इव—दूरीकृत इव (लक्ष्यते)।

अनुवाद—विदूषक—श्रीमती नवमालिका! प्रसन्न हो, मुझे छुड़ा दो।

चेटी—[हँसकर] यदि भूमि पर शिर रखकर मेरे पैरों पर पड़ो (तो मैं छुड़ा दूँगी)।

विदूषक—[क्रोध के साथ काँपता हुआ] अजी! मैं राजा का मित्र और ब्राह्मण होकर दासी की बेटी के पैरों पर पड़ूँगा?

चेटी—[अंगुली से डराती हुई मुसकराहट के साथ] अभी (तुमको अपने पैर पर) गिराऊँगी। शेखरक! उठो। उठो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ [गले लगाती है] तुमने जामाता के इस प्रिय मित्र को तंग किया है। ऐसा सुनकर कदाचित् स्वामी मित्रावसु तुम पर क्रोध करेंगे। इसलिए आदर पूर्वक इसे सम्मानित करो।

बिट—नवमालिका की जो आज्ञा। [विदूषक को गले लगाकर] प्रिय सम्बन्धी समझ कर तुमसे मैंने हंसी-मजाक किया है। [लड़खड़ाता हुआ] क्या सचमुच ही (तुमने समझ लिया है कि) शेखरक पागल है? हँसी-मजाक किया है। [चादर को गोल लपेटकर (बैठने के लिए) आसन देता है।] सम्बन्धी जी यहाँ बैठें।

विदूषक—[मन में] भाग्य से इसके नशे का वेग उतर गया है। [बैठ जाता है]

टिप्पणी—(१) राज्ञः मित्रम्—राजा (जीमूतवाहन) का मित्र। विदूषक के कहने का भाव है कि एक तो मैं राजा का मित्र हूँ और दूसरा सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। ऐसी स्थिति में एक दासी के पैरों पर कैसे पड़ सकता हूँ। (२) खलीकृतः—दुर्गत या तिरस्कृत किया। न खलः अखलः, अखलः खलः सम्पद्यमानः कृतः इति खलीकृतः खल+च्वि, ईत्व √कृ+क्त, (३) सम्बन्धीति कृत्वा—सम्बन्धी (रिश्तेदार) समझकर। रिश्तेदारी में

जामाता के पक्ष के पुरुष से हँसी-मजाक किया ही जाता है, इसलिए मैंने तुमसे मात्र मजाक किया है, बुरा न मानना (४) वर्तुलीकृत्य--गोल करके। अवर्तुलं वर्तुलं सम्पद्यमानं कृत्वा इति वर्तुलीकृत्य वर्तुल+च्वि, ईत्व√कृ+क्त्वा--ल्यप्। (५) मदावेगः--नशे का जोर या वेग।

विटः--णोमालिए! उबविस तुमं पि एदस्स पासे, जेण दुवेवि तुम्हें समं ज्जेव्व सम्माणइस्सं। (नवमालिके! उपविश त्वमप्येतस्य पार्श्वे, येन द्वावपि युवां सममेव सम्मानयिष्यामि।)

[चेटी विहस्योपविशति]

विटः--[चषकमादाय] अरे चेडअ! सुभरिदं क्खु एदं चसअं करहि अच्छसुराए। (अरे चेटक! सुभृतं खल्वेतच्चषकं कुरु अच्छसुरया।)

चेटः--[नाट्येन चषकभरणं करोति]

विटः--[स्वशिरः शेखरात् पुष्पाणि गृहीत्वा चषके विन्यस्य जानुभ्यां स्थित्वा नवमालिकाया उपनयति] णोमालिए! चक्खिअ देहि एदं एदस्स। (नवमालिके! आस्वाद्य देह्येतमेतस्मै।)

चेटी--[सस्मितम्] जं सेहरओ भणादि। (यत् शेखरको भणति।) [तथा कृत्वा विटस्यार्पयति।]

विटः--[विदूषकस्य चषकमर्पयति] एदं णोमालिआमुह-संसग्गसबिसेसबासिअरसं सेहरआअण्णेण केणवि अणासादिदपुरुब्वं, ता पिबेहि एदं। किं दे अबरं सम्माणं करिस्सं? (एतत् नव-मालिकामुखसंसर्गसविशेषवासितरसं शेखरकादन्येन केनाप्यनास्वा-दितपूर्वं, तत् पिबैतत्। किं तेऽपरं सम्मानं करिष्यामि?)

विदूषकः--[सवैलक्ष्यस्मितं कृत्वा] सेहरअ! बम्हणो क्खु अहं। (शेखरक! ब्राह्मणः खल्वहम्।)

विटः--जदि तुमं बम्हणो, ता कहिं दे बम्हसुत्तं? (यदि त्वं ब्राह्मणः तत् क्व ते ब्रह्मसूत्रम्?)

विदूषकः--तं क्खु इमिणा चेडेण कड्ढीअमाणं छिण्णं। (तत् खलु अनेन चेटेनाऽऽकृष्यमाणं छिन्नम्।)

चेटी--[विहस्य] जइ एव्वं, ता वेदक्खराइं पि दाव कतिवि उदाहर। (यद्येवं तद् वेदाक्षराण्यपि तावत् कत्यपि उदाहर ।)

व्याख्या--सममेव--सहैव । चषकं--मदिरापात्रम् अच्छसुरया--शोभनया मदिरया, सुमृतं कुरु--सुष्ठु पूरितं विधेहि। नवमालिकामुखसंसर्गसविशेषवासितरसं--नवमालिकायाः मुखसंसर्गेण वदनसम्पर्केण सविशेषम् अतिशयेन वासितः सुगन्धीकृतः रसः स्वादः यस्य तथाभूतम्, अनास्वादितपूर्वम्--पूर्वं नैवास्वादितम्, तत्--तस्मात् कारणात्, एतत्--मद्यम्, पिब--आस्वादय। ब्रह्मसूत्रं--यज्ञोपवीतम् । छिन्नं--त्रुटितम् । उदाहर--उच्चारय ।

अनुवाद--**विट**--नवमालिका ! तुम भी इनके बगल में बैठ जाओ, जिससे तुम दोनों का एक साथ ही सम्मान करूँगा ।

[चेटी हँसकर बैठ जाती है]

विट--[पानपात्र (प्याला) लेकर] अरे चेट ! इस पानपात्र को अच्छी मदिरा से परिपूर्ण कर दो ।

चेटी--[अभिनय के साथ पानपात्र को भर देता है]

विट--[अपने शिर पर की माला से फूलों को लेकर पानपात्र में रखकर घुटने टेककर नवमालिका के पास ले जाता है] नवमालिका ! यह चखकर इनको दे दो ।

चेटी--[मुसकराहट के साथ] शेखरक जो कहे । [वैसा करके विट को दे देती है ।]

विट--[विदूषक को पानपात्र देता है] यह नवमालिका के मुख के सम्पर्क से अतिशय सुगन्धित रस से युक्त है और शेखरक को छोड़कर पहले (कभी) किसी और के द्वारा नहीं चखा गया है, इसलिए इसे पीजिए । इससे बढ़कर मैं आपका और अधिक सम्मान क्या करूँगा ?

विदूषक--[आश्चर्य के साथ मुसकराकर] शेखरक ! मैं ब्राह्मण हूँ।

विट--यदि आप ब्राह्मण हैं तो आपका जनेऊ कहाँ है ?

विदूषक--उसे तो इस चेट ने खींचकर तोड़ दिया ।

चेटी—[हँसकर] यदि ऐसा है तो कुछ वेद के अक्षरों (वेद-मन्त्रों) को कहो।

टिप्पणी—(१) अच्छसुरया—उत्तम मदिरा से। सुभृतं कुरु—खूब भर दो। (२) नवमालिकामुखसंसर्ग०—नवमालिका के मुख के सम्पर्क से खूब सुगन्धित हुए स्वादवाला। (३) ब्राह्मणःखल्वहम्—विदूषक के कहने का भाव है कि मद्यपान सभी वर्णों के लिए त्याज्य है, ब्राह्मण के लिए तो कहना ही क्या, जैसा कि मनु ने कहा है—'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥' (मनुस्मृति ६, ५८)। (४) ब्रह्मसूत्रम्—यज्ञोपवीत, जनेऊ। यहाँ 'नवसूत्रम्' पाठभेद मिलता है। उसका भी अर्थ 'जनेऊ' ही है। क्योंकि जनेऊ नौ सूत्रों से बनाये जाने का विधान है—'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्तुभिः। एकेन ग्रन्थिना तन्तुर्द्विगुणस्त्रिगुणोऽथवा ॥' (५) कत्यपि—कुछ। (६) उदाहर—बोलो। उद्—आ√हृ+लोट् (म० पु० ए०)।

विदूषकः—भोदि ! इमिणा सीहुगन्धेण विणद्धाइं मे बेदक्खराइं। अहवा किं मम भोदीए समं विवादेण ? एसो बम्हणो पादेसु दे पडदि। (भवति ! अनेन शीधुगन्धेन पिनद्धानि मे वेदाक्षराणि। अथवा किं मम भवत्या समं विवादेन ? एष ब्राह्मणः पादयोस्ते पतति।) [इति पादयोः पतितुमिच्छति।]

चेटी—[हस्ताभ्यां निवार्य] मा क्खु एव्वं करेदु अज्जो। सेहरअ ! ओसर ओसर, बम्हणो क्खु एसो। [विदूषकस्य पादयोः पतति] अज्ज ! ण तुए कुविदव्वं, सम्बन्धिआनुरूबो क्खु एसो मए परिहासो किदो। मा खल्वेवं करोत्वार्यः। शेखरक ! अपसर अपसर, ब्राह्मणः खल्वेषः। आर्य ! न त्वया कोपितव्यं, सम्बन्ध्यनुरूपः खल्वेष मया परिहासः कृतः।)

विटः—अहंपि णं पसादेमि। [पादयोर्निपत्य] मरिसेदु मरिसेदु अज्जो, जं मए मदवरबसेण अवरद्धं, जेण अहं णोमालिआए सह आबाणअं गमिस्सं। (अहमप्येनं प्रसादयामि। मर्षयतु मर्षयत्वार्यः, यद् मया मदपरवशेनापराद्धम्, येनाहं नवमालिकया सह आपानकं गमिष्यामि।)

विदूषकः—मरिसिदं मए, गच्छ तुम्हे, अहंपि पिअवअस्सं पेक्खामि। (मर्षितं मया, गच्छतं युवाम्। अहमपि प्रियवयस्यं प्रेक्षे।)

[निष्क्रान्तो विटश्चेट्या सह चेटश्च।]

विदूषकः—अदिक्कंतो बम्हणस्स अकालमिच्चू। ता जाव अहंपि मत्तपालअसङ्गदूसिदो इध दिग्घिकाए ण्हाइस्सं। [तथा करोति। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] एसो पिअवअस्सो रुक्मिणीं विअ हरी मलअवदीं अवलम्बिअ इदो ज्जेव्व आअच्छदि, ता जाव पासपरिवत्ती होमि। (अतिक्रान्तः ब्राह्मणस्याकालमृत्युः। तद्यावदहमपि मत्तपालकसङ्गदूषित इह दीर्घिकायां स्नास्यामि। एष प्रियवयस्योऽपि रुक्मिणीमिव हरिर्मलयवतीमवलम्ब्य इत एवागच्छति। तद्यावत् पार्श्ववर्ती भवामि।)

व्याख्या—शीधुगन्धेन—मदिरागन्धेन, पिनद्धानि—मन्मुखे एव नष्टानि। अपसर—दूरं गच्छ। न कोपितव्यं—क्रोधो न करणीयः। मर्षयतु—क्षमां करोतु। आपानकम्—सुरापानभूमिमित्यर्थः। अतिक्रान्तः—व्यतीतः, अकालमृत्युः—असामयिको मृत्युः। दीर्घिकायां—तडागे, स्नास्यामि—स्नानं करिष्यामि। अवलम्ब्य—हस्तेन हस्तं गृहीत्वेत्यर्थः। पार्श्ववर्ती—समीपस्थः।

अनुवाद—विदूषक—श्रीमती! इस मदिरा के गंध से मेरे वेद-मंत्र अवरुद्ध हो गये हैं। अथवा आपके साथ मैं क्या विवाद करूँ। यह ब्राह्मण आपके पैरों पर पड़ता है।

[ऐसा कह पैरों पर गिरना चाहता है]

चेटी—[हाथों से रोककर] आर्य ऐसा न करें। शेखरक! हटो, हटो। ये ब्राह्मण हैं। [विदूषक के पैरों पर पड़ती है] आर्य! आपको क्रोध नहीं करना चाहिए, सम्बन्धी के अनुरूप ही यह मैंने मजाक किया है।

विट—मैं भी इनको प्रसन्न करता हूँ। [पैरों पर गिरकर] मैंने नशे के वश में होकर जो कुछ अपराध किया है, उसे आर्य क्षमा करें क्षमा करें, जिससे मैं नवमालिका के साथ पान-गोष्ठी (मदिरा पीने के स्थान) में जाऊँ।

विदूषक--मैंने क्षमा कर दिया, तुम दोनों जाओ। मैं प्रिय मित्र को देखूँगा।

[विट और चेटी सहित चेट चले गए]

विदूषक--ब्राह्मण का अकालमृत्यु टल गया। तो अब मैं भी पियक्कड़ों के सरदार के संसर्ग से दूषित होने के कारण यहाँ तालाब में स्नान कर लूँ। [वैसा करता है। नेपथ्य की ओर देखकर] ये प्रिय मित्र भी, जिस प्रकार श्रीकृष्ण रुक्मिणी का सहारा लेते हैं उसी प्रकार, मलयवती का सहारा लेकर इधर ही आ रहे हैं। तो मैं इनके निकट हो लेता हूँ।

टिप्पणी--(१) **शीधुगन्धेन**--मदिरा के गंध से। (२) **पिनद्धानि**--बाँधे या रोके गये हैं। अपि√नह्+क्त, भागुरिमतेन अपेः अकारस्य लोपः। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ मदिरा-पान आदि अनाचार हो रहा हो वहाँ वेदमंत्र कैसे पढ़े जायँ। (३) **आपानकम्**--मद्य पीने का स्थान। आ समान्तात् पीयते मदिरा यत्र तत्। (४) **अकालमृत्युः**--असामयिक मृत्यु। कहने का तात्पर्य है कि मदिरामत्त दुर्जनों के साथ सज्जनों का समागम अकालमृत्यु की तरह दुःख उत्पन्न करता है। (५) **दीर्घिकायाम्**--बावड़ी में,। 'सरो वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः। (६) **अवलम्ब्य**--सहारा लेकर या हाथ से हाथ पकड़कर। अव√लम्ब्+क्त्वा--ल्यप्।

[ततः प्रविशति गृहीतवरनेपथ्यो नायको मलयवती विभवतश्च परिवारः]

नायकः--**[मलयवतीमवलोक्य सहर्षम्]**

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
याता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥४॥

अन्वय--दृष्टा दृष्टिम् अधः ददाति, आभाषिता आलापं न कुरुते, शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलात् आलिङ्गिता वेपते, सखीषु वासभवनात् निर्यान्तीषु निर्गन्तुम् एव ईहते, नवोढा प्रिया वामतया एव अद्य मे सुतरां प्रीत्यै जाता ॥४॥

व्याख्या—दृष्टा--अवलोकिता (सती), दृष्टिम् अधः ददाति—मम सम्मुखं नैव पश्यतीत्यर्थः, आभाषिता--आलापिता, नालापं कुरुते--नैव सम्भाषते, शय्यायां--शयनीये, परिवृत्य--पराङ्मुखीभूय, तिष्ठति, बलात्--हठात्, आलिङ्गितः--आश्लेषिता (सती), वेपते--कम्पते, सखीषु--आलीषु, वासभवनात्--शयनागारात्, निर्यान्तीषु--बहिर्गच्छन्तीषु, निर्गन्तुं--बहिर्गन्तुम्, एव, ईहते--चेष्टते, नवोढा--अचिरपरिणीता, प्रिया--पत्नी, वामतया एव--विरुद्धाचरणेनैव, अद्य--अस्मिन् दिने, मे--मम, सुतरां--नितरां, प्रीत्यै--सन्तोषाय, जाता ।।४।।

अनुवाद—[तदनन्तर वर का पोशाक ग्रहण किये हुए नायक, मलयवती और सजधज के साथ नौकर-चाकरों का प्रवेश]

नायक—[मलयवती को देखकर हर्ष के साथ]

(मेरे द्वारा) देखी जाने पर दृष्टि नीचे कर लेती है, कही जाने पर बात-चीत नहीं करती है, शय्या पर घूमकर (मुँह फेरकर) अवस्थित होती है, हठात् आलिंगन करने पर काँपने लगती है और शयनगृह से सखियों के बाहर चले जाने पर बाहर हो जाना चाहती है; (इस प्रकार) नव-विवाहित प्रिया विरुद्ध होती हुई ही आज मुझे अत्यधिक आनन्द दे रही है।

टिप्पणी--(१) **गृहीतवरनेपथ्यः**--वर की वेश-भूषा धारण किये हुए। वरस्य नेपथ्यम् (ष० त०), गृहीतं वरनेपथ्यं येन सः (ब० स०)। **विभवतः**--वैभव के अनुसार या सज-धज के साथ। (३) **निर्यान्तीषु सखीषु**--सखियों के बाहर जाती हुई होने पर। यहाँ 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' सूत्र से सप्तमी हुई। (४) **नवोढा**--नवविवाहिता। √वह्+क्त+टाप्=ऊढा, नवं यथा स्यात् ऊढा इति नवोढा। (५) **वामतयैव**--विरुद्ध होन से अर्थात् विपरीत आचरण से। वामायाः भावः वामता वामा+तल्+टाप्, 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम से 'वामा' के आ की निवृत्ति। (६) **सुतराम्**--अत्यधिक या अच्छी तरह। सु+तरप्+आमु।

इस श्लोक में नायक के सम्भोगशृङ्गार के वर्णन का उपक्रम करते हुए कवि ने मुग्धा नायिका की अनुराग-चेष्टाओं का विशद वर्णन किया है। जैसा कि दर्पणकार ने कहा है—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति ।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किञ्चित् प्रियं प्रायेण भाषते ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत् सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥

मुग्धा का ऐसा वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है। जैसे मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने--

हस्तं कम्पयती रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलि
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात् ।
पातुं पक्ष्मलचक्षुरुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥

नागानन्दकार ने रत्नावली नाटिका में भी ऐसा वर्णन किया है--

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥

इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४॥

[मलयवतीं पश्यन्] प्रिये मलयवति !
हुङ्कारं ददता मया प्रतिवचो यन्मौनमासेवितं
यद् दावानलदीप्तिभिस्तनुरियं चन्द्रातपैस्तापिता[१] ।
ध्यातं यत् सुबहून्यनन्यमनसा नक्तन्दिनानि प्रिये !
तस्यैतत् तपसः फलं मुखमिदं पश्यामि यत्तेऽधुना ॥५॥

अन्वय--हुङ्कारं प्रतिवचः ददता मया यत् मौनम् आसेवितम्, दावानलदीप्तिभिः चन्द्रातपैः यत् इयं तनुः तापिता, अनन्यमनसा सुबहूनि नक्तन्दिनानि यत् ध्यातम्, प्रिये ! तस्य तपसः एतत् फलं यत् ते इदं मुखम् अधुना पश्यामि ॥५॥

१ स्नापिता ।

व्याख्या--हुङ्कारं--हुम् इति अङ्गीकारसूचकम् अव्यक्तवर्णं नादमात्रम्, तदनुकरणत्वेन हुङ्कारशब्दः तं, प्रतिवचः--वचसि वचसि अथवा उत्तरं, ददता—वचनशेषत्वेन प्रमुञ्चता, मया, यत्, मौनम्--मौनभावः, आसेवितम्--पूर्णतया गृहीतम्, दावानलदीप्तिभिः--दावस्य वनस्य अनलः अग्निः तस्य दीप्तिरिव दीप्तिः तेजः येषां तथाभूतैः, चन्द्रातपैः--चन्द्रकिरणैः, यत्, इयं—दृश्यमाना, तनुः--शरीरं, तापिता—सन्तापं प्रापिता, अनन्यमनसा--अनन्यम् अन्यस्मिन् न संलग्नं मनः चित्तं तेन, सुबहूनि--भूयांसि, नक्तन्दिनानि--रात्रिदिवसान्, यत्, ध्यातं—त्वदीयं रूपराशिं हृदये निधाय चिन्तितम्, प्रिये—हे वल्लभे, तस्य, तपसः--तपस्यायाः, एतत्, फलं, यत्, ते--तव, इदम्--एतत्, मुखम्--आननं, पश्यामि--अवलोकयामि ।।५।।

अनुवाद—[मलयवती को देखता हुआ] प्रिये मलयवती !

हुँकारी के रूप में उत्तर देते हुए मैंने जो मौनव्रत का पालन किया, दावाग्नि के समान तेज धारण करने वाली चन्द्रकिरणों से जो इस शरीर को तपाया तथा एकाग्र चित्त से अनेकों दिन-रात जो (तुम्हारी रूपराशि का) ध्यान किया, हे प्रिये ! उसी तप का यह फल है जो तुम्हारे इस मुख को इस समय देख रहा हूँ ।।५।।

टिप्पणी--**हुङ्कारं प्रतिवचः**—हुँकारी रूप में उत्तर अथवा प्रत्येक बात में हुँकारी । (२) **मौनम्**--मौनभाव । मुनेर्भावः मौनम् मुनि+अण् । (३) **दावानलदीप्तिभिः**--वनाग्नि के समान तेज वाली अर्थात् दाहक । 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इति यादवः । (४) **चन्द्रातपैः**--चन्द्रकिरणों या चाँदनियों से । स्वभावतः शीतल भी चन्द्र-किरणें विरहियों के लिए सन्तापकारक होती हैं । जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तल के विरही नायक दुष्यन्त ने कहा है--'विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः' । (५) **नक्तन्दिनानि**--रात और दिन । यहाँ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया हुई । इस श्लोक का भाव यह है कि—हे प्रिये ! जैसे साधक लोग तप करते समय मौन धारण करते हैं, पञ्चाग्नि से शरीर तपाते हैं और रात-दिन ध्यान करते हैं । तब कहीं जाकर फल की सिद्धि होती है । तुम्हारे लिए मैंने भी इन साधनों को किया है । उसी

का फल है कि मैं तुम्हारा सुन्दर मुख देख रहा हूँ। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५॥

नायिका--[अपवार्य] हञ्जे चदुरिए ! ण केवलं दंसणीओ, पिअं पि भणिदुं जाणादि। (हञ्जे चतुरिके ! न कवलं दर्शनीयः, प्रियमपि भणितुं जानाति।)

चेटी--[विहस्य] अयि पडिपक्खवादिणि ! सच्चं ज्जेव्व एदं, किं एत्थ पिअवअणं ? (अयि प्रतिपक्षवादिनि ! सत्यमेवैतत्। किमत्र प्रियवचनम् ?)

नायकः--चतुरिके ! आदेशय मार्गं कुसुमाकरोद्यानस्य।

चेटी--एदु एदु भट्टा। (एतु एतु भर्ता।)

नायकः--[परिक्रम्य नायिकां निर्दिश्य] स्वैरं स्वैरमागच्छतु भवती।

खेदाय स्तनभार एव किमु ते मध्यस्य हारोऽपरः ?
[1]श्राम्यत्यूरुयुगं नितम्बभरतः काञ्च्याऽनया किं पुनः ?।
शक्तिः पादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं कुतो नूपुरौ ?
स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम् ?॥६॥

अन्वय--स्तनभार एव ते मध्यस्य खेदाय अपरः हारः किमु? नितम्बभरतः ऊरुयुगं श्राम्यति अनया काञ्च्या पुनः किम् ? पादयुगस्य शक्तिः ऊरुयुगं वोढुं न नूपुरौ कुतः ? स्वाङ्गैः एव विभूषितासि क्लेशाय मण्डनं किं वहसि ?॥६॥

व्याख्या----अयि प्रतिपक्षवादिनि--प्रतिकूलवचनशीले। स्वैरं स्वैरम्--मन्दं मन्दम्।

स्तनभार एव--स्तनयोः कुचयोः भार एव, ते--तव, मध्यस्य--मध्यभागस्य कटिभागस्येति यावत्, खेदाय--श्रमाय (कल्पते), अपरः--अन्यः, हारः--मुक्तामाला, किमु ?--व्यर्थमेव। नितम्बभरतः--नितम्बोद्वहनेन, ऊरुयुगम्--सक्थिद्वयं, श्राम्यति--खिद्यते, अनया--एतया, काञ्च्या--मेखलया, पुनः किम्?--व्यर्थमेव। पादयुगस्य--चरणद्वयस्य, शक्तिः--बलम्, ऊरुयुगं, वोढुं--

---

१. श्राम्य०।

वहनाय, न, नूपुरौ, कुतः?--व्यर्थमेव। स्वाङ्गैः--स्वकीयैः अवयवैः, एव, विभूषितासि--अलङ्कृता वर्तसे, क्लेशाय--कष्टाय, मण्डनम्--आभूषणं, किं वहसि--किमर्थं धारयसि ? ॥६॥

अनुवाद--नायिका--[अलग] चेटी चतुरिका ! ये केवल दर्शनीय ही नहीं है, प्रिय बोलना भी जानते हैं।

चेटी--[हँसकर] हे उलटी बात कहने वाली ! यह सत्य ही है। इसमें प्रिय वचन क्या है ?

नायक--चतुरिका ! कुसुमाकर-उद्यान का मार्ग बताओ।

चेटी--आइए स्वामी, आइए।

नायक--[घूमकर नायिका को लक्ष्य करके] आप धीरे-धीरे आइए।

कुचों का भार ही तुम्हारे कटिभाग को थकाने के लिए (पर्याप्त) है, फिर दूसरे हार से क्या करना है ? नितम्बों के भार से ही दोनों जंघायें थकी जा रही हैं, फिर इस करधनी से क्या करना है ? दोनों पैरों की शक्ति दोनों जंघाओं को वहन नहीं कर पा रही है, फिर पायजेबें क्यों ? तुम अपने अंगों से ही शोभित हो रही हो, फिर क्लेश के लिए आभूषण क्यों धारण कर रही हो ? ॥६॥

टिप्पणी--(१) **प्रतिपक्षवादिनि**--विरुद्ध बोलने वाली। प्रतिगतः पक्षः प्रतिपक्षः (प्रादिसमास), प्रतिपक्षं वदतीति प्रतिपक्ष√वद्+णिनि कर्तरि +ङीप्, उपपदसमास=प्रतिपक्षवादिनी, तत्सम्बोधने। (२) **स्वैरं** स्वैरम्--धीरे-धीरे। 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरम्' इत्यमरः। (३) **अपरः हारः किमु**--दूसरा हार क्यों ? अर्थात् जब तुम्हारा क्षीण कटिभाग स्थूल कुचों के भार से क्लान्त हो जाता है तब ऊपर से मुक्ताहार का भार तो और भी उसे थका देता होगा। इस प्रकार यहाँ नायिका के अन्य अंगों के भी सौकुमार्य तथा शोभा का वर्णन नायक के मुख से कवि ने करवाया है।

इस श्लोक में शोभा के लिए आभूषण धारण की विफलता के प्रति अंग-सौन्दर्य को ही कारण बताया गया है, इसलिए काव्यलिंग अलंकार है, जिसका लक्षण है--'हेतोर्वाच्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' (साहित्यदर्पण)। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६॥

चेटी--एदं क्खु तं कुसुमाअरुज्जाणं, ता पविसदु भट्टा ।(एतत् खलु तत् कुसुमाकरोद्यानं, तत् प्रविशतु भर्ता ।)

[सर्वे प्रविशन्ति]

नायकः--[विलोक्य] अहो नु कुसुमाकरोद्यानस्य परा श्रीः। इह हि--

निष्यन्दश्चन्दनानां शिशिरयति लतामण्डपे[1] कुट्टिमान्ता-[2]
नाराद्[3] धारागृहाणां ध्वनिमनु तनुते ताण्डवं नीलकण्ठः ।
यन्त्रोन्मुक्तश्च वेगाद्[4] चलति विटपिनां पूरयन्नालवाला-
नापातोत्पीडहेलाहृत[5]कुसुमरजः पिञ्जरोऽयं जलौघः ॥७॥

अन्वय--चन्दनानां निष्यन्दः लतामण्डपे कुट्टिमान्तान् शिशिरयति, आरात् नीलकण्ठः धारागृहाणां ध्वनिम् अनु ताण्डवं तनुते, च यन्त्रोन्मुक्तः आपातोत्पीड-हेलाहृतकुसुमरजः पिञ्जरः अयं जलौघः विटपिनाम् आलवालान् पूरयन् वेगात् चलति ॥७॥

व्याख्या--चन्दनानां--मलयजानां, निष्यन्दः--रसप्रसरः, लतामण्डपे--लताभिर्निर्मिते मण्डपे, कुट्टिमान्तान्--मणिबद्धभूतलान्, शिशिरयति--शीतलान् विधत्ते, आरात्--समीपे, नीलकण्ठः--मयूरः, धारागृहाणां--कृत्रिमधारापात-गृहाणां, ध्वनिमनु--ध्वनिं लक्षणीकृत्य, ताण्डवं--नृत्यं, तनुते--विस्तारयति, च --तथा, यन्त्रोन्मुक्तः--यन्त्रेभ्यः जलयन्त्रेभ्यः उन्मुक्तः पतितः, आपातोत्पीडहेला-हृतकुसुमरजः पिञ्जरः--आपाते यन्त्रेभ्यो निपतने यः उत्पीडः चलनं तेन हेलया सावज्ञं अनायासेनेति यावत् हृतेन आनीतेन कुसुमानां पुष्पाणां रजसा परागेन पिञ्जरः पीतः सन्, अयं--दृश्यमानः; जलौघः--जलसमूहः, विटपिनां--वृक्षाणाम्, आलवालान्--आवापान्, पूरयन्--भरन्, वेगात्--तरसा, चलति--प्रसरति ॥७॥

अनुवाद--चेटी--यही है वह कुसुमाकर-उद्यान। इसलिए स्वामी प्रवेश करें।

[सभी प्रवेश करते हैं]

---

१. मण्डपं। २. कुट्टिमानां। ३. तारं। ४. ग०। ५. हृत०।

नायक--[देखकर] अहा ! कुसुमाकर-उद्यान की शोभा कितनी अच्छी है। क्योंकि यहाँ--

चन्दनवृक्षों का बहता हुआ रस लताओं से बनाये गये मण्डप में मणियों से रचित फर्शों को शीतल बना रहा है, समीप ही मयूर प्रपात-गृहों या जलयन्त्रों के शब्द को लक्षित करके (मेघ-शब्द के भ्रम से) नाच रहा है और जल-यन्त्रों से छोड़ा गया तथा गिरकर बहने से अनायास लाये हुए फूलों के पराग से पीला बना हुआ यह जल-समूह वृक्षों के थाल्हों को भरता हुआ वेग से चल रहा है ॥७॥

टिप्पणी--(१) **निष्यन्दः**—झरता हुआ रस। (२) **कुट्टिमान्तान्**--मणिबद्ध भूतलों या फर्शों को। 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इत्यमरः। (३) **शिशिरयति**—शीतल कर रहा है, शिशिरान् करोति इति शिशिरयति शिशिर+णिच्+लट्--ति। (४) **आरात्**--पास ही। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। (५) **धारागृहाणाम्**--जल-प्रपात-गृहों--फव्वारों के। (६) **नीलकण्ठः**--मयूर। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमरः। **ध्वनिमनु**--ध्वनि के पीछे, शब्द को लक्ष्य करके। कहने का तात्पर्य यह है कि धारापात के शब्द को मेघगर्जन समझकर मयूर नाचने लगता है। यहाँ 'अनुर्लक्षणे' सूत्र से 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से 'ध्वनिम्' में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' सूत्र से द्वितीया हुई। (८) **ताण्डवम्**--नृत्य। 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्तं च नर्तनम्' इत्यमरः। (९) **यन्त्रोन्मुक्तः**--जलयन्त्रों से छूटा हुआ। (१०) **आपातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजः पिञ्जरः**--गिरकर बहने से अनायास लाये गये पराग (पुष्पधूलि) से पीला बना हुआ। 'हेला स्त्रियामवज्ञायां विलासे वार-योषिताम्' इति मेदिनी। 'पिञ्जरोऽश्वान्तरे पीते' इति मेदिनी। (११) **जलौघः**--जल-समूह। (१२) **विटपिनाम्**—वृक्षों के। (१३) **आलवालान्**--थाल्हों या क्यारियों को।

इस श्लोक में यथावत् वस्तु का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। पराग के सम्पर्क से जलसमूह का अपना शुक्ल गुण त्यागकर पीतवर्ण ग्रहण कर लेने से तद्गुण अलंकार भी है। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥७॥

अपि च,

अमी गीतारम्भैर्मुखरितलतामण्डपभुवः
परागैः पुष्पाणां प्रकटपटवासव्यतिकराः ।
पिबन्तः पर्याप्तं सह सहचरीभिर्मधुरसं
समन्तादापानोत्सवमनुभवन्तीव मधुपाः ॥८॥

अन्वय--गीतारम्भैः मुखरितलतामण्डपभुवः पुष्पाणां परागैः प्रकटपटवासव्यतिकराः सहचरीभिः सह मधुरसं पर्याप्तं पिबन्तः अमी मधुपाः समन्तात् आपानोत्सवम् अनुभवन्तीव ॥८॥

व्याख्या--गीतारम्भैः--आरब्धैः गानैः, मुखरितलतामण्डपभुवः--मुखरिताः सशब्दाः कृताः लतामण्डपानां भुवः यैः तादृशाः, पुष्पाणां--कुसुमानां, परागैः--मकरन्दैः, प्रकटपटवासव्यतिकराः--प्रकटः स्पष्टतया लक्ष्यमाणः पटवासस्य पिष्टातस्य व्यतिकरः सम्बन्धो येषां तथाभूताः, सहचरीभिः--भ्रमरीभिः, सह--साकं. मधुरसं--मकरन्दं, पर्याप्तं--प्रचुरं, पिबन्तः--धयन्तः, अमी--दृश्यमानाः, मधुपाः--भ्रमराः, समन्तात्--चतुर्दिक्षु, आपानोत्सवम्--आपानं मद्यपानं तद्रूपम् उत्सवं हर्षोल्लासमयं क्षणम्, अनुभवन्ति ॥८॥

अनुवाद--और भी, गीतों (झंकारों) के प्रारंभों से (अर्थात् आरंभ किये गानों से) लतानिर्मित मण्डपों की भूमियों को शब्दायमान करने वाले, फूलों की धूलियों से कुंकुम-चूर्ण का सम्बन्ध प्रकट करने वाले (अर्थात् कुंकुमचूर्ण या अंगराग धारण करने वाले) और सहचरियों (भ्रमरियों) के साथ छककर मकरन्द पान करने वाले ये भ्रमर चारों ओर मद्य-पान रूप उत्सव का अनुभव कर रहे हैं ॥८॥

टिप्पणी--(१) **गीतारम्भैः**--आरब्ध गीतों से अर्थात् गीतों का आरंभ करके । (२) **पुष्पाणां परागैः**--फूलों की धूलियों से। 'परागः कौसुमे रेणौ स्नानीयादौ रजस्यपि' इत्यमरः । यहाँ शंका होती है कि 'पराग' को ही 'पुष्पधूलि' कहते हैं, फिर 'पुष्पाणाम्' पद व्यर्थ है । इसका समाधान है कि 'विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपृथक्समवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम्'--इस नियम के अनुसार यहाँ 'पराग' शब्द धूलिमात्र परक है--ऐसा मान लेने से 'पुष्पाणाम्' शब्द की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः'

(रघुवंश २) इत्यादि स्थलों में भी इसी नियम से समाधान होता है। वहाँ वायुपूर्ण छिद्र वाले बाँस को ही कीचक कहते हैं, फिर 'मारुतपूर्णरन्ध्रैः' और 'कीचकैः' इन दो पदों की क्या आवश्यकता—ऐसी आशंका की जाती है।(३) प्रकटपटवासव्यतिकराः—कुंकुमचूर्ण या अंगराग का सम्बन्ध प्रकट करने वाले। अर्थात् पुष्पधूलि से ऐसे लग रहे थे जैसे अंगराग धारण किये हुए हों। (४) सहचरीभिः—(अपनी संगिनी) भ्रमरियों के साथ। (५) मधुरसं पिबन्तः—पुष्परस का पान करते हुए। कालिदास ने भी ऐसा वर्णन किया है—'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः' (कुमारसंभव)। श्लोक का भाव यह है कि जैसे आज विवाहमंगलोत्सव में गाने-बजाने से दिशाओं को मुखरित करते हुए सभी विट और सिद्ध पटवास से शरीर को रंजित करके प्रियाओं के साथ पर्याप्त मदिरा पीकर आनन्द ले रहे हैं, उसी प्रकार ये भ्रमर भी गुंजन रूप गाने आदि क्रियाओं के अनुसरण में प्रवृत्त होकर मकरन्द का पान कर रहे हैं। अतएव मद्यप और मधुप के कार्यों में समानता होने के कारण इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है और शिखरिणी छन्द है, जिसका लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥८॥

विदूषकः—[उपसृत्य] जेदु जेदु भवं । सोत्थि भोदीए । (जयतु जयतु भवान् । स्वस्ति भवत्यै ।)

नायकः—वयस्य ! चिराद् दृष्टोऽसि ।

विदूषकः—भो वअस्स ! लहुं ज्जेव्व आअदोम्हि । किं उण विआहमहूसवमिलिदसिद्धविज्जाहराणं आपाणदंसणकोदूहलेण परिब्भमंतो एत्तिअं वेलं चिट्ठिदोम्हि । ता तुमं पि दाव पेक्ख । (भो वयस्य ! लघु एवागतोऽस्मि । किं पुनर्विवाहमहोत्सवमिलितसिद्धविद्याधराणामापानदर्शनकौतूहलेन परिभ्रमन्नेतावतीं वेलां स्थितोऽस्मि । तत् त्वमपि तावत् प्रेक्षस्व ।)

नायकः— एवं यथाऽऽह भवान् । [समन्तादवलोकयन्] वयस्य ! पश्य पश्य—

[1] दिग्धाङ्गा हरिचन्दनेन दधतः सन्तानकानां स्रजो
माणिक्याभरणप्रभाव्यतिकरैश्चित्रीकृताच्छांशुकाः ।
सार्धं सिद्धजनैर्मधूनि दयितापीतावशिष्टान्यमी
मिश्रीभूय पिबन्ति चन्दनतरुच्छायासु विद्याधराः ॥९॥

अन्वय--हरिचन्दनेन दिग्धाङ्गाः सन्तानकानां स्रजः दधतः माणिक्याऽऽभरणप्रभाव्यतिकरैः चित्रीकृताऽच्छांशुकाः अमी विद्याधराः सिद्धजनैः सार्धं मिश्रीभूय चन्दनतरुच्छायासु दयितापीतावशिष्टानि मधूनि पिबन्ति ॥९॥

व्याख्या--आपानदर्शनकौतूहलेन--आपानं मदिरापानभूमिः तस्य दर्शने अवलोकने यत् कौतूहलं कौतुकं तेन, वेलां--कालम् ।

हरिचन्दनेन--सुवर्णद्रवरूपेण हरिचन्दनरसेन, दिग्धाङ्गाः--लिप्तसकलावयवाः, सन्तानकानां--कल्पतरुविशेषाणां, स्रजः--पुष्पमाल्यानि, दधतः--धारयन्तः, माणिक्याभरणप्रभाव्यतिकरैः--माणिक्यानां विविधमणीनां यानि आभरणानि भूषणानि तेषां प्रभाः निः सरन्त्यः छटाः तासां व्यतिकरैः व्यतिषङ्गैः,चित्रीकृताऽच्छांशुकाः--चित्रीकृतानि शबलीकृतानि अच्छानि निर्मलानि अंशुकानि वस्त्राणि येषां तथोक्ताः, अमी--एते, विद्याधराः--देवयोनिविशेषाः, सिद्धजनैः--सिद्धगणैः, सार्धं--सह, मिश्रीभूय--मिलित्वा, दयितापीतावशिष्टानि--दयिताभिः प्रियाभिः पीतात् अवशिष्टानि शेषाणि, मद्यानि, पिबन्ति --धयन्ति ॥९॥

अनुवाद--विदूषकः--[पास जाकर] आपकी जय हो जय हो । श्रीमती जी का कल्याण हो ।

नायक--मित्र ! चिरकाल के बाद दिखाई पड़े हो ।

विदूषक--हे मित्र ! मैं शीघ्र ही आ गया होता । किन्तु विवाहमहोत्सव में एकत्रित हुए सिद्धों और विद्याधरों के मदिरा-पान को देखने के कौतूहल से इधर-उधर घूमता हुआ मैं इतनी देर तक रह गया हूँ । इसलिए आप भी (चलकर) देखिए ।

---

१ स्निग्धाङ्गा ।

नायक--अच्छा, जैसा आप कहें। [चारों ओर देखता हुआ] देखो देखो--

हरिचन्दन से अंगों को लिप्त किये हुए, कल्पवृक्ष के फूलों की माला धारण किये हुए और मणियों के आभूषणों की कान्तियों के सम्पर्क से चित्र-विचित्र बने हुए निर्मल वस्त्रों वाले ये विद्याधर लोग सिद्धजनों के साथ मिलकर चन्दन-वृक्षों की छाँहों में प्रियाओं के पीने से बची हुई मदिरा को पी रहे हैं। ।९।।

टिप्पणी--(१) हरिचन्दनेन--गले हुए सोने की-सी कान्ति वाले (पीले) चन्दन-विशेष से। 'छेदे रक्तं कषे पीतं हरिचन्दनमुच्यते'। (२) दिग्धाङ्गाः--लेप लगाये गये अंगों वाले। सन्तानकानां स्रजः--कल्पवृक्षों की पुष्पमालाओं को। 'सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः। इसके अनुसार हरिचन्दन भी देववृक्ष है। अतः यहाँ संभव है कि विद्याधर लोग इसी के विशिष्ट रस को अपने शरीर में पोते हुए हों। (४) दधतः--धारण करते हुए। √धा (जुहोत्यादि)+लट्--शतृ। (५) माणिक्याभरणप्रभाव्यतिकरैः--मणियों के गहनों की कान्तियों के परस्पर मिलने से या सम्पर्क से। 'अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोः' इति मेदिनी। (६) चित्रीकृताच्छांशुकाः--जिनके निर्मल वस्त्र चित्र-विचित्र बन गये थे ऐसे। चित्र+च्वि, ईत्व√कृ+क्त=चित्रीकृत। (७) मिश्रीभूय--मिलकर। मिश्र+च्वि, ईत्व√भू+क्त्वा--ल्यप्।

इस श्लोक में विद्याधरों के तात्त्विक आपानोत्सव का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।।९।।

तदेहि वयमपि तां तमालवीथीं गच्छामः। [परिक्रामति]

विदूषकः--एसा क्खु तमालवीहिआ। एदं संचरंती दाव परिखेदिदा विअ भोदी दीसई। ता इध ज्जेव्व फटिअमणिसिलाअले उवविसिअ वीसमम्ह। (एषा खलु तमालवीथिका। एतां सञ्चरन्ती तावत् परिखेदितेव भवती दृश्यते। तदिहैव स्फटिकमणिशिलातल उपविश्य विश्राम्यामः।)

नायकः--वयस्य! सम्यगुपलक्षितम्--

एतन्मुखं प्रियायाः शशिनं जित्वा[1] कपोलयोः कान्त्या।
तापानुरक्तमधुना कमलं ध्रुवमीहते जेतुम् ।।१०।।

---

१. क्षिप्त्वा

अन्वय--प्रियाया: एतत् मुखं कपोलयोः कान्त्या शशिनं जित्वा अधुना तापानुरक्तं कमलं जेतुम् ईहते (इति) ध्रुवम् ।।१०।।

व्याख्या--प्रियाया:--दयितायाः, एतत्--दृश्यमानं, मुखम्--आननं, कपोलयो:--गण्डयोः, कान्त्या--शोभया, शशिनं--चन्द्रमसं, जित्वा--विजित्य, अधुना--इदानीं, तापानुरक्तं--तापेन घर्मजनितसन्तापेन अनुरक्तम् अभिताम्रं, कमलं--पद्मं, जेतुं--विजेतुम्, ईहते--चेष्टते ।।१०।।

अनुवाद--इसलिए आओ, हम लोग भी उस तमाल-पंक्ति की ओर चलें। [घूमता है।]

विदूषक--यही तमाल-पंक्ति है। यहाँ चलते-चलते श्रीमती जी थकी हुई-सी दिखाई दे रही हैं। इसलिए यहीं स्फटिकमणि के शिलापृष्ठ पर बैठकर हम लोग विश्राम करें।

नायक--मित्र! तुमने ठीक समझा--

प्रिया का यह मुख दोनों गालों की कान्ति से चन्द्रमा को जीतकर अब (धूप की) गर्मी से लाल होकर कमल को जीतना चाहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ।।१०।।

टिप्पणी--(१) परिखेदितेव--थकी हुई-सी । (२) कपोलयोः कान्त्या--गालों की शोभा से। यहाँ कपोलपद के उपादान से यह सूचित किया गया है कि चन्द्रमा को मुख के एक अवयव से ही जीतना है सम्पूर्ण मुख से नहीं। इससे मुख का सौन्दर्यातिशय वर्णित हुआ। (३) कमलं जेतुम् ईहते--कमल को जीतने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार चन्द्रमा और कमल को जीतकर नायिका का मुख निर्द्वन्द्व सौन्दर्य-राज्य का अनुभव कर रहा है--यह श्लोक का फलितार्थ है। (४) ध्रुवम्--ऐसा मैं मानता हूँ या ऐसा प्रतीत होता है। यह अव्ययपद है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है और आर्या छन्द है ।।१०।।

[नायिकां हस्ते गृहीत्वा] प्रिये ! इहोपविशामः ।

नायिका--जं अज्जउत्तो आणबेदि । (यदार्यपुत्र आज्ञापयति ।)

[सर्वे उपविशन्ति]

नायकः--[नायिकाया मुखमुन्नमय्य पश्यन्] प्रिये ! वृथैव त्वमस्माभिः कुसुमाकरोद्यानकुतूहलिभिः खेदिता । कुतः ?--

एतत्ते भ्रूलतोद्भासि[1] पाटलाधरपल्लवम्
मुखं नन्दनमुद्यानमतोऽन्यत् केवलं वनम् ॥११॥

अन्वय--भ्रूलतोद्भासि पाटलाधरपल्लवम् एतत् ते मुखं नन्दनम् उद्यानम्, अतः अन्यत् केवलं वनम् ॥११॥

व्याख्या--भ्रूलतोद्भासि--भ्रुवौ एव लते ताभ्याम् उद्भासते शोभते इति तादृशम्, पाटलाधरपल्लवम्--पाटलः श्वेतरक्तः अधरः एव पल्लवः आताम्रवर्णत्वात् नूतनं किसलयं यस्मिन् तथाभूतम्, एतत्--इदं, ते--तव, मुखम्--आननं, नन्दनं वनं--निखिलजनमनोह्लादकं काननम्, अतः--अस्मात्, अन्यत्--इतरत्, केवलं वनम्--अरण्यमात्रम् ॥११॥

अनुवाद--[नायिका का हाथ पकड़कर] प्रिये ! यहाँ बैठें ।

नायिका--जो आर्यपुत्र की आज्ञा ।

[सब बैठते हैं]

नायक--[नायिका का मुँह उठाकर देखता हुआ] प्रिये ! कुसुमाकर-उद्यान के प्रति कुतूहल वाले हमने तुमको व्यर्थ ही क्लेश दिया । क्योंकि--

भौंहों रूपी लताओं से शोभायमान और लाल अधर रूपी पल्लव वाला यह तुम्हारा मुख आनन्द देने वाला वन है, इससे भिन्न (कुसुमाकर आदि वन) तो केवल वन है ॥११॥

टिप्पणी--(१) उन्नमय्य--ऊपर उठाकर। उद्√नम्+णिच्+क्त्वा--ल्यप् । (२) कुसुमाकरोद्यानकुतूहलिभिः--कुसुमाकर-उद्यान (को देखने) का कौतुक रखने वाले । कुसुमाकरोद्यानस्य कुतूहलम् (ष० त०), तत् अस्ति एषाम् इति कुसुमाकरोद्यानकुतूहल+इनि । (३) भ्रूलतोद्भासि--भौंहों रूपी लताओं द्वारा शोभित होने वाला (४) पाटलाधरपल्लवम्--गुलाबी अधर

---

१० ल्लासि ।

रूपी पल्लव वाला। 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः। (५) नन्दनम्—(१) आनन्द देने वाला, (२) स्वर्ग का नन्दन नामक उपवन। नन्दयतीति नन्दनम्√नन्द्+णिच्+ल्यु—अन। (६) वनम्—(१) जंगल, (२) कण्टकाकीर्ण या कष्टदायक वन। वनति उपतापयतीति वनम्√वन्+अच् पचादित्वात्।

इस श्लोक में भौंहों में लता का, अधर में पल्लव का और मुख में कानन का आरोप होने से सांगरूपक है, जिसका लक्षण है—'रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे'। 'अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्।' (सा० द०)। 'अतोऽन्यत् केवलं वनम्' में व्यतिरेक अलंकार है, जिसका लक्षण है—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः। शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः॥' नन्दनपद में श्लेष अलंकार भी है, जिसका लक्षण है—नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः। सर्वदो माधवः पायात् स योऽगं गामदीधरत्॥' फिर इनमें परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहक भाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। इसमें अनुष्टुप् छन्द है॥११॥

चेटी—[सस्मितं विदूषकं निर्दिश्य] सुदं तुए, भट्टिदारिअं कहं वण्णेदि ? अज्ज ! उण अहं तुमं वण्णेमि। (श्रुतं त्वया, भर्तृदारिकां कथं वर्णयति ? आर्य ! पुनरहं त्वां वर्णयामि।)

विदूषकः—[सहर्षम्] भोदि ! जीविदोम्हि। ता करेदु भोदी पसादं, जेण एसो मं पुणोबि ण भणादि, जहा तुमं ईरिसो तारिसो कबिलमंकडाआरोत्ति। (भवति ! जीवितोऽस्मि। तत् करोतु भवती प्रसादं, येनैष मां पुनरपि न भणति, यथा त्वमीदृशः तादृशः कपिलमर्कटाकार इति।)

चेटी—अज्ज ! तुमं मए विआहजाअरणे णिज्जाअमाणणिमीलिअअच्छो सोहणो दिट्ठो। ता तह ज्जेव्व चिट्ठ, जेण वण्णेमि। (आर्य ! त्वं मया विवाहजागरणे निद्रायमाणनिमीलिताक्षः शोभनो दृष्टः। तत्तथैव तिष्ठ, येन वर्णयामि।)

विदूषकः—[तथा करोति]।

चेटी—[स्वगतम्] जाव एसो णिमीलिअअच्छो चिट्ठदि, दाव णीलरसाणुआरिणा तमालपल्लवरसेण मुहं कालीकरिस्सं।

(यावदेष निमीलिताक्षस्तिष्ठति, तावन्नीलरसानुकारिणा तमालपल्लवरसेन मुखं कालीकरिष्यामि ।) [उत्थाय तमालपल्लवं निष्पीड्य विदूषकस्य मुखं कालीकरोति । नायको नायिका च विदूषकं पश्यतः]

नायकः—वयस्य ! धन्यः खल्वसि, योऽस्मासु तिष्ठत्सु भवानेवं वर्ण्यते ।

नायिका—[नायकस्य मुखं दृष्ट्वा स्मितं करोति]
नायकः—[नायिकामुखं दृष्ट्वा]
स्मितपुष्पोद्गमोऽयं ते दृश्यतेऽधरपल्लवे ।
फलं त्वन्यत्र मुग्धाक्षि चक्षुषोर्मम पश्यतः ॥१२॥

अन्वय—मुग्धाक्षि ! ते अधरपल्लवे अयं स्मितपुष्पोद्गमः दृश्यते तु फलम् अन्यत्र पश्यतः मम चक्षुषोः ॥१२॥

व्याख्या—वर्णयामि—गुणवर्णनं करोमि (पक्षान्तरे विचित्रैः वर्णैः मुखं ते चित्रितं करोमि) । निद्रायमाणनिमीलिताक्षः—निद्रायमाणः स्वपन् चासौ निमीलिताक्षः पिहितनेत्रः । एषः—विदूषकः, निमीलिताक्षः—निमीलिते अक्षिणी येन तादृशः, नीलरसानुकारिणा—नीलरससदृशेन, कालीकरिष्यामि—कृष्णवर्णं विधास्यामि । अस्मासु तिष्ठत्सु—अस्मानादृत्य, एवं—स्फुटम् । मुग्धाक्षि—मुग्धे सुन्दरे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तत्सम्बोधने, ते—तव, अधरपल्लवे—अधर एव सुकुमारतया पल्लवः तस्मिन्, अयम्—एषः, स्मितपुष्पोद्गमः—स्मितम् ईषद्धसनमेव पुष्पं कुसुमं तस्य उद्गमः आविर्भावः, दृश्यत—विलोक्यते, तु—किन्तु, फलं—सामान्यं फलम्, अन्यत्र—किसलयादन्यस्मिन् स्थाने, पश्यतः—विलोकयतः, मम—मे, चक्षुषोः—नेत्रयोः (दृश्यते) ॥१२॥

अनुवाद—चेटी—[मुसकराहट के साथ विदूषक को लक्ष्य करके] सुना तुमने, राजकुमारी का किस प्रकार वर्णन कर रहे हैं ? आर्य ! मैं भी तुम्हारा वर्णन करती हूँ ।

विदूषक—[हर्ष के साथ] शुभे ! मैं जीवित हूँ (अर्थात् मेरा अहोभाग्य है) । आप कृपा कीजिए, जिससे ये मुझे फिर न कहें कि तुम ऐसे-वैसे हो, भूरे बन्दर जैसे हो ।

चेटी--आर्य ! विवाह (की रात) के जागरण में तुम मुझे नींद लेते हुए तथा आँखें मूँदे हुए अच्छे दिखलाई दिये थे। इसलिए उसी प्रकार बैठ जाओ, जिससे मैं वर्णन कर सकूँ।

[विदूषक वैसा ही करता है]

चेटी--[मन में] जब तक यह आंख मूँदे रहता है तब तक मैं नील के रस जैसे तमाल के पत्ते के रस से (इसके) मुँह को काला कर दूँगी। [उठकर तमाल के पत्ते को मसलकर विदूषक के मुँह को काला कर देती है]। नायक और नायिका विदूषक को देखते हैं]

नायक--मित्र ! तुम धन्य हो, जो हमारे रहते आपका ऐसा वर्णन किया जा रहा है।

नायिका--[नायक का मुख देखकर मुसकराती है]

नायक--[नायिका का मुख देखकर]

हे सुन्दर नयनों वाली ! तुम्हारे अधर रूपी पल्लव में मुसकराहट रूपी फूल की उत्पत्ति दीख रही है, किन्तु फल दूसरी जगह--(तुम्हें) देखते हुए मेरे नेत्रों में--उत्पन्न हो रहा है ॥१२॥

टिप्पणी--(१) **वर्णयामि**--(१) वर्णन करती हूँ, (२) रँगती हूँ। वर्ण् धातु द्व्यर्थक है। चेटी इसका दूसरा अर्थ मन में रखकर प्रयोग करती है, किन्तु मूर्ख विदूषक इसका पहला अर्थ ही समझता है। इसी भ्रम के कारण वह चेटी का प्रस्ताव मान लेता है ! परन्तु मुँह काला होने पर अपनी भूल समझ जाता है। यहाँ श्लिष्ट क्रियापद का प्रयोग बहुत रसानुकूल है। (२) **जीवितोऽस्मि**--(तुम्हारे मुख से अपना वर्णन सुनने के लिए) जीवित हूँ, बड़भागी हूँ। (३) **कपिलमर्कटाकारः**--भूरे बंदर की तरह आकृति वाला। कपिलः मर्कटः (कर्मधारय), तस्य आकार इव आकारो यस्य सः (व्यधिकरण-बहुव्रीहिः)। (४) **निद्रायमाणनिमीलिताक्षः**--नींद लेते हुए और आंख मूँदे हुए। निद्रां करयते इति निद्रायते निद्रा+क्यङ (नामधातु)+लट्--शानच्। निमीलिते अक्षिणी यस्य स निमीलिताक्षः (ब० स०)। निद्रायमाण-श्चासौ निमीलिताक्षः (कर्मधारय)। (५) **नीलरसानुकारिणा**--नील पौधे के

रस का अनुकरण करने वाले। नीलस्य रसः (ष० त०), तम् अनुकर्तुं शीलमस्य इति नीलरस-अनु√कृ+णिनि कर्तरि, उपपदसमास। (६) निष्पीड्य--निचोड़कर। (७) कालीकरोति--काला कर देती है। अकालं कालं सम्पद्यमानं करोति इति कालीकरोति काल+च्वि, ईत्व√कृ+लट् ति। (८) अस्मासु-तिष्ठत्सु--हमारे रहते। यहाँ 'षष्ठी चानादरे' सूत्र से अनादर अर्थ में षष्ठी हुई। (९) मुग्धाक्षि--हे सुन्दर नेत्रों वाली। मुग्धे अक्षिणी यस्याः (ब० स०), समासान्तषच्प्रत्यय, ङीष्=मुग्धाक्षी, तत्सम्बोधने। (१०) फलम्--(१) फल, (२) प्रिया के मुख को देखने का आनन्द।

इस श्लोक में असंगति अलंकार है, क्योंकि कार्य और कारण की उत्पत्ति भिन्न देशों में हुई है। साधारण नियम तो यही है कि जिस स्थान पर फूल लगता है उसी जगह फल भी लगता है; किन्तु यहाँ नायिका के अधर में मुसकराहट का फूल लगा और फल फला उसे देखने वाले नायक की आँखों में। असंगति का लक्षण--'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः'। यहाँ असंगति श्लेष और रूपक से अनुप्राणित है। क्योंकि फलम् में श्लेष है और अधर-पल्लव आदि में रूपक है। इसमें अनुष्टुप् छन्द है।।१२।।

विदूषकः--भोदि ! किं तुए किदं ? (भवति ! किं त्वया कृतम् ?)

चेटी--णं वण्णिदोसि। (ननु वर्णितोऽसि।)

विदूषकः--[हस्तेन मुखं प्रमृज्य दृष्ट्वा सरोषं दण्डकाष्ठ-मुद्यम्य] आःदासीए धीए ! राअउलं क्खु एदं किं तव करिस्सं ? [नायकं निर्दिश्य] भो तुम्हाणं पुरदो अहं दासीए धीआए खलीकिदो ! ता किं मम इध ट्ठिदेण ? अण्णदो गमिस्सं। (आः दास्याः पुत्रि ! राजकुलं खल्वेतत्। किं तव करिष्यामि ? भोः ! युवयोः पुरतोऽहं दास्याः पुत्र्या खलीकृतः ! तत् किं ममेह स्थितेन ? अन्यतो गमिष्यामि।) [निष्क्रामति]

चेटी--कुविदो मे अज्ज अत्तेओ, जाव णं गदुअ पसादइस्सं। (कुपितो मे आर्य आत्रेयः, यावदेनं गत्वा प्रसादयिष्यामि।)

नायिका--हञ्जे चदुरिए । किं मं एग्राइणीं उज्झिअ गच्छसि ? (हञ्जे चतुरिके ! किं मामेकाकिनीमुज्झित्वा गच्छसि ?

चेटी--[नायकं निर्दिश्य सस्मितम्] एव्वं एआइणी चिरं होहि । (एवमेकाकिनी चिरं भव।) [इति निष्क्रान्ता]

नायकः--[नायिकाया मुखं पश्यन्]

दिनकरकरामृष्टं बिभ्रद् द्युतिं परिपाटलां
दशनकिरणैरुपसर्पद्भिः स्फुटीकृतकेसरम् ।
अयि मुखमिदं मुग्धे ! सत्यं समं कमलेन ते
मधु मधुकरः[1] किन्वेतस्मिन्पिबन्न विभाव्यते ॥१३॥

अन्वय--अयि मुग्धे ! दिनकरकरामृष्टं परिपाटलां द्युतिं बिभ्रत् संसर्पद्भिः दशनकिरणैः स्फुटीकृतकेसरम् इदं ते मुखं सत्यं कमलेन समं, किन्तु एतस्मिन् मधु पिबन् मधुकरः न विभाव्यते ॥१३॥

व्याख्या--पुरतः--समक्षं, खलीकृतः--अनादृत इत्यर्थः । उज्झित्वा--त्यक्त्वा । एवम्--प्रियतमेन सङ्गता, चिरं--दीर्घकालम् ।

अयि मुग्धे--हे सुन्दरि !, दिनकरकरामृष्टं--दिनकरस्य सूर्यस्य करैः किरणैः आमृष्टं संस्पृष्टं, (अतएव) परिपाटलां--परितः सर्वतः पाटलां श्वेतरक्तां, द्युतिं--कान्तिं, बिभ्रत्--धारयत्, संसर्पद्भिः--इतस्ततो निःसरद्भिः, दशनकिरणैः--दशनानां दन्तानां किरणैः अंशुभिः स्मितप्रकाशितैरिति शेषः, स्फुटीकृतकेसरं--स्फुटीकृताः विशदीकृताः केसराः किञ्जल्काः यत्र तादृशम्, इदं--दृश्यमानं, ते--तव, मुखम्--आननं, सत्यं--निश्चेयन, कमलेन--पद्मेन, समं--समानम्, किन्तु--परन्तु, एतस्मिन्--मुखकमले, मधु--पुष्परसम्, पिबन्--आस्वादयन्, मधुकरः--भ्रमरः, न विभाव्यते--न लक्ष्यते ॥१३॥

अनुवाद--विदूषक--शुभे ! तुमने क्या किया है ?

---

१० लिहः ।

चेटी--निश्चित ही वर्णन किया है।

विदूषक--[हाथ से मुँह पोंछकर देखकर क्रोध के साथ डंडा उठाकर] अरी दासी की बेटी ! यह राजवंश है । मैं तेरा क्या करूँगा ? [नायक को लक्ष्य करके] अजी ! आप दोनों के सामने मैं दासी की छोंकरी से अपमानित हुआ हूँ । इसलिए मुझे यहाँ रहने से क्या प्रयोजन ? दूसरी ओर जाऊँगा ।[निकल जाता है]

चेटी—आर्य आत्रेय मुझपर क्रुद्ध हो गए हैं। इसलिए जाकर उन्हें प्रसन्न करूँगी ।

नायिका--चेटी चतुरिका ! मुझे अकेली छोड़कर जा रही हो ?

चेटी--[नायक की ओर लक्ष्य करके मुसकराहट के साथ] इस प्रकार अकेली आप चिरकाल तक रहें ।[चली गई]

नायक--[नायिका का मुख देखता हुआ]

हे सुन्दरी ! सूर्य की किरणों के स्पर्श होने से रक्तवर्ण की कान्ति धारण करता हुआ, इधर-उधर फैलती हुई दाँतों की किरणों के रूप में केसरों को स्पष्ट करता हुआ तुम्हारा यह मुख सचमुच कमल के समान है, किन्तु इस पर मधु पीता हुआ भौंरा नहीं दिखाई देता है ।।१३।।

टिप्पणी--(१) दिनकरकरामृष्टम्--सूर्य की किरणों से स्पर्श किया गया । 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः । भानुः करः' इत्यमरः । (२) परिपाटलाम्--सब ओर गुलाबी लाल । (३) द्युतिम्--शोभा या कान्ति को । (४) बिभ्रत्--धारण करता हुआ । √भृ (जुहोत्यादि)+लट्--शतृ । (५) स्फुटीकृतकेसरम्--जिसने केसरों को स्पष्ट कर दिया है या दिखला दिया है । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । (६) मधु पिबन् मधुकरः--मकरन्द पान करता हुआ भ्रमर ।

श्लोक का भाव यह है कि--'हे सुन्दरि ! तुम्हारा मुख विकसित कमल की समता धारण कर रहा है, क्योंकि कमल सूर्य की किरणों के पड़ने पर गुलाबी लाल दीखता है और इसमें केसर भी होता है । उसी तरह तुम्हारा मुख-कमल भी सूर्य-किरणों के स्पर्श से गुलाबी लाल दीखता है और मुसकराने से फैलती

हुई अत्युज्ज्वल दन्तच्छटा रूपी केसर भी इसमें विद्यमान है। किन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि तुम्हारे मुख रूपी कमल पर मधु को पीता हुआ भौंरा नहीं दिखाई देता है। अतः मधुकर रूपी मैं तुम्हारा अधर पान करने के लिए तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। कमल की समता को परिपूर्ण करने के 'लिए तुम्हें इसमें विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।' इस प्रकार एकान्त में नायक ने प्रकारान्तर से चुम्बन की प्रार्थना की। इसमें हरिणी छन्द है ॥१३॥

नायिका——[विहस्य मुखमन्यतो नयति]

नायकः——[तदेव पठति]

चेटी——[पटाक्षेपेण प्रविश्य उपसृत्य] एसो क्खु अज्जमित्तावसू कज्जेण केणवि कुमारअं पेक्खिदुमिच्छदि। (एष खल्वार्यमित्रावसुः कार्येण केनापि कुमारं प्रेक्षितुमिच्छति।)

नायकः——प्रिये! गच्छ त्वमात्मनो गृहम्। अहमपि मित्रावसुं दृष्ट्वा त्वरितमागत एव।

नायिका——[चेट्या सह निष्क्रान्ता]

[ततः प्रविशति मित्रावसुः]

मित्रावसुः——

अनिहत्य तं सपत्नं कथमिव जीमूतवाहनस्याहम्।
कथयिष्यामि हृतं तव राज्यं रिपुणेति निर्लज्जः ॥१४॥

अन्वय—जीमूतवाहनस्य तं सपत्नम् अनिहत्य अहं निर्लज्जः (सन्) तव राज्यं रिपुणा हृतम् इति कथमिव कथयिष्यामि? ॥१४॥

व्याख्या——पटाक्षेपेण——पटस्य जवनिकायाः आक्षेपेण दूरीकरणेन जवनिकामपसार्येति भावः। प्रेक्षितुम्——द्रष्टुम्। त्वरितं——शीघ्रम्। जीमूतवाहनस्य, तं——बुद्धिस्थं, सपत्नं——शत्रुं मतङ्गराजमिति यावत्, अनिहत्य——न हत्वा, अहं——मित्रावसुः, निर्लज्जः——गतत्रपः (सन्), तव——ते, राज्यं, रिपुणा——शत्रुणा, हृतं——वशीकृतम्, इति, कथमिव——केन प्रकारेण, कथयिष्यामि——वक्ष्यामि ॥१४॥

अनुवाद——नायिका——[हँसकर मुख को दूसरी ओर कर लेती है।]

नायक--[उसी ('दिनकर' इत्यादि श्लोक) को पढ़ता है।]

चेटी--[परदा हटाकर प्रवेश करके समीप जाकर] ये आर्य मित्रावसु किसी कार्य से कुमार को देखने के लिए आ रह हैं।

नायक--प्रिये! तुम अपना घर जाओ। मैं भी मित्रावसु से मिलकर अभी आया।

नायिका--[चेटी के साथ चली गई]

[तब मित्रावसु प्रवेश करता है।]

मित्रावसु--

जीमूतवाहन के उस शत्रु को बिना मारे मैं निर्लज्ज होकर 'आपका राज्य शत्रु ने अपहरण कर लिया है' यह कैसे कहूँगा ॥१४॥

टिप्पणी--(१) पटाक्षेपेण--परदा हटाकर। नाटक में जब किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के आ पड़ने पर कोई पात्र सहसा प्रवेश करता है तब वह परदे का किनारा हटाकर ऐसा करता है। ऐसी ही स्थिति में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ शृंगाररस से वीररस को पुष्टि मिलती है--इस नियम के अनुसार कवि संभोगशृंगार को पूर्णता पर पहुँचाकर अब अंगी वीररस में नायक को प्रवेश कराने के लिए नायिका के सोदर मित्रावसु को प्रवेश कराता है। (२) सपत्नम्--शत्रु, मतङ्गराज को। सह एकार्थे पतति, √पत्=न, सहस्य सादेशः। (३) अनिहत्य--न मारकर। नि√हन्+क्त्वा--ल्यप्=निहत्य, न निहत्य अनिहत्य (न० त०)।

इस श्लोक में आर्या छन्द है ॥१४॥

अनिवेद्य च न युक्तं गन्तुमिति निवेद्य गच्छामि। कुमार! मित्रावसुः प्रणमति।

नायकः--[मित्रावसुं दृष्ट्वा] मित्रावसो! इत आस्यताम्।

मित्रावसुः--[निरूप्य उपविशति]

नायकः--[निरूप्य] मित्रावसो! संरब्ध[1] इव लक्ष्यसे?

१. ससंरम्भ।

मित्रावसुः--कः खलु मतङ्गहतके संरम्भः ?

नायकः--किं कृतं मतङ्गेन ?

मित्रावसुः--स्वनाशाय किल युष्मदीयं राज्यमाक्रान्तम् ।

नायकः--[सहर्षमात्मगतम्] अपि नाम सत्यमेतत् स्यात् ?

मित्रावसुः--अतस्तदुच्छित्तये आज्ञां दातुमर्हति कुमारः। किं बहुना ?

संसर्पद्भिः समन्तात् कृतसकलवियन्मार्ग[1]यानै[2]र्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य ।
एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः
सिद्धञ्चोद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम् ॥१५॥

अन्वय--समन्तात् संसर्पद्भिः कृतसकलवियन्मार्गयानैः विमानैः स्थगितरविरुचः वासरस्य प्रावृषि इव श्यामतां कुर्वाणाः एते सिद्धाः तव वचनं प्राप्य सद्यः इतः युद्धाय याताः च उद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यं सिद्धं च ॥१५॥

व्याख्या--आस्यताम्--उपविश्यताम् । संरब्धः--संरम्भेन सहितः कोपयुक्त इति यावत् । मतङ्गहतके--नीचे वा दुर्भाग्यशालिनि मतङ्गे । तदुच्छित्तये --तद्विनाशाय ।

समन्तात्--चतुर्दिक्षु, संसर्पद्भिः--धावद्भिः, कृतसकलवियन्मार्गयानैः--कृतं सम्पादितं सकलस्य समग्रस्य वियन्मार्गस्य आकाशमार्गस्य यानं गमनं यैः तादृशैः, विमानै--व्योमयानैः, स्थगितरविरुचः--स्थगिता आच्छादिता रवेः सूर्यस्य रुचः प्रभाः यस्मिन् तादृशस्य, वासरस्य--दिवसस्य, प्रावृषि--जलदकाले, इव, श्यामतां--कृष्णवर्णतां, कुर्वाणाः--विदधतः, एते सिद्धाः, तव वचनं --त्वदीयामाज्ञां, प्राप्य--लब्ध्वा, सद्यः--तत्कालम्, इतः--मलयपर्वतात्, युद्धाय--संग्रामाय, याताः--गताः, च--तथा, उद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकम् --उद्वृत्तस्य प्रसभमुद्धृतस्य शत्रोः रिपोः क्षयेण नाशेन जातात् भयात् भीतेः विनमत् प्रणमत् वश्यतामापद्यमानमिति यावत् राजकं राजसमूहो यत्र तादृशं, ते--तव, स्वराज्यं--निजराज्यं, सिद्धं च--वशीकृतमेव ॥१५॥

---

१. मध्य । २. मानैः ।

अनुवाद--बिना बताये जाना उचित भी नहीं है, इसलिए निवेदन करके जाता हूँ। कुमार ! मित्रावसु प्रणाम करता है।

नायक--[मित्रावसु को देखकर] मित्रावसु ! इधर बैठिए।

मित्रावसु--[देखकर बैठता है।]

नायक--[देखकर] मित्रावसु ! क्षुब्ध जैसे दिखलाई दे रहे हो।

मित्रावसु--अभागे मतंग पर क्या क्षोभ ?

नायक--मतंग ने क्या किया ?

मित्रावसु--अपने नाश के लिए आपके राज्य पर आक्रमण किया है।

नायक--[हर्ष के साथ मन में] क्या यह सत्य है ?

मित्रावसु--इसलिए उसके विनाश के लिए कुमार आज्ञा दें। अधिक क्या कहूँ ?--

चारों ओर दौड़ते हुए, सम्पूर्ण आकाश-मार्ग में संचरण करने वाले विमानों से सूर्य-किरणों को ढक देने वाले और दिन को वर्षाऋतु में जैसे अंधकारमय करते हुए ये सिद्ध लोग आपका आदेश पाकर तत्काल यहाँ से युद्ध के लिए गये कि उपद्रवी शत्रु के नाश से उत्पन्न भय के कारण झुकते हुए राज-समूह वाला आपका अपना राज्य तो प्राप्त हुआ ही है ।।१५।।

टिप्पणी--(१) संरब्धः--क्षुब्ध, कोपयुक्त। सम्√रम्+क्त। 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इत्यमरः। (२) मतङ्गहतके--अभागे या नीच मतंग पर। हत एव हतकः स्वार्थे कः। मतङ्ग एव हतकः इति मतङ्गहतकः, तस्मिन्। (३) उच्छित्तये--विनाश के लिए। उद्√छिद्+क्तिन्=उच्छित्तिः, तस्यै। (४) कृतसकलवियन्मर्गयानैः--सारे आकाशमार्ग में भ्रमण करने वाले। (५) स्थगितरविरुचः--सूर्य की किरणों को ढक देने वाले। (६) वासरस्य--दिन को। 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः। (७) प्रावृषि इव--वर्षा ऋतु में जैसे। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः। (८) श्यामतां कुर्वाणाः--काला या अन्धकारमय करते हुए। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्षाऋतु में दिन मेघों से ढककर अन्धकारमय हो जाता है उसी प्रकार

आकाश में छाये हुए वायुयानों से सूर्य के ढक जाने पर दिन अन्धकारमय हो जाएगा। (९) उद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकम्——उपद्रवी या दुराचारी शत्रु के विनाश से भय के कारण नम्र हो गया है राजाओं का समूह जिसमें, ऐसा। श्लोक का भाव यह है कि सिद्धों के द्वारा आपके उपद्रवी शत्रु को विनष्ट कर दिये जाने पर कोई राजा डर के मारे आपके विरुद्ध कोई उपद्रव नहीं करेगा, सभी राजा नतमस्तक हो जायँगे, अतः आप आज्ञा दीजिए और अपने राज्य को प्राप्त हुआ ही समझिए।

इस श्लोक में सिद्धों के अभियानरूप और राज्यसिद्धि रूप दो क्रियाओं का एक साथ कथन होने से समुच्चय अलंकार है, जिसका लक्षण है——'बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः। नश्यन्ति पश्चात्पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद्द्विषः॥ (कुवलयानन्द)। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥१५॥

अथवा किं बलौघैः?——

एकाकिनापि हि मया रभसावकृष्ट-
निस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण
आरान्निपत्य हरिणेव मतङ्गजेन्द्र-
माजौ मतङ्गहतकं हतमेव विद्धि ॥१६॥

अन्वय——एकाकिनापि हि रभसावकृष्टनिस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण मया आजौ आरात् निपत्य हरिणा मतङ्गजेन्द्रम् इव मतङ्गहतकं हतमेव विद्धि ॥१६॥

व्याख्या——एकाकिनापि——असहायेनापि, हि——निश्चयेन, रभसावकृष्टनिस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण——रभसेन अतिवेगेन अवकृष्टः निष्काशितः कोशादिति शेषः, यः निस्त्रिंशः खड्गः तस्य दीधितयः प्रभाः सटाः सिंहस्य केसराः इव तासां भरेण समूहेन भासुरः प्रकाशमानः तथाभूतेन, मया——मित्रावसुना, आजौ——संग्रामे, आरात्——समीपतः, निपत्य——आक्रम्य, हरिणा——सिंहेन, मतङ्गजेन्द्रमिव——हस्तिराजमिव, मतङ्गहतकं——नीचं मतङ्गराजं, हतमेव व्यापादितमेव, विद्धि——जानीहि ॥१६॥

अनुवाद——अथवा सेना-समूह से क्या करना है?——

अकेले भी, वेग के साथ खींची गई तलवार की सिंह की ग्रीवा के बाल जैसी किरणों के समूह से प्रकाशमान मेरे द्वारा युद्ध में पास से आक्रमण करके नीच मतंग को मारा गया ही समझिए जिस तरह कि अकेले भी, वेग के साथ खींची गई तलवार की किरण जैसे केसर-समूह से प्रकाशमान सिंह के द्वारा पास से आक्रमण करके गजराज मारा जाता है ।।१६।।

टिप्पणी—(१) **एकाकिना**--अकेले । एक+आकिनिच् 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति सूत्रेण । (२) **रभसावकृष्ट०**--('मया' पक्ष में--) वेग से खींची हुई तलवार की केसरों--अयालों--जैसी कान्तियों के समूह से चमकते हुए, ('हरिणा' पक्ष में--) वेग से खींची हुई तलवार की कान्तियों जैसे केसरों के समूह से चमकते हुए । 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः । निर्गतः त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । अत्र तत्पुरुषसमासे कृते 'संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' इति वार्तिकेन डच् प्रत्ययः । दीधिति=कान्ति, किरण । सटा=अयाल । भर=समूह । भासुर=देदीप्यमान, चमकते हुए । (३) **आजौ** युद्ध में । 'समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः (४) **आरात्**--समीप से । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । (५) **निपत्य**--आक्रमण करके । (६) **मतङ्गजेन्द्रम्**--गजराज को । भाव यह है कि जैसे सिंह कितने ही बलवान् हाथी को मार डालता है उसी तरह मैं भी तलवार लेकर सिंह की तरह आवेश में आकर मतंग को मार डालूँगा ।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द हैं, जिसका लक्षण है—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।।१६।।

नायकः--[कर्णौ पिधाय आत्मगतम्] अहह ! दारुणमभिहितम्, अथवा एवं तावत् । [प्रकाशम्] मित्रावसो ! कियदेतत् ? बहुतरमतोऽपि बाहुशालिनि त्वयि सम्भाव्यते ।

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यादयाचितः कृपया ।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमनुते ? ।।१७।।

अन्वय--यः खलु अयाचितः कृपया परार्थे स्वशरीरम् अपि दद्यात् स राज्यस्य कृते प्राणिवधक्रौर्यं कथम् अनुमनुते ? ।।१७।।

व्याख्या--**अहह**--खेदसूचकमव्ययमेतत् **दारुणं**--कठोरम्, **अभिहितम्**--उक्तम् । **बाहुशालिनि**--अतिशयवीर्यसम्पन्ने, **बहुतरम्**--अधिकतरम् ।

यः--अहम्, **खलु**--इति वाक्यालङ्कारे, **अयाचितः**--अप्रार्थितः, **कृपया**--दयया, **परार्थे**--अन्यस्य रक्षणाय, **स्वशरीरं**--निजदेहम्, **अपि**, **दद्यात्**--दातुं शक्नुयात्, **सः**, **राज्यस्य कृते**--राज्यार्थं, **प्राणिवधक्रौर्यं**--प्राणिनां जीवानां वधरूपं हिंसारूपं क्रौर्यं क्रूरत्वं, **कथं**--केन प्रकारेण, **अनुमनुते**--स्वीकरोति ? ।।१७।।

अनुवाद--**नायक**--[कानों को बंद करके मन में] ओह ! कठोर बात कही है । अथवा इस प्रकार कहूँ । [प्रकट] मित्रावसु ! यह कितना है ? अतिशय पराक्रमी तुमसे तो इससे भी और अधिक की संभावना की जा सकती है ।

जो बिना माँगे दयावश दूसरे के लिए अपना शरीर भी दे सकता है, वह राज्य के लिए जीवहिंसारूपी क्रूरता का अनुमोदन कैसे करे ? ।।१७।।

टिप्पणी--(१) **अहह**--ओह । यह खेदसूचक अव्यय है। 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । (२) **दारुणम्**--कठोर, भयंकर । 'दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्' इत्यमरः । (३) **बाहुशालिनि**--पराक्रमी के विषय में । बाहुभ्यां शालते शोभते इति बाहुशाली बाहु√शाल्+णिनि, उपपदसमास । (४) **दद्यात्**--दे सकता है । यहाँ 'शकि लिङ् च' सूत्र से शक्यार्थ में विधिलिङ् लकार हुआ है । (५) **प्राणिवधक्रौर्यम्**--जीवहिंसारूपी क्रूरता । क्रूरस्य भावः क्रौर्यम् क्रूर+ष्यञ् । इस श्लोक के द्वारा नायक के जीवदयारूप उत्कृष्ट गुण की सूचना दी गई है । इसमें आर्या छन्द है ।।१७।।

अपि च, क्लेशान् विहाय मम शत्रुबुद्धिरेव नान्यत्र । यदि त्वमस्मत्प्रियं कर्तुमीहसे, तदनुकम्प्यतामसौ राज्यस्य कृते क्लेशदासीकृतस्तपस्वी ।

मित्रावसुः--**[सामर्षं सहासं च] कथं नानुकम्पनीय ईदृशोऽस्माकमुपकारी कृतज्ञश्च ।**

नायकः--**[स्वगतम्] अनिवार्यसंरम्भः प्रत्यग्रकोपाक्षिप्तचेता न तावदयं शक्यते निवर्तयितुम् । तदेवं तावत् । [प्रकाशम्]**

मित्रावसो ! उत्तिष्ठ । अभ्यन्तरमेव प्रविशावः। तत्रैव तावत् त्वां बोधयिष्यामि । सम्प्रति परिणतमहः । तथा हि--

निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरमनिशं पद्मकोषादपास्य-
न्नाशापूरैककर्मप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः ।
दृष्टः सिद्धैः प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैरस्तमप्येष गच्छ-
न्नेकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः ।।१८।।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति तृतीयोऽङ्कः ।

अन्वय--पद्मकोषात् निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरम् अनिशम् अपास्यन् आशापूरैककर्मप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः, अस्तं गच्छन् अपि प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैः सिद्धैः दृष्टः, एषः विवस्वान् एव एकः श्लाघ्यः यस्य प्रयासः परहितकरणाय एव ।।१८।।

व्याख्या--क्लेशान्--अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशान् पञ्च क्लेशान्, विहाय--त्यक्त्वा, अन्यत्र--जीवमात्रे, मम--मे, शत्रुबुद्धिः--अयं मे अनर्थकारी रिपुः इत्येवं बुद्धिः, न । ईहसे--वाञ्छसि, तत्--तर्हि, क्लेशदासीकृतः--क्लेशैः शत्रुभूतैः दासीकृतः नितरां वशीकृतः अविद्यातत्कार्येषु भ्रमन्नित्यर्थः, तपस्वी--शोच्यः । सामर्षं--सरोषम् । अनुकम्पनीयः--दयनीयः । अनिवार्यसंरम्भः--अनिवार्यः न निवारयितुं शक्यः संरम्यः क्षोभः यस्य यस्य तादृशः, प्रत्यग्रकोपाक्षिप्तचेताः--प्रत्यग्रेण नूतनेन कोपेन क्रोधेन आक्षिप्तम् आक्रान्तं ग्रस्तमिति यावत् चेतः चित्तं यस्य तादृशः, निवर्तयितुं--स्वव्यापारात् निवारयितुं, न शक्यते । अहः--दिनम्, परिणतम्,--अवसितम् । पद्मकोशात्--कमलकुड्मलात्, निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरं--निद्रायां दलानां संकोचे यः मुद्रायाः अवबन्धः दृढसंश्लेषः पत्राणां परस्परं गाढाश्लेष इति यावत् तस्य व्यतिकरं सम्बन्धं संकोचजनितं गाढबन्धनमित्यर्थः, अनिशं--प्रतिदिनम् अपास्यन्--दूरीकुर्वन् विकासायेति शेषः, आशापूरैककार्यप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः--आशानां दिशां पूरः तेजसा पूरणमेव एकं प्रधानं कर्म तस्मिन् प्रवणैः प्रवृत्तैः निजकरैः स्वरश्मिभिः प्रीणितं प्रकाशेनाह्लादितम् अशेषं समग्रं विश्वं येन तादृशः, अस्तं

गच्छन् अपि, प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैः—प्रसक्ताभिः अविश्रान्ताभिः स्तुतिभिः स्तोत्रैः मुखराणि शब्दायमानानि मुखानि वदनानि येषां तादृशैः, सिद्धैः—देवयोनिविशेषैः, दृष्टः—अवलोकितः, एषः—अयं, विवस्वान्—सूर्यः, एव, एकः—अद्वितीयः, श्लाघ्यः—प्रशंसनीयः यस्य, प्रयासः—प्रयत्नः उदयसञ्चरणादिपरिश्रम इति यावत्, परहितकरणाय—परेषाम् अन्येषां हितकरणाय कल्याणसाधनाय, एव, (पक्षान्तरे—पद्मकोषात्—पद्मादिनिधीनां धारकात् भाण्डागारात्, निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरं—निद्रां राजपुरुषाणामालस्यं मुद्रां राजचिह्नं तद्बन्धसम्बन्धञ्च, अनिशम्, अपास्यन्, आशापूरैक०—याचकानामभिलषितपूरणाख्ये प्रधाने कर्मणि प्रवृत्ताभ्यां हस्ताभ्यां प्रीणितम् आनन्दितम् अशेषं विश्वं येन तादृशः, अस्तं गच्छन् अपि प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैः सिद्धैः—स्वमृत्युकालेऽपि सिद्धैः सिद्धिभिर्हेतुभूताभिः स्तुतिशतं पठद्भिर्जनैः (सादरं), दृष्टः, एषः—परोपकारपरायणः पुरुषः, एव, एकः श्लाघ्यः, यस्य प्रयासः परहितकरणाय एव)।।१८।।

अनुवाद—और भी, (अविद्या, राग आदि) क्लेशों को छोड़कर अन्य किसी को मैं शत्रु ही नहीं समझता। यदि तुम हमारा प्रिय (कार्य) करना चाहते हो तो राज्य के लिए क्लेशों का दास बने हुए उस बेचारे (मतंग) पर दया करो।

मित्रावसु—[रोष और हास्य के साथ] ऐसे हमारे उपकारी और कृतज्ञ पर दया क्यों नहीं करनी चाहिए।

नायक—[मन में] अनिवार्य क्षोभ वाला और अभिनव क्रोध से आक्रान्त चित्त वाला यह रोका नहीं जा सकता। इसलिए ऐसा कहूँ। [प्रकट] मित्रावसु! उठो। भीतर ही चलें। वहीं तुमको समझाऊँगा। इस समय दिन ढल चुका है। देखो—

कमल के कोश से पत्तों के सिकुड़ने से उत्पन्न हुए गाढ़ बंधन के संबंध को प्रति दिन दूर करते हुए, दिशाओं को (प्रकाश से) भरपूर कर देने के मुख्य कार्य में लगी हुई अपनी किरणों से सारे संसार को आनन्दित करने वाले और अस्त होते हुए भी, अविश्रान्त स्तुतियों से मुखरित हुए मुखों वाले सिद्धों द्वारा देखे जाने वाले ये (भगवान्) सूर्य ही एकमात्र प्रशंसनीय हैं, जिनका प्रयत्न

दूसरों की भलाई के लिए ही होता है। (पक्षान्तर में--पद्म आदि निधियों के धारक कोशागार (खजाने) से राजपुरुषों के आलस्य एवं राजकीय छाप (मुहर) लगाने के बन्धन को मिटाता हुआ, याचकों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के प्रधान कार्य में लगे हुए अपने हाथों से सबको प्रसन्न करता हुआ तथा मृत्युकाल में भी स्तुति करने वाले प्रार्थियों से सहायतार्थ देखा जाता हुआ यह परोपकारपरायण उदार पुरुष ही एकमात्र प्रशंसनीय है, जिसका प्रयत्न दूसरों की भलाई के लिए ही होता है) ॥१८॥

[सब चले जाते हैं]

तीसरा अंक समाप्त ॥३॥

टिप्पणी--(१) **क्लेशान्**--अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच क्लेशों को। ये पाँचो मानसिक क्लेश योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। बौद्ध लोग भी इनको मानते हैं। पातञ्जल योगसूत्र के दूसरे पाद का तीसरा सूत्र है--'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः'। प्रत्येक के लक्षण भी वहीं वर्णित हैं--'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'। 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'। सुखानुशयी रागः'। दुःखानुशयी द्वेषः'। 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः'। यहाँ जीमूतवाहन के कहने का तात्पर्य है कि दुःखबहुल संसार में ये क्लेश ही हमारे शत्रु हैं अन्य नहीं। (२) **क्लेशदासीकृतः**--क्लेशों द्वारा दास बनाया गया। अदासः दासः सम्पद्यमानः कृतः इति दासीकृतः दास+च्वि, ईत्व√कृ+क्त। [क्लेशैः दासीकृतः क्लेशदासीकृतः (तृ० त०)। (३) **तपस्वी**--बेचारा, शोचनीय। 'मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति विश्वः। (४) **अनिवार्यसंरम्भः**--जिसका क्रोध दूर नहीं किया जा सकता। (५) **प्रत्यग्रकोपाक्षिप्तचेताः**--जिसका चित्त अभिनव (ताजे) क्रोध से भरा हुआ है। (६) **विवस्वान्**--सूर्य। 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः।

इस श्लोक में 'पद्मकोश' आदि श्लिष्ट पदों के द्वारा दूसरे के लिए देहत्याग भी करते हुए किसी उपकारशील उदारपुरुष के व्यवहार का आरोप सूर्य में किया गया है, इसलिए समासोक्ति अलंकार है, जिसका लक्षण है--'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य

वस्तुनः :।' इस श्लोक से, अगले अंक में नागों की रक्षा के लिए नायक द्वारा अपने देहत्याग के निश्चय की सूचना मिल जाती है। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥१८॥

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कञ्चुकी गृहीतरक्तवस्त्रयुगलः प्रतीहारश्च]

कञ्चुकी--

अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः पदे पदेऽहं[1] स्खलनानि रक्षन् ।
जरातुरः सम्प्रति दण्डनीत्या सर्वां नृपस्यानुकरोमि वृत्तिम् ॥१॥

अन्वय--अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः दण्डनीतया पदे पदे स्खलनानि रक्षन् जरातुरः अहं सम्प्रति नृपस्य सर्वां वृत्तिम् अनुकरोमि ॥१॥

व्याख्या--कञ्चुकी--अन्तःपुराध्यक्षो वृद्धो ब्राह्मणः। प्रतीहारः--द्वारपालः।

अन्तःपुराणां--राज्ञामवरोधानाम्, विहितव्यवस्थः--विहिता सम्पादिता व्यवस्था प्रबन्धो येन तादृशः, दण्डनीत्या--दण्डस्य वंशयष्टेः नीत्या परिग्रहेण, पदे पदे--प्रतिपादविक्षेपे, स्खलनानि--गतिभ्रंशान्, रक्षन्, जरातुरः--जरया वृद्धावस्थया आतुरः क्लेशितः, अहं, सम्प्रति--अधुना, नृपस्य--राज्ञः, सर्वां--निखिलां, वृत्ति--व्यवस्थादिरूपं निखिलं चरितम्, अनुकरोमि (राजपक्षे अन्तः पुराणाम्--पुराणाम् अन्तःनगरेष्वित्यर्थः, विहितव्यवस्थः--विहिता सुष्ठु कृता व्यवस्था वर्णाश्रमादिकृत्यमर्यादा येन तादृशः, दण्डनीत्या--अपराधिनामुचितदण्डप्रदानेनेत्यर्थः, पदे पदें--दण्डनादिविधेयकृत्येषु, स्खलनानि--अधिकारिपुरुषाणां प्रमादजनितानि विरुद्धाचरणादीनि, रक्षन्--निवारयन्) ॥१॥

अनुवाद--[तदनन्तर कञ्चुकी और लाल वस्त्रों का जोड़ा लिये द्वारपाल प्रवेश करते हैं]

---

१ संस्ख०।

कञ्चुकी--अन्तःपुरों (रनिवासों) की व्यवस्था करने वाला, डंडे के धारण से पग-पग पर ठोकरों को बचाता हुआ और वृद्धावस्था के कारण दुःखित मैं इस समय राजा के सम्पूर्ण चरित्र का अनुकरण कर रहा हूँ (राजपक्ष में नगरों के भीतर की व्यवस्था करने वाला और दमननीति से स्थान-स्थान में अपराधों से रक्षा करता हुआ (राजा राजकाज चलाता है) ॥१॥

टिप्पणी--(१) **कञ्चुकी**--अन्तःपुर का अध्यक्ष वृद्ध ब्राह्मण। इसका लक्षण भरत ने इस प्रकार किया है--'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते। जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी ॥' मातृगुप्ताचार्य के मत से यह लक्षण है--'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः स्त्रीसम्भोगविवर्जिताः। अमत्सरा ये पुरुषाः काञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः ॥' (२) **प्रतीहारः**--द्वारपाल। 'प्रतीहारो द्वारि द्वाःस्थे द्वाः स्थितायान्तु योषिति' इति मेदिनी। प्रति√हृ+घञ्, उपसर्गस्य दीर्घः। (३) **अन्तःपुराणाम्**--(१) रनिवासों की। 'स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्' इत्यमरः। (२) नगरों के भीतर की। पुराणाम् अन्तः। (४) **पदे पदे**--(१) पग-पग पर, (२) स्थान-स्थान पर। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि जैसे राजा नगरों में सुव्यवस्था करता है, अधिकारियों के उन्मूलन करता है तथा दण्ड के प्रयोग से समस्त राज्य पर सुशासन करता है उसी प्रकार मैं भी यष्टि के सहारे गति-स्खलनों को बचाता हुआ अपना अधिकार-कार्य सम्पन्न करता हूँ ॥

इस श्लोक में अर्थश्लेष से अनुप्राणित उपमा अलंकार है और इन्द्रवज्रा एवम् उपेन्द्रवज्रा के मेल से निर्मित उपजाति छन्द है, जिसका लक्षण है--'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ॥१॥

प्रतीहारः--आर्य वसुभद्र! क्व नु खलु भवान् प्रस्थितः?

कञ्चुकी--आदिष्टोऽस्मि देव्या मित्रावसुजनन्या--'कञ्चुकिन्! दशरात्रं त्वया यावन्मलयवत्या जामातुश्च रक्तवासांसि नेतव्यानि'। दुहिता च श्वशुरकुले वर्तते। जीमूतवाहनोऽपि युवराजेन सह

समुद्रवेलां द्रष्टुमद्य गत इति श्रूयते । तन्न जाने किं राजपुत्र्याः सकाशं गच्छामि, अथवा जामातुरिति ।

प्रतीहारः--आर्य ! वरं राजपुत्र्याः सकाशं गन्तव्यम् तत्र हि कदाचिदस्यां वेलायां जामाता स्वयमेवागतो भविष्यति ।

कञ्चुकी--साधूक्तम् । अथ भवान् पुनः क्व प्रस्थितः ?

प्रतीहारः--आदिष्टोऽस्मि महाराजविश्वावसुना, यथा--'भो सुनन्द ! गच्छ, मित्रावसुं ब्रूहि, अस्मिन्[1] दीपप्रतिपदुत्सवे मलयवत्या जामातुश्च यत् किञ्चित् प्रदीयते, तदुत्सवानुरूपं किञ्चिदागत्य चिन्त्यताम्' इति । तद्गच्छतु राजपुत्र्याः सकाशमार्यः । अहमपि मित्रावसोराह्वानाय गच्छामि । [इति निष्क्रान्तौ]

विष्कम्भकः

[ततः प्रविशति जीमूतवाहनो मित्रावसुश्च]

व्याख्या--आदिष्टोऽस्मि--आज्ञप्तोऽस्मि, मित्रावसुजनन्या--मित्रावसुमात्रा, दशरात्रं--दश रात्रीः यावत्, रक्तवासांसि--अरुणवर्णानि वस्त्राणि । दुहिता --पुत्री, श्वशुरकुले--श्वशुरालये । सकाशं--समीपम् वेलायां--समये । दीपप्रतिपदुत्सवे--गृह्यसूत्रवर्णिते स्थालीपाकाख्ये कर्मणि दीपावलीमहोत्सवे वा ।

अनुवाद--प्रतीहार--आर्य वसुभद्र ! आपने कहाँ के लिए प्रस्थान किया है ?

कञ्चुकी--मित्रावसु की माता रानी ने मुझे आज्ञा दी है--कंचुकी ! तुम्हें दश रात तक मलयवती और जामाता के पास लाल वस्त्र पहुँचाने हैं ।' पुत्री ससुराल में है । जीमूतवाहन भी आज युवराज के साथ समुद्र का ज्वार भाटा देखने के लिए गये हैं, ऐसा सुना जाता है । इसलिए समझ में नहीं आता कि मैं राजकुमारी के पास जाऊँ या जामाता के पास ।

प्रतीहार--आर्य ! राजकुमारी के पास जाना ही अच्छा है । हो सकता है कि इस सयय तक वहाँ जामाता भी स्वयं आ गये होंगे ।

कञ्चुकी--ठीक कहा । अब आपने कहाँ के लिए प्रस्थान किया है ?

---

१ दिवसे ।

प्रतीहार—महाराज विश्वावसु ने मुझे आदेश दिया है कि—'हे सुनन्द ! जाओ, मित्रावसु से कहो, इस दीपावली के उत्सव में मलयवती और जामाता को जो कुछ देना है, वह उत्सव के अनुरूप थोड़ा-सा आकर विचार-विमर्श कर लो'। इसलिए आर्य राजकुमारी के पास जायँ। मैं भी मित्रावसु को बुलाने के लिए जा रहा हूँ। [यह कह दोनों चले गये]

विष्कम्भक समाप्त।

[तदनन्तर जीमूतवाहन और मित्रावसु प्रवेश करते हैं]

टिप्पणी—(१) **दशरात्रम्**—दश रात तक। यह 'नेतव्यानि' क्रिया का विशेषण है। दशानां रात्रीणां समाहारः इति दशरात्रम् (समाहारतत्पुरुष-समास), 'अहःसर्वैकदेश'—सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय, 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' से नपुंसकलिंग। (२) **दीपप्रतिपदुत्सवे**—प्रतिपदा में दीपदान रूप उत्सवविशेष, दीपावली में। (३) **विष्कम्भकः**—अंक के उस आदिम अंश को विष्कम्भक कहते हैं, जिसमें भूत एवं भावी घटनाओं का संकेत रहता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता हैं—शुद्ध और संकीर्ण। जिस विष्कम्भक में एक वा एक से अधिक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं और वे संस्कृत में भाषण करते हैं, वह शुद्ध विष्कम्भक कहलाता है। जिसमें कुछ मध्यम और कुछ अधम श्रेणी के पात्र होते हैं और वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं के संभाषण करते हैं, वह संकीर्ण विष्कम्भक कहलाता है—'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ शुद्धः संकीर्णकश्चेति विष्कम्भो द्विविधो मतः। एकद्विमध्यपात्रोक्तः शुद्धः स्यात्संस्कृतात्मकः।' यह शुद्ध विष्कम्भक है क्योंकि मध्यमश्रेणी के पात्र—कञ्चुकी और प्रतीहार—ने संस्कृत में भाषण किया है।

नायकः—

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥२॥

अन्वय--शाद्वलं शय्या, शुचिशिला आसनम्, द्रुमाणाम् अधःसद्म, शीतं निर्झरवारि पानम्, कन्दाः अशनम्, मृगाः सहायाः, इति अप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे वने अयम् एकः दोषः यत् दुष्प्रापार्थिनि परार्थघटनावन्ध्यैः वृथा स्थीयते ॥२॥

व्याख्या--शाद्वलं हरित्तृणपूर्णं स्थानं, शय्या--आस्तरणम्, शुचिशिला--पवित्रप्रस्तरखण्डम्, आसनम्--उपवेशनास्तरणम्, द्रुमाणां--वृक्षाणाम्, अधः--नीचैः, सद्म--गृहम्, शीतं--शीतलं, निर्झरवारि--स्वतःप्रवहतः स्रोतसो जलं, पानं--पेयं वस्तु, कन्दाः--मूलानि, अशनं--भोजनम्, मृगाः--हरिणाः सहायाः--बान्धवाः, इति, अप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे--अप्रार्थितेन प्रार्थनामन्तरेण अयत्नेनेति यावत् लभ्यः प्रापणीयः सर्वः सकलः विभवः भोजनादिसाधनं यस्मिन् तथाभूते, वने--अरण्ये, अयम्--एषः, एकः, दोषः--त्रुटिः, यत्, दुष्प्रापार्थिनि दुष्प्रापः कष्टेन लभ्यः अर्थी याचको यस्मिन् तादृशे (अस्मिन् वने) परार्थघटनावन्ध्यैः--परेषाम् अर्थः प्रयोजनं तस्य घटना सम्पादनं तस्यां वन्ध्याः निरुद्यमाः तथाभूतैः (अस्माभिः) वृथा--निष्प्रयोजनं, स्थीयते ॥२॥

अनुवाद--नायक--(यहाँ) घास वाली भूमि ही शय्या है, पवित्र शिला आसन है, वृक्षों के नीचे घर है, शीतल झरने का जल पेय है, कन्द-मूल भोजन है, हरिण साथी हैं--इस प्रकार विना माँगे ही प्राप्त होने योग्य समस्त विभव (सामग्री) वाले वन में यह एक दोष है कि यहाँ याचकों के न मिलने के कारण हम परोपकारशून्य होकर व्यर्थ ही रह रहे हैं ॥२॥

टिप्पणी--(१) **शाद्वलम्**--हरी घास वाला स्थान। शादः शष्पं विद्यते अस्मिन् इति शाद्वलम् शाद+ड्वलच् 'नडशादाद् ड्वलच्' इति सूत्रेण। 'शाद्वले शादरहिते' इत्यमरः। (२) **अप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे**--जहाँ बिना माँगे (अनायास) भोजनादि सामग्री प्राप्य है, ऐसे। (३) **दुष्प्रापार्थिनि**--जहाँ माँगने वाले बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, ऐसे। यह बुद्धिस्थ 'वने' का विशेषण है। (४) **परार्थघटनावन्ध्यैः**--दूसरे के प्रयोजन सिद्ध करने में विफल। श्लोक का भाव यह है कि वन में और सब चीजें तो सुलभ हैं, किन्तु याचकों के न मिलने से मेरा जीवन यहाँ व्यर्थ बीत रहा है। इससे नायक की अतिशयपरोपकारशीलता प्रकट की गई है।

इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२॥

मित्रावसुः—[ऊर्ध्वमवलोक्य] कुमार ! त्वर्यतां त्वर्यताम्; समयोऽयं चलितुमम्बुराशेः ।

नायकः—[आकर्ण्य] सम्यगुपलक्षितम् ।

[1]उद्गर्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः[2] ।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायः प्रेङ्खदसङ्ख्यशङ्खवलया[3] वेलेयमागच्छति ॥३॥

अन्वय—उद्गर्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः, सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः प्रतिध्वानिनीः कुर्वन् अयं श्रुतिपथोन्माथी ध्वनिः यथा उच्चैः उच्चरति तथा प्रायः प्रेङ्खदङ्ख्यशङ्खवलया इयं वेला आगच्छति ॥३॥

व्याख्या—उद्गर्जज्जलकुञ्जरेन्द्र०—उद्गर्जतां तारं नदतां जलकुञ्जरेन्द्राणां जलहस्तिश्रेष्ठानां रभसेन वेगेन ये आस्फालाः शुण्डादण्डेन तरङ्गाणां ताडनानि तैः सह अनुबन्धः मिश्रणम् अतएव उद्धतः प्रचण्डः, सर्वाः—सकलाः, पर्वतकन्दरोदरभुवः—पर्वतानां यानि कन्दराणि गुहाः तेषाम् उदरभुवः अभ्यन्तरस्थानानि, प्रतिध्वानिनीः—प्रतिध्वनिताः मुखरिताः, कुर्वन्—विदधत्, अयम्—एषः, श्रुतिपथोन्माथी—श्रुतिपथं शब्दग्राहकं कर्णविवरं तत् उन्मथ्नाति उद्वेजयति इति नितरां कर्णकटुः, ध्वनिः—शब्दः, यथा—यन प्रकारेण, उच्चैः—उच्चस्वरेण, उच्चरति—उद्गच्छति, तथा—तद्धेतोः, प्रायः प्रेङ्खदसङ्ख्यशङ्खवलया—प्रायः बाहुल्येन प्रेङ्खन्ति इतस्ततो भ्रममाणानि असंख्यानां गणनातीतानां शंखानां वलयानि मण्डलानि यस्यां सा तादृशी, इयं—दृश्यमाना, वेला—समुद्रस्य जलराशिः, आगच्छति—आयाति ॥३॥

अनुवाद—जोर से गरजने वाले जलहस्तियों के वेग से चलाये गये सूँड़ों के थपेड़ों के सिलसिले से प्रचण्ड और पर्वतों की सभी गुफाओं के भीतरी प्रदेशों को गुँजाता हुआ यह कानों के पर्दों को फाड़ने वाला शब्द जिस प्रकार जोर से उठ रहा है, उससे जान पड़ता है कि प्रायः इधर-उधर घूमते हुए असंख्य शंख-समूह वाला यह ज्वारभाटा आ रहा है ॥३॥

---

१. उन्मज्ज० । २. ताः । ३. धवला ।

टिप्पणी—(१) उद्गर्जज्जलकुञ्जरेन्द्र०—ऊँचे स्वर से गरजते हुए जल-गजराजों के वेग के थपेड़ों के साथ मिश्रित होने से प्रचण्ड। (२) प्रतिध्वानिनीः कुर्वन्—प्रतिध्वनित करता हुआ। प्रतिध्वान+इनि+ङीप्=प्रतिध्वानिनी। (३) श्रुतिपथोन्माथी—कर्णमार्ग को रौंदने वाला। (४) प्रेङ्खत्०—इधर-उधर घूमते हुए असंख्य शंखों के मंडल वाला। (५) वेला—ज्वारभाटा। 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरः। समुद्र में जब-जब इस प्रकार की ऊँची ध्वनि होती है तब-तब ज्वारभाटा उठता है। इस समय भी उसी तरह हो रहा है, इसलिए निश्चित ही यह ज्वारभाटा आ रहा है। इस प्रकार साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान होने से अनुमान अलंकार है, जिसका लक्षण है—'अनुमानन्तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्'। और अनुप्रास अलंकार भी है।

इस श्लोक में समास की बहुलता तथा बन्ध की विकटता से चित्त का विस्तारकरण रूप ओज नामक गुण है, जिसका लक्षण है—'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते'। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३॥

मित्रावसुः—नन्वियमागतैव । पश्य—

कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकरोद्गारिसुभिणा पयसा ।
एषा समुद्रवेला रत्नद्युतिरञ्जिता भाति ॥४॥

अन्वय—कवलित........भाति ॥४॥

व्याख्या—कवलितलवङ्ग०—कवलिताः चर्विताः लवङ्गानां समुद्रोद्भवानां लवङ्गलतानां पल्लवाः नूतनकिसलयानि यैः तादृशाः ये करिणः जलहस्तिनः मकराः ग्राहाश्च तेषाम् उद्गारेण चर्वितकिसलयसौगन्ध्योच्छ्वासेन सुरभिणा सुगन्धिना, पयसा—जवेन, एषा—इयं, समुद्रवेला—अब्ध्यम्बुविकृतिः, रत्नद्युतिरञ्जिता—रत्नानां मुक्तादीनां द्युतिः कान्तिः तया रञ्जिता लिप्ता, भाति—शोभते ॥४॥

अनुवाद—मित्रावसु—यह तो आ ही गया। देखो—लवंगलता के पल्लवों को चबाये हुए जल-हस्तियों एवं ग्राहों के श्वास से सुगन्धित जल से (उपलक्षित) यह ज्वारभाटा रत्नों की कान्ति से रंगा हुआ प्रतीत हो रहा है ॥४॥

टिप्पणी--कवलित०--चर्वित या खाये हुए। समुद्रोत्पन्न लवंगलताओं के नये पत्तों को खाये हु.ए जलहस्तियों एवं मगरमच्छों के श्वास-वायु द्वारा सुगन्धित। 'मकरो यादसां भेदे निधिराशिप्रभेदयोः' इति मेदिनी। (२) पयसा --जल से (उपलक्षित)। यहाँ 'इत्थंभूतलक्षणे' सूत्र से तृतीया हुई। (३) समुद्रवेला--समुद्र का ज्वारभाटा।

इस पद्य में आर्या छन्द है ॥४॥

तदेह्यस्माज्जलप्रसरणमार्गादपक्रम्यानेनैव गिरिसानुसमीपमार्गेण परिक्रमावः।

नायकः--मित्रावसो ! पश्य पश्य, शरत्समयपाण्डुभिः पयोदपटलैः प्रावृताः प्रालेयाचलशिखरश्रियमुद्वहन्त्येते मलयसानवः।

मित्रावसुः--नैवामी मलयसानवः, नागानामस्थिसंघाताः खल्वमी।

नायकः--[सोद्वेगम्] कष्टम् ! किंनिमित्तममी संघातमृत्यवो जाताः ?

मित्रावसुः--कुमार ! नैवामी संघातमृत्यवः। श्रूयतां यथैतत्। पुरा किल स्वपक्षपवनापास्तसमस्तसागरजलस्तरसा रसातलादुद्धृत्य भुजङ्गमाननुदिनमाहारयति स्म वैनतेयः।

नायकः--[सोद्वेगम्] कष्टम् ! अतिदुष्करं करोति, ततस्ततः ?

मित्रावसुः--ततः सकलनागविनाशाशङ्किना वासुकिना गरुत्मानभिहितः।

नायकः--[सादरम्] किं, मां प्रथमं भक्षयेति ?

मित्रावसुः--नहि नहि।

नायकः--किमन्यत् ?

मित्रावसुः--इदमुक्तम्,--'त्वदभिसम्पातसन्त्रासात् सहस्रशः स्रवन्ति भुजङ्गमाङ्गनानां गर्भाः, शिशवश्च पञ्चत्वमुपयान्ति। एवञ्च सन्ततिविच्छेदादस्माकं तवैव स्वार्थहानिर्भवेत् यदर्थमभिपतति भवान् नागलोकम्। तमिह नागमेकैकमनुदिनं प्रेषयामि।'

नायकः——कष्टमेवं रक्षिता नागराजेन पन्नगाः ?

व्याख्या——शरत्समयपाण्डुभिः——शरत्कालसमुज्ज्वलैः, पयोदपटलैः——मेघसमूहैः, प्रावृताः——सर्वत आच्छाद्यमानाः, मलयसानवः——मलयाचलस्य शिखराणि, प्रालेयाचलशिखरश्रियम्——प्रालेयाचलस्य हिमालयस्य शिखराणां श्रियं शोभाम्, उद्वहन्ति——धारयन्ति। किन्निमित्तं——कस्मै प्रयोजनाय, संघातमृत्यवः——संघातेन समूहेन एककालमिति यावत् मृत्यवः येषां तादृशाः। पुरा किल——इति ऐतिह्ये। वैनतेयः——विनतापुत्रो गरुडः, स्वपक्षपवनापास्तसमस्तसागरजलः——स्वपक्षयोः पवनेन उड्डयनेन सञ्जातप्रचण्डवायुना अपास्तम् अपसारितं सागरस्य समुद्रस्य जलं पानीयं येन तथाभूतः, अनुदिनं——प्रतिदिनं, रसातलात्——पातालात्, तरसा——बलेन, भुजङ्गमान्——नागान्, उद्धृत्य——निष्काश्य, आहारयति स्म——भक्षयति स्म। गरुत्मान्——गरुडः। त्वदभिसम्पातसन्त्रासात्——तव अभिसम्पातेन वेगात् चलनेन जातात् त्रासात् भयात्, सहस्रशः——सहस्राणि, भुजङ्गमाङ्गनानां नागस्त्रियां, गर्भाः——गर्भस्थाः पोताः, स्रवन्ति——च्युताः भवन्ति। शिशवः——बालाः, पञ्चत्वमुपयान्ति——म्रियन्ते। सन्ततिविच्छेदात्——सन्तानविनाशात्, तव——भवतः, एव, स्वार्थहानिः——अनिष्टपातः, भविष्यति, यदर्थं——यस्मै प्रयोजनाय, अभिपतति——वेगेन आगच्छति। पन्नगाः——नागाः।

अनुवाद——इसलिए आओ, इस जल फैलने के मार्ग से हटकर इसी पर्वत की चोटी के समीपवर्ती मार्ग से घूम जायँ।

नायक——मित्रावसु! देखो, देखो, शरद् ऋतु के उजले मेघ-समूहों से आच्छादित ये मलयपर्वत की चोटियाँ हिमालय की चोटियों की शोभा धारण कर रही हैं।

मित्रावसु——ये मलयपर्वत की चोटियाँ नहीं हैं, ये तो नागों की हड्डियों के ढेर हैं।

नायक——[व्याकुलता के साथ] कष्ट की बात है! क्यों ये सामूहिक मृत्यु को प्राप्त हुए?

मित्रावसु——कुमार! ये सामूहिक मृत्यु नहीं है। सुनिए जैसी की बात है। पहले गरुड अपने पंखों के वायु से समुद्र के समस्त जल को हटाकर वेग से साँपों को रसातल से निकालकर प्रतिदिन खाता था।

नायक--कष्ट की बात है ! बहुत बुरा करता था। तब क्या हुआ ?

मित्रावसु--तब सभी नागों के विनाश की आशंका करने वाले वासुकि नाग ने गरुड से कहा।

नायक--[आदर के साथ] क्या, पहले मुझे खाओ, ऐसा कहा ?

मित्रावसु--नहीं, नहीं।

नायक--फिर दूसरा क्या ?

मित्रावसु--यह कहा,--'आपके आक्रमण के भय से हजारों नागस्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं और बच्चे मर जाते हैं। इस प्रकार हमारी सन्तानों के विनाश से आपके ही स्वार्थ में हानि होगी, जिस प्रयोजन से आप नागलोक में वेग से आते हैं। अतः मैं प्रति दिन यहाँ से एक-एक नाग भेज दूँगा।

नायक--कष्ट की बात है कि नागराज ने सर्पों को इस प्रकार बचाया।

टिप्पणी--(१) जलप्रसरणमार्गात्--जल के फैलने वाले मार्ग से। (२) अपक्रम्य--हटकर। (३) गिरिसानुसमीपमार्गेण--पर्वत की चोटी के पास वाले मार्ग से। (४) शरत्समयपाण्डुभिः--शरत्काल के समान सफेद। (५) पयोदपटलैः--मेघों के समूहों से। (६) प्रावृताः--घिरे हुए। (७) मलयसानवः --मलयाचल के शिखर। (८) प्रालेयाचलशिखरश्रियम्--हिमगिरि के शिखरों की शोभा को। प्रालेयस्य अचलः, तस्य शिखराणि, तेषां श्रीः (ष० त०), ताम्। 'तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका' इत्यमरः। (९) संघातमृत्यवः-- सामूहिक मृत्यु वाले। संघातेन समूहेन एककालमिति यावत् मृत्युः येषां ते (ब० स०)। (१०) पुरा किल--प्राचीन समय की बात है। (११) स्वपक्ष-पवनापास्तसमस्तसागरजलः--अपने पंखों के वायु से सम्पूर्ण समुद्र-जल को हटा देने वाला। (११) रसातलात्--पाताल से। 'अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलम्' इत्यमरः। (१२) वैनतेयः--गरुड। विनतायाः अपत्यं पुमान् वैनतेयः विनता+ढक् 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेन, ढस्य एयादेशः। (१३) भुजङ्गमान्-- साँपों को। भुज√गम्+खच्, मुमागम। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः' इत्यमरः। (१४) आहारयति--खा लेता है। आहारं करोति इति आहारयति आहार+णिच् (नामधातु)+लट्--ति। यहाँ पौराणिक कथा है कि कश्यप

की दो पत्नियाँ थीं--कद्रू और विनता। पहली की सन्तान नाग हैं और दूसरी की गरुड। एक बार दोनों स्त्रियों में सूर्य के घोड़ों के पुच्छ के बाल के रंग के बारे में विवाद हो गया। कद्रू बाल को काला कहती थी और विनता श्वेत। बाजी लगाकर दोनों सौतें बाल को देखने गईं। इनके पहुँचने से पूर्व ही नाग जाकर पूँछ में लिपट गये जिससे पूँछ का रंग काला हो गया। कद्रू जीत गई। शर्त के अनुसार विनता को उसकी दासी होना पड़ा। अन्त में गरुड ने अमृत लाकर किसी प्रकार अपनी माता को इस काम से छुड़ाया। अनन्तर गरुड विष्णुभगवान् का वाहन बना और उन्हीं के वरदान से नाग उसके भक्ष्य बने। यही कथा संक्षेप से बृहत्कथामंजरी में भी पायी जाती है--

कद्रूश्च विनता चेति कश्यपस्य प्रिये पुरा ॥
बालधौ भास्कराश्वानां सितासितविवादतः ।
पणं दास्याय चक्राते प्रतिज्ञाकृतनिश्चये ॥
कृष्णबालान् विधायाश्वान् कद्रूपुत्रैर्भुजङ्गमैः ।
दास्यं निनाय विनतां व्याजाद् गरुडमातरम् ॥
तस्या निशम्य दास्यं तत् पीयूषाहरणावधिः ।
वैनतेयो वहन्नागान्मातुर्दास्यमवारयत् ॥
जवात् पीयूषमाहृत्य जित्वा शक्रं खगेश्वरः ।
प्रदाय काद्रवेयेभ्यो दासभावादमुच्यत ॥
धृतं पीयूषकलशं कुशेष्वभ्येत्य वासवः ।
जहार तत्क्षणाद्दर्भांश्च लिलिहुः पन्नगाः कुशान् ॥
ततो द्विजिह्वतां प्राप्ताः खरदर्भावलेहनैः ।
विष्णोर्वरात् सुपर्णस्य भक्ष्यतां पन्नगा ययुः ॥

(चतुर्थलम्बके)

(१५) गरुत्मान्--गरुड। 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः' इत्यमरः। (१६) पन्नगः:--सर्प। पन्नं पतितं गच्छन्ति इति पन्नगाः पन्न√गम् +ड 'सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन।

जिह्वासहस्रद्वितयस्य मध्ये नैकापि सा तस्य किमस्ति जिह्वा ।
एकाहिरक्षार्थमहिद्विषेऽद्य दत्तो मयात्मेति यया ब्रवीति ? ॥५॥

अन्वय--तस्य जिह्वासहस्रद्वितयस्य मध्ये सा एकापि जिह्वा नास्ति किम्, यया अद्य एकाहिरक्षार्थम् अहिद्विषे मया आत्मा दत्तः इति ब्रवीति ? ॥५॥

व्याख्या--तस्य--नागराजस्य, जिह्वासहस्रद्वितयस्य मध्ये--द्विसहस्रजिह्वासु इत्यर्थः, सा--प्रसिद्धा, एकापि--केवलापि, जिह्वा--रसना, नास्ति--न विद्यते, किम् ? यया--जिह्वया, अद्य--अस्मिन् दिने, एकाहिरक्षार्थम्--एकसर्परक्षणार्थम्, अहिद्विषे--गरुडाय, मया, आत्मा--देहः, दत्तः--समर्पितः, इति, ब्रवीति--कथयति ? ॥५॥

अनुवाद—क्या उस (नागराज) की दो हजार जीभों में से एक भी जीभ (ऐसी) नहीं है, जिससे 'आज एक नाग की रक्षा के लिए गरुड को मैंने (अपना) शरीर समर्पित कर दिया' ऐसा (वह) कहता ? ॥५॥

टिप्पणी--(१) जिह्वासहस्रद्वितयस्य--दो हजार जिह्वाओं के। सहस्रयोः द्वितयम्, जिह्वानां सहस्रद्वितयम् (ष० त०), तस्य। (२) अहिद्विषे--सर्पकुलविध्वंसक, गरुड के लिए। अहीन् द्वेष्टि इति अहिद्विट् अहि √द्विष्+क्विप्, उपपदतत्पुरुष, तस्मै। श्लोक का तात्पर्यार्थ यह है कि स्वामी के लिए अपने आश्रितों का जीवन गँवाकर अपना जीवन बचाना निन्दनीय बात है। आज यदि एक भी नाग के लिए नागराज अपना जीवन उत्सर्ग कर देता तो उसका जन्म सफल हो जाता।। परन्तु नागराज ने ऐसा नहीं किया, अतः उसकी वत्सलता व्यर्थ है इस श्लोक में इन्द्रवज्रा छन्द है ॥५॥

मित्रावसुः--प्रतिपन्नं तत् पक्षिराजेन।

इत्येष भोगिपतिना विहितव्यवस्थो
यान् भक्षयत्यहिपतीन् पतगाधिराजः।
यास्यन्ति यान्ति च गताश्च दिनैर्विवृद्धि
तेषाममी तुहिनशैलरुचोऽस्थिकूटाः ॥६॥

अन्वय--इति भोगिपतिना विहितव्यवस्थः एषः पतगाधिराजः यान् अहिपतीन् भक्षयति तेषाम् अमी तुहिनशैलरुचः अस्थिकूटाः दिनैः विवृद्धि गताः च यान्ति च यास्यन्ति ॥६॥

व्याख्या--इति--उक्तप्रकारेण, भोगिपतिना--नागराजेन, विहितव्यवस्थः --विहिता विशेषेण कृता व्यवस्था स्वकार्यमर्यादा येन तादृशः, एषः--अयम्, पतगाधिराजः--पक्षिराजः गरुडः, यान्, अहिपतीन्--नागराजान्, भक्षयति--खादति, तेषां--सर्पाणाम्, अमी--एते, तुहिनशैलरुचः--हिमालयवत् उज्ज्वल-कान्तिसम्पन्नाः, अस्थिकूटाः--अस्थिराशयः, दिनैः--गच्छता कालेन, विवृद्धिम्--उपचयं, गताः--याताः, यान्ति--गच्छन्ति, च--तथा यास्यन्ति ॥६॥

अनुवाद--मित्रावसु--पक्षिराज (गरुड) ने उसे स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार नागराज के द्वारा व्यवस्था कर दिये जाने पर वह पक्षिराज जिन साँपों को खाता है, उनकी हड्डियों के हिमालय जैसी कान्ति वाले ढेर दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त हुए, हो रहे हैं और होंगे ॥६॥

टिप्पणी--(१) भोगिपतिना--सर्पराज के द्वारा। भोगाः फणाः सन्ति एषाम् इति भोगिनः भोग+इनि, तेषाम् पतिः स्वामी भोगिपतिः, तेन। (२) विहितव्यवस्थः--(प्रतिदिन एक ही सांप को खाऊँगा दूसरे को नहीं--इस प्रकार की) व्यवस्था जिसने की है, ऐसा। (३३) पतगाधिराजः--पक्षियों का राजा, गरुड। (४) अहिपतीन्--नागराजों को। (५) तुहिनशैलरुचः--हिमालय की-सी कान्ति वाले। (६) अस्थिकूटाः--हड्डियों के ढेर। अस्थ्नां कूटाः (ष० त०)। 'कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ' इति मेदिनी। इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ॥६॥

नायकः--आश्चर्यम् !

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाःपापानि कुर्वते ॥७॥

अन्वय--सर्वाशुचि..............कुर्वते ॥७॥

व्याख्या--सर्वाशुचिनिधानस्य--सर्वेषां विण्मूत्रादीनाम् अशुचीनाम् अपवित्रपदार्थानां निधानस्य एकाश्रयस्या, कृतघ्नस्य--कृतम् उपकारम् हन्ति नाशयति इति तादृशस्य, विनाशिनः--नाशशीलस्य, शरीरकस्य--कुत्सितदेहस्य, अपि, कृते, मूढाः--विवेकशून्याः, पापानि--अशुचिकर्माणि, कुर्वते--विदधति ॥७॥

अनुवाद—**नायक**—आश्चर्य है !

सब अपवित्रों (विष्ठा, मूत्र आदि) की खान, कृतघ्न और नाशवान् कुत्सित शरीर के लिए भी मूर्ख लोग पाप करते हैं।।७।।

टिप्पणी—(१) **सर्वाशुचिनिधानस्य**—सकल अपवित्र वस्तुओं के घर, मलमूत्रभाण्डागार। (२) **कृतघ्नस्य**—किये हुए (उपकार) को न मानने वाले। कृतं हन्तीति कृतघ्नः कृत√हन्+क । (३) **शरीरकस्य**—कुत्सित (गंदे) शरीर के । कुत्सितं शरीरम् शरीरकम् शरीर+क, तस्य । यहाँ 'सर्वाशुचिनिधान' आदि तीन विशेषणों के द्वारा अतितुच्छ शरीर के लिए पापकर्म नहीं करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय प्रकट करने से परिकर अलंकार है, जिसका लक्षण है—'अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे । सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः' ।।७।।

अहो कष्टमनवसानेयं विपत्तिर्नागानाम् । [आत्मगतम्] अपि शक्नुयामहं स्वशरीरसमर्पणेन एकस्यापि नागस्य प्राणपरिरक्षां कर्तुम् ?

[ततः प्रविशति प्रतीहारः]

प्रतीहारः—आरूढोऽस्मि गिरिशिखरं, यावन्मित्रावसुमन्विष्यामि । [परिक्रम्य] अयं मित्रावसुर्जामातुः समीपे तिष्ठति । [उपसृत्य] विजयेतां कुमारौ ।

मित्रावसुः—सुनन्द ! किन्निमित्तमिहागमनम् ?

प्रतीहारः—[कर्णे कथयति]

मित्रावसुः—कुमार ! तातो मामाह्वयति ।

नायकः—गम्यताम्

मित्रावसुः—कुमारेणापि बहुप्रत्यवायेऽस्मिन् प्रदेशे न चिरं स्थातव्यम् । [इति निष्क्रान्तः]

नायकः—यावदहमप्यस्माद्गिरिशिखरादवतीर्य समुद्रतटमवलोकयामि । [परिक्रामति]

[नेपथ्ये] हा पुत्तग्र संखचूड ! कहं वावादिग्रमाणो ग्रज्ज किल तुमं मए पेक्खिदव्वो ? (हा पुत्रक शङ्खचूड ! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः ?

नायकः—[ग्राकर्ण्य] ग्रये ! योषित इवार्त्तप्रलापः ! केयम् ? कुतो वास्या भयमिति स्फुटीकरिष्ये । [परिक्रामति]

[ततः प्रविशति रुदत्या वृद्धयाऽनुगम्यमानः शङ्खचूडो गोपायितवस्त्रयुगलश्च किङ्करः]

व्याख्या—ग्रनवसाना—नास्ति ग्रवसानम् ग्रन्तो यस्याः तादृशी नित्यस्यायिनीति यावत् । ग्राह्वयति—ग्राकारयति । बहुप्रत्यवाये—बहवः प्रत्यवायाः विघ्नाः ग्रनर्थाः वा यस्मिन् तादृशे । व्यापाद्यमानः—हन्यमानः,. प्रेक्षितव्यः—द्रष्टव्यः । योषितः—ग्रबलायाः, ग्रार्तलापः—करुणक्रन्दनम्, स्फुटीकरिष्ये—ग्रनुसन्धानेन ज्ञास्यामीत्यर्थः । गोपायितवस्त्रयुगलः—गोपायितं रक्षितं वस्त्रयोः वाससोः युगलं द्वयं येन तादृशः । किङ्करः—भृत्यः ।

ग्रनुवाद—हाय ? नागों की यह विपत्ति (कभी) समाप्त होने वाली नहीं है । [मन में] क्या में ग्रपना शरीर सर्मापित करके एक भी नाग के प्राणों की रक्षा कर सकता हूँ ?

[तदनन्तर प्रतीहार प्रवेश करता है]

प्रतीहार—पर्वत की चोटी पर मैं चढ़ ग्राया हूँ । जब तक मित्रावसु को ढूँढ़ता हूँ । [घूमकर] यह मित्रावसु जामाता के पास खड़े हैं । [समीप जाकर] दोनों कुमारों की जय हो ।

मित्रावसु—सुनन्द ! किस कारण यहाँ ग्राना हुग्रा है ?

प्रतीहार—[कान में कहता है]

मित्रावसु—कुमार ! पिता जी मुझे बुला रहे हैं ।

नायक—जाइए ।

मित्रावसु—कुमार को भी बहुत विघ्न वाले इस प्रदेश में देर तक नहीं रहना चाहिए । [यह कहकर चला गया

नायक--जब तक मैं भी इस पहाड़ की चोटी पर से उतरकर समुद्र का तट देखता हूँ। [घूम जाता है]

[नेपथ्य में] हाय बेटा शंखचूड़! आज मैं मारे जाते हुए तुमको कैसे देखूँ?

नायक--[सुनकर] अरे! यह तो (किसी) अबला का कातर आलाप है। यह कौन है? अथवा किससे इसको भय है--इसे स्पष्ट करूँगा। [घूमता है]

[तदनन्तर रोती हुई वृद्धा से अनुगत शंखचूड़ और दो वस्त्रों को छिपाये सेवक प्रवेश करते हैं]

टिप्पणी—(१) अनवसाना--अन्त या समाप्ति से रहित। (२) अपि--क्या यह संभव है कि। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशंकाकासंभावनास्वपि' इत्यमरः।(३) बहुप्रत्यवाये--बहुत विघ्नों वाले। (४) पुत्रक--बेटा। अनुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः पुत्र+कन्। (५) व्यापाद्यमानः--मारा जाता हुआ। वि-आ√पद्+णिच्+लट् (कर्मणि)--शानच्। (६) योषितः--स्त्री का। 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। (७) आर्तप्रलापः—करुण क्रन्दन, दुःखभरा विलाप। (८) स्फुटीकरिष्ये--स्पष्ट करूँगा, पता लगाऊँगा। अस्फुटं स्फुटं सम्पद्यमानं करिष्ये इति स्फुटीकरिष्ये स्फुट+च्वि, ईत्व√कृ+लृट्। (९) अनुगम्यमानः--पीछा किया जाता हुआ। (१०) गोपायितवस्त्रयुगलः—दो वस्त्रों को छिपाये हुए। (११) किङ्करः--भृत्य, नौकर।

वृद्धा--[सास्रम्] हा पुत्तअ संखचूड! कहं वावादिअमाणो अज्ज किल तुमं मए पेक्खिदव्वो? [चिबुकं गृहीत्वा] इमिणा मुहचंदेण विरहिअं दाणीं अंधआरीभविस्सदि पाआलं। (हा पुत्रक शङ्खचूड! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः? अनेन मुखचन्द्रेण विरहितमिदानीमन्धकारीभविष्यति पातालम्।)

शङ्खचूडः--अम्ब! किमिति वैक्लव्येन सुतरां नः पीडयसि?

वृद्धा--[निर्वर्ण्य पुत्रस्याङ्गानि स्पृशन्ती] हा पुत्त! कहं दे अदिट्ठसूरकिरणं सुउमारं सरीरं णिग्घिणहिअओ गलुडो आहा-

लइस्सदि ? (हा पुत्र ! कथं ते अदृष्टसूर्यकिरणं सुकुमारं शरीरं निर्घृणहृदयो गरुड आहारयिष्यति ?) [कण्ठे गृहीत्वा रोदिति]

शङ्खचूडः--अम्ब ! अलं परिदेवितेन । पश्य--

क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात् तदा शोकस्य कः क्रमः ॥८॥

अन्वय--यदा जातम् प्रथमम् अनित्यता क्रोडीकरोति पश्चात् धात्रीव जननी तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥८॥

व्याख्या--वैक्लव्येन--विकलतया, नः--अस्मान्, पीडयसि--क्लेशयसि । अदृष्टसूर्यकिरणम्--अज्ञातसूर्यसन्तापमित्यर्थः, निर्घृणहृदयः--नास्ति घृणा दया यस्मिन् तादृशः, आहारयिष्यति--भक्षयिष्यति । परिदेवितेन--शोकप्रकटितेन ।

यदा--यर्हि, जातम्--उत्पन्नं (शिशुम्), प्रथमम्--पूर्वम्, अनित्यता--नश्वरता, क्रोडीकरोति--स्वाङ्के निदधाति, पश्चात्--अनन्तरं, धात्रीव--उपमातेव, जननी--माता, (क्रोडीकरोति) तदा--तर्हि, शोकस्य--दुःखस्य, कः क्रमः ? ॥८॥

अनुवाद--वृद्धा--[आंसू के साथ] हाय बेटा शंखचूड ! आज मैं मारे जाते हुए तुम्हें कैसे देखूँ ? [ठोड़ी पकड़कर] इस मुखरूपी चन्द्रमा से रहित होने पर पाताललोक अंधकार मय हो जाएगा ।

शंखचूड--माता ! क्यों विकलता से मुझे अधिक पीडा दे रही हो ?

वृद्धा--[देखकर पुत्र के अंगों को छूती हुई] हाय बेटा ! कैसे तुम्हारे सूर्य-किरण को न देखने वाले सुकुमार शरीर को निर्दय गरुड खा जाएगा ? [गले लगाकर रोती है]

शंखचूड--माता ! विलाप करना व्यर्थ है । देखो--

जब उत्पन्न हुए (शिशु) को पहले अनित्यता गोद में ले लेती है, पश्चात् धाय की तरह माता (लेती है) तब शोक करने का कौन-सा सिलसिला है ? ॥८॥

टिप्पणी--(१) मुखचन्द्रेण--मुखरूपी चन्द्रमा से । मुखमेव चन्द्रः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपसमासः), तेन । (२) वैक्लव्येन--विकलता या व्याकुलता

से। विक्लवस्य भावः वैक्लव्यम् विक्लव+ष्यञ्, तेन। (३) अदृष्टसूर्यकिरणम्--जिसने सूर्य का प्रकाश तक नहीं देखा, ऐसे। (४) परिदेवितेन--शोक प्रकट करने या विलाप करने से। (५) अनित्यता--नश्वरता, विनाशशीलता। (६) क्रोडीकरोति--अंकसात् करती है, गोद में लेती है। (७) धात्री--धाय। 'धात्री स्यादुपमातापि' इत्मरः। 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति मेदिनी। श्लोक का भाव यह है कि जब प्राणी का जन्म होता है, तभी अनित्यता उसके पीछे लग जाती है। कहा भी है--'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः'॥ (श्रीमद्भागवत)। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इति गीता॥८॥

[गन्तुमिच्छति]

वृद्धा--पुत्तअ! चिट्ठ मुहुत्तअं, जाव दे वअणं पेक्खामि। (पुत्र! तिष्ठ मुहूर्तं, यावत् ते वदनं प्रेक्षे।)

किङ्करः--एहि कुमाल संखचूड! किं ते एदाए भणंतीए? पुत्तसिणेहमोहिदा क्खु एसा, ण जाणेदि लाअकज्जं। (एहि कुमार शङ्खचूड! किं ते एतया भणन्त्या? पुत्रस्नेहमोहिता खल्वेषा, न जानाति राजकार्यम्।)

शङ्खचूडः--अयमागच्छामि।

किङ्करः--[अग्रतोऽवलोक्य आत्मगतम्] आणीदो क्खु एसो मए वज्झसिलासमीवे। ता वज्झचिण्हं दाइस्सं। (आनीतः खल्वेष मया वध्यशिलासमीपे, तद् वध्यचिह्नं दास्यामि।)

नायकः--इयमसौ योषित्। [शङ्खचूडं दृष्ट्वा] नूनमनेन अस्याः सुतेन भवितव्यम्; तत् किमाक्रन्दति? [समन्तादवलोक्य] न खल्वस्या भयकारणं किञ्चित् पश्यामि, कुतोऽस्या भयमिति? यावदुपसर्पामि। प्रसक्त एवायमेतेषामालापः, कदाचिदत एवास्या-भिव्यक्तिर्भविष्यति। तद्विटपान्तरितस्तावच्छृणोमि। [तथा करोति]

किङ्करः—[सास्रं कृताञ्जलिः] कुमाल संखचूड ! एसो सामिणो आदेशो त्ति करिअ ईरिसं णिट्ठुरं मन्तीअदि। (कुमार शङ्खचूड ! एष स्वामिन आदेश इति कृत्वा ईदृशं निष्ठुरं मन्त्र्यते।)

शङ्खचूडः—भद्र ! कथय।

किङ्करः—नागलाओ वासुई आणवेदि—(नागराजो वासुकिः आज्ञापयति—)

शङ्खचूडः—[शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा सादरम्] किमाज्ञापयत देवः ?

किङ्करः—'एदं लत्तंसुअजुअलं परिहिअ आलुह वज्झसिलं, जेण लत्तंसुअं उवलक्खिअ गलुडो आहालइस्सदि' त्ति। ('इदं रक्तांशुकयुगलं परिधाय आरोह वध्यशिलां, येन रक्तांशुकमुपलक्ष्य गरुड आहारयिष्यति' इति।)

नायकः—[श्रुत्वा] कथमसौ वासुकिना परित्यक्तः ?

किङ्करः—कुमाल ! गेण्ह एदं वसणजुअलं। (कुमार ! गृहाणैतत् वसनयुगलम्।) [इत्यर्पयति]

व्याख्या—मुहूर्तं—क्षणं यावत्, ते—तव, वदनं—मुखम्, प्रेक्षे—पश्यामि। भणन्त्या—ब्रुवन्त्या। आक्रन्दति—रोदिति। आलापः—वार्तालापः, प्रसक्त एव—प्रारब्ध एव। अत एव—एतस्मात् आलापात् एव, अभिव्यक्तिः—स्फुटता। विटपान्तरितः—शाखावरणे स्थित्वेत्यर्थः। निष्ठुरं—कठोरम्। रक्तांशुकयुगलं—रक्तवस्त्रद्वयम्, परिधाय—धारयित्वा, उपलक्ष्य—दृष्ट्वा। वसनयुगलं—वस्त्रद्वयम्, अर्पयति—ददाति।

अनुवाद—[जाना चाहता है]

वृद्धा—बेटा ! क्षण भर रुको, जब तक मैं तुम्हारा मुख देख लूँ।

किङ्कर—कुमार शंखचूड ! आओ। इसके बोलते रहने से तुम्हें क्या करना हैं ? यह पुत्र-प्रेम से मोहित है, राजा के कार्य को नहीं जानती है।

शंखचूड—यह आ रहा हूँ।

किङ्कर—[आगे देखकर मन में । इसे मैं वध्यशिला के पास ले आया हूँ, तो यह वध्य-चिह्न दे दूँ ।

नायक—वह स्त्री यही है । [शंखचूड को देखकर] निश्चय ही यह इसका पुत्र होना चाहिए। तो क्यों रो रही है ? [चारों ओर देखकर] इसके भय का कोई कारण नहीं देखता हूँ, इसे किससे भय है ? जब तक इसके पास चलूँ। इन लोगों की बातचीत तो प्रारंभ ही है। कदाचित् इसी से इसकी स्पष्टता (मालूम) हो जाय । इसलिए शाखाओं की आड़ में होकर सुनता हूँ । [वैसा ही करता है]

किङ्कर—[आँसू के साथ हाथ जोड़कर] कुमार शंखचूड ! यह स्वामी का आदेश है, इसलिए ऐसी निर्दयता की बात कहनी पड़ रही है ।

शंखचूड—महोदय ! कहिए ।

किङ्कर—नागराज वासुकि आज्ञा देते हैं—

शंखचूड—[शिर पर हाथ जोड़कर आदर के साथ] महाराज क्या आज्ञा देते हैं ?

किङ्कर—'यह लाल वस्त्रों का जोड़ा पहनकर वध्यशिला पर चढ़ जाओ, जिससे लाल वस्त्र को देखकर गरुड (तुम्हें) खा जाएगा ।'

नायक—[सुनकर] क्या इसे वासुकि ने त्याग दिया है ?

किङ्कर—कुमार ! यह दोनों वस्त्र ले लो । [सौंप देता है]

टिप्पणी (१) वध्यशिलासमीपे—वध करने की शिला के पास । वधमर्हति इति वध्यः वध+यत् । तस्य शिला, तस्याः समीपे । (२) वध्यचिह्नम्—मारे जाने वाले का चिह्न । प्राचीन काल में वध्य व्यक्ति के चिह्न—धार्य वस्तु का रंग प्रायः लाल होता था । मृच्छकटिक नाटक में जब चारुदत्त को मारने के लिए ले जाया गया तो उसके शरीर पर लालचन्दन का लेप किया हुआ था । (३) आलापः प्रसक्त एव—बातचीत प्रारंभ ही है। (४) अभिव्यक्तिः—स्पष्टता, रहस्यभेद ।

शङ्खचूडः—[सादरम्] उपनय । [गृहीत्वा] शिरसि स्वाम्यादेशः ।

वृद्धा—[पुत्रस्य हस्ते वाससी दृष्ट्वा सोरस्ताडम्] हा वच्छ ! एदं क्खु वज्जपाडसण्णिभं संभावीअदि । (हा वत्स ! इदं खलु वज्रपातसन्निभं सम्भाव्यते । [मोहं गता]

किङ्करः—आसण्णा गलुडस्स आगमणवेला, ता लहुं गच्छामि । (आसन्ना गरुडस्यागमनवेला, तल्लघु गच्छामि ।) [इति निष्क्रान्तः]

शङ्खचूडः—अम्ब ! समाश्वसिहि ।

वृद्धा—[समाश्वस्य सास्रम्] हा पुत्तअ ! हा मणोरहसदलद्ध ! कहिं पुणो तुमं पेक्खिस्सं ? (हा पुत्रक ! हा मनोरथशतलब्ध ! क्व पुनस्त्वां प्रेक्षिष्ये ?) [कण्ठे गृह्णाति]

नायकः—अहो नैर्घृण्यं गरुडस्य ! अपिच—

मूढाया मुहुरश्रुसन्ततिमुचः कृत्वा प्रलापान् बहून्
कस्त्राता तव पुत्रकेति कृपणं दिक्षु क्षिपन्त्या दृशम् ।
अङ्के मातुरवस्थितं[1] शिशुमिमं त्यक्त्वा घृणामश्नतः
[2]चञ्चुर्नैव खगाधिपस्य हृदयं वज्रेण मन्ये कृतम् ॥९॥

अन्वय—मूढायाः मुहुः अश्रुसन्ततिमुचः पुत्रक ! कः तव त्राता इति बहून् प्रलापान् कृत्वा दिक्षु दृशं कृपणं क्षिपन्त्याः मातुः अङ्के अवस्थितम् इमं शिशुं घृणां त्यक्त्वा अश्नतः खगाधिपस्य चञ्चुः नैव हृदयं वज्रेण कृतं मन्ये ॥९॥

व्याख्या—वाससी—वस्त्रयुगलं, सोरस्ताडम्—उरसः वक्षःस्थलस्य ताडः ताडनम् तेन सहितम् । वज्रपातसन्निभम्—वज्रपातसदृशम् । आसन्ना—निकटवर्तिनी । लघु—शीघ्रम् । मनोरथशतलब्ध—मनोरथानाम् अभिलाषाणां शतं तेन लब्ध प्राप्त । नैर्घृण्यं—निर्दयत्वम् ।

मूढायाः—पुत्रशोकासन्नत्वेन विह्वलचित्तायाः, मुहुः—वारं वारम्, अश्रुसन्ततिमुचः—अश्रुसन्ततिं बाष्पधारां मुञ्चतीति तस्याः, पुत्रक—हे दयनीयपुत्र,

१ ० रुपागतं । २. चञ्च्वग्रेण ।

कः, तव--ते, त्राता—रक्षकः, इति, बहून्--अनेकविधान्, प्रलापान्—परिदेवितानि, कृत्वा--विधाय, दिक्षु--दिशासु, दृशं--दृष्टिं, कृपणं--कातरं, क्षिपन्त्याः --इतस्ततः प्रेरयन्त्याः, मातुः--जनन्याः, अङ्के—क्रोडे, अवस्थितं--वर्तमानम्, इमं, शिशुं--बालं, घृणां--दयां, त्यक्त्वा--विहाय, अश्नतः--भक्षयतः, खगाधिपस्य—गरुडस्य, चञ्चुः--त्रोटिः, नैव, (प्रत्युत) हृदयं--चित्तं, वज्रेण--कुलिशेन, कृतं—रचितं, मन्ये--जानामि ॥६॥

अनुवाद—शंखचूड--[आदर के साथ] लाइए। [लेकर] स्वामी का आदेश सिर पर है।

वृद्धा--[पुत्र के हाथ में दोनों वस्त्रों को देखकर छाती पीटती हुई] हाय बेटा! यह वज्रपात के समान लग रहा है। [मूर्च्छित हो जाती है]

किङ्कर--गरुड के आने का समय हो रहा है, इसलिए मैं शीघ्र चला जाता हूँ। [यह कहकर चला जाता है]

शंखचूड--माता! आश्वस्त होओ।

वृद्धा--[आश्वस्त होकर आँसू के साथ] हाय दया के पात्र पुत्र! हाय सैकड़ों आशाओं से पाये गये! मैं तुम्हें फिर कहाँ देखूँगी? [गले लगाती है]

नायक—ओह! गरुड की कैसी निर्दयता है! और भी--

किंकर्तव्यविमूढ, बार-बार आँसुओं की झड़ी लगाती हुई और बेटा! कौन तुम्हारा रक्षक है?' इस प्रकार बहुत प्रलाप करके चारों ओर कातर दृष्टि डालती हुई माता की गोद में बैठे हुए इस बालक को दया त्यागकर खाते हुए गरुड की केवल चोंच ही नहीं हृदय भी वज्र से बना हुआ मैं मानता हूँ ॥६॥

टिप्पणी--(१) **सोरस्ताडम्**--छाती पीटती हुई। (२) **सम्भाव्यते**--मालूम पड़ रहा है। (३) **मोहम्**--मूर्च्छा को। (४) **आसन्ना**--समीप। (५) **लघु**--शीघ्र। (६) **मनोरथशतलब्ध**--हे सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त। अर्थात् तुम्हारे जन्म लेने पर 'मेरा पुत्र यह काम करेगा, मैं उससे कहूँगी' इत्यादि सैकड़ों कामनायें मैंने कर रखी थीं। (७) **मूढायाः**--मोह या मूर्च्छा को प्राप्त। (८) **अश्रुसन्ततिमुचः**--आँसुओं की धारा छोड़ती हुई। (९) **घृणाम्**—दया को। 'घृणा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः।

स श्लोक में वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥९॥

शङ्खचूडः--[[1]आत्मनोऽश्रूणि निवारयन्] अम्ब ! किमतिवैक्लव्येन ?

यैरत्यन्तदयापरैर्न विहिता वन्ध्यार्थिनां प्रार्थना
यैः कारुण्यपरिग्रहान्न गणितः स्वार्थः परार्थं प्रति ।
ये नित्यं परदुःखदुःखितधियस्ते साधवोऽस्तं गता
मातः संहर बाष्पवेगमधुना कस्याग्रतो रुद्यते ॥१०॥

अन्वय--यैः अत्यन्तदयापरैः अर्थिनां प्रार्थना वन्ध्या न विहिता; यैः कारुण्यपरिग्रहात् परार्थं प्रति स्वार्थः न गणितः; ये नित्यं परदुःखदुः खितधियः ते साधवः अस्तं गताः; मातः ! बाष्पवेगं संहर, अधुना कस्य अग्रतः रुद्यते ? ॥१०॥

व्याख्या--यैः, अत्यन्तदयापरैः--अतिशयकृपालुभिः (पुरुषैः), अर्थिनां--याचकानां, प्रार्थना--याचना, वन्ध्या--निष्फला, न विहिता--न कृता; यैः, कारुण्यपरिग्रहात्--कारुण्यस्य कृपालुतायाः परिग्रहात् स्वीकारात्, परार्थं प्रति--परेषाम् अन्येषाम् अर्थं प्रयोजनं प्रति, स्वार्थः--निजप्रयोजनं, न गणितः--नापेक्षितः; ये, नित्यं--सदैव, परदुःखदुःखितधियः--परेषाम् अन्येषां दुःखानि कष्टानि तैः दुःखिता क्लेशिता धीः बुद्धिः येषां तादृशाः, ते, साधवः--महात्मानः, अस्तं गताः--विनष्टाः; मातः--अम्ब !, बाष्पवेगं--बाष्पस्य अश्रुणः वेगं पतन्तीं धारां, संहर--संस्थापय, अधुना--इदानीम्, कस्य, अग्रतः--समक्षं, रुद्यते--विलप्यते ? ॥१०॥

अनुवाद--शङ्खचूड--[अपने आंसुओं को रोकता हुआ] माता ! बहुत व्याकुल होने से क्या लाभ ?

जिन अत्यन्त दयालु पुरुषों ने यांचकों की प्रार्थना को निष्फल नहीं किया; जिन्होंने करुणा स्वीकार करने के कारण दूसरे के प्रयोजन के लिए अपने प्रयोजन की अपेक्षा नहीं की; जो नित्य दूसरे के दुःख से दुःखित बुद्धि वाले हैं,

---

१. मातु० ।

वे महात्मा चल बसे; माता ! आँसुओं के वेग को रोको, अब किसके आगे रोती हो ? ॥१०॥

टिप्पणी--(१) अत्यन्तदयापरैः--अतिशय दयालु। दया परं येषां ते दयापराः (ब० स०), अत्यन्तं दयापराः (प्रादिसमास), तैः। (२) अर्थिनाम्--याचकों की। (३) वन्ध्या न विहिता--निष्फल नहीं की अर्थात् पूरी की। (४) कारुण्यपरिग्रहात्--दया स्वीकार करने के कारण। 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः। (५) परदुःखदुःखितधियः--दूसरे के दुःख से दुःखी होने वाले, परदुःखकातर। (६) अस्तं गताः--चल बसे, समाप्त हो गये। भाव यह है कि परार्थ के लिए स्वार्थ की उपेक्षा करने वाले साधु अब नहीं मिलते हैं, अतः, हे माता ! तुम्हे विलाप करने से कोई लाभ नहीं होगा, मत रोओ। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१०॥

ननु समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वृद्धा--[सास्त्रम्] कहं समस्ससिस्सं ? किं एक्कपुत्तओ त्ति कदुअ साणुकंपेण णाअराएण पेसिदोसि ? हा ! कहं अविच्छिण्णे जीअलोए मम पुत्तओ सुमरिदो ? सव्वधा अहं म्हि मंदभग्गा। (कथं समाश्वसिष्यामि ? किमेकपुत्रक इति कृत्वा सानुकम्पेन नागराजेन प्रेषितोऽसि ? हा ! कथमविच्छिन्ने जीवलोके मम पुत्रकः स्मृतः ? सर्वथाऽहमस्मि मन्दभाग्या।) [मूर्च्छति]

नायकः--[सकरुणम्]

आर्तं कण्ठगतप्राणं परित्यक्तं स्वबन्धुभिः ।
त्राये नैनं यदि ततः कः शरीरेण मे गुणः ॥११॥

अन्वय--आर्तं कण्ठगतप्राणं स्वबन्धुभिः परित्यक्तम् एनं यदि न, त्राये ततः मे शरीरेण कः गुणः ? ॥११॥

व्याख्या--एकपुत्रक इति कृत्वा--एक एव अनुकम्पितः पुत्रः इति मनसि निधाय, सानुकम्पेन--सदयेन। अविच्छिन्ने--अनष्टे।

आर्तं--पीडितं, कण्ठगतप्राणम्--आसन्नमरणं, स्वबन्धुभिः--निजबान्धवैः, परित्यक्तं--विहीनम्, एनं--दृश्यमानं बालं, यदि--चेत्, न त्राये--न रक्षामि, ततः--तर्हि, मे--मम, शरीरेण--देहेन, कः गुणः--को लाभः ? ॥११॥

अनुवाद--आश्वस्त होओ, आश्वस्त होओ ।

वृद्धा--[आँसू के साथ] कैसे समाश्वस्त होऊँ ? क्या 'इकलौता पुत्र हैं' ऐसा सोचकर दयालु नागराज ने तुम्हें भेजा है ? हाय ! अविच्छिन्न रूप में जीव-समूह के रहते मेरा दयनीय बेटा ही क्यों स्मरण किया गया ? मैं सब प्रकार से अभागिन हूँ । [मूर्च्छित हो जाती है]

नायक--[करुणा के साथ]

पीडित, कण्ठगत प्राण वाले और अपने बंधुओं के द्वारा त्यागे गये इसको यदि मैं नहीं बचाता हूँ तो शरीर से क्या लाभ ? ॥११॥

टिप्पणी--(१) **अविच्छिन्ने**--जिसका विच्छेद (नाश) न हुआ हो ऐसे । वि√छिद्+क्त=विच्छिन्न, न विच्छिन्नः अविच्छिन्नः (न० त०), तस्मिन् । (२) **कण्ठगतप्राणम्**--जिसके प्राण कण्ठ में आ गये हैं, ऐसे । कण्ठं गताः कण्ठगताः (द्वि० त०), कण्ठगताः प्राणाः यस्य सः (ब० स०), तम् । श्लोक का भाव यह है कि यदि मैं इसके प्राण न बचा सकूँ तो विनाशशील शरीर से मुझे कोई लाभ नहीं है । अतएव इसकी प्राणरक्षा के द्वारा मुझे अपने जीवन को सफल बनाना है ॥११॥

तद् यावदुपसर्पामि ।

शङ्खचूडः--**अम्ब ! संस्तम्भयात्मानम् ।**

वृद्धा--**हा पुत्तअ ! जदा णाअलोज्जपरिरक्खएण वासुइणा परिच्चत्तोसि, तदा को दे अवरो परित्ताणं करिस्सदि ? (हा पुत्रक ! यदा नागलोकपरिरक्षकेण वासुकिना परित्यक्तोऽसि, तदा कस्ते अपरः परित्राणं करिष्यति ?)**

नायकः--[उपसृत्य] **नन्वहमहम् ।**

वृद्धा--[**नायकं दृष्ट्वा ससम्भ्रममुत्तरीयेण पुत्रकमाच्छाद्य नायकमुपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा**] **विणदाणंदण ! वावादेहि मं । अहं दे णाअराएण आहारणिमित्तं परिकप्पिदा । (विनतानन्दन ! व्यापादय मामहं ते नागराजेनाहारनिमित्तं परिकल्पिता ।)**

नायकः--[सास्रम्] **अहो ! पुत्रवात्सल्यम् !!**--

अस्या विलोक्य मन्ये पुत्रस्नेहेन विक्लवत्वमिदम् ।
अकरुणहृदयः करुणां कुर्वीत[1] भुजङ्गशत्रुरपि ।।१२।।

अन्वय—पुत्रस्नेहेन अस्याः इदं विक्लवत्वं विलोक्य मन्ये अकरुणहृदयः भुजङ्गशत्रुः अपि करुणां कुर्वीत ।।१२।।

व्याख्या--उपसर्पामि--समीपं गच्छामि । अम्ब--मातः, आत्मानं--हृदयं, संस्तम्भय--दृढीकुरु चित्ते धैर्यं धेहीत्यर्थः । पुत्रवात्सल्यं--सुतस्नेहः, अहो--आश्चर्यंकरम् ।

पुत्रस्नेहेन--सुतप्रेम्णा, अस्याः--वृद्धायाः, इदं--दृश्यमानं, विक्लवत्वम्--आकुलता, विलोक्य--दृष्ट्वा, मन्ये--जानामि, अकरुणहृदयः--निर्दयचित्तः, भुजङ्गशत्रुः--गरुडः, अपि, करुणां--दयां, कुर्वीत--विदधीत ।।१२।।

अनुवाद—इसलिए समीप जाता हूँ ।

शङ्खचूड--माता ! मन को रोको ।

वृद्धा--हाय बेटा ! जब नागलोक के रक्षक वासुकि ने तुम्हें त्याग दिया है तब दूसरा कौन रक्षा करेगा ?

नायक—[पास जाकर] अवश्य ही मैं (रक्षा करूँगा) ।

वृद्धा--[नायक को देखकर घबराहट में पुत्र को चादर से ढककर नायक के पास जाकर घुटने टेककर] गरुड जी ! मुझे मारिए, मुझे नागराज ने आपके आहार के निमित्त निश्चित किया है ।

नायक—[आँसू के साथ] अहा ! कैसा पुत्र-प्रेम है !!

पुत्र-प्रेम के कारण इसकी यह विकलता देखकर मैं समझता हूँ कि निर्दय चित्त वाला गरुड भी दया करेगा ।।१२।।

टिप्पणी—(१) संस्तम्भय--रोको अर्थात् प्रकृतिस्थ होओ । (२) ससम्भ्रमम्--घबराहट या हड़बड़ी के साथ । (३) विनतानन्दन--हे विनता के पुत्र, गरुड जी । (४) पुत्रवात्सल्यम्--पुत्र के प्रति प्रेम । वत्से कामः अस्यास्तीति वत्सलः वत्स+लच् 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति सूत्रेण । वत्सलस्य भावः वात्स-

---

१. करिष्यति ।

ल्यम् वत्सल+ष्यञ् । पुत्रे वात्सल्यम् पुत्रवात्सल्यम् (सुप्सुपास०) । (५) अकरुणहृदयः--निर्दय हृदय वाला । न विद्यते करुणा यस्य तत् अकरुणम् (नञ्बहुव्रीहि), अकरुणं हृदयं यस्य स अकरुणहृदयः (ब० स०) । (६) भुजङ्गशत्रुः--सर्पों का शत्रु, गरुड । श्लोक का भाव यह है कि भले ही गरुड क्रूर हो किन्तु इस वृद्धा की विकलता देखकर वह द्रवित हो जाएगा, ऐसी संभावना है ।१२।।

शङ्खचूडः-- अम्ब ! अलं त्रासेन ? न नागशत्रुः । पश्य--

महाहिमस्तिष्कविभेदमुक्तरक्तच्छटार्चितचण्डचञ्चुः ।

क्वासौ गरुत्मान् क्वच [1]सोमसौम्यस्वभावरूपाकृतिरेष साधुः ।।१३।।

अन्वय—महाहिमस्तिष्क.........चञ्चुः असौ गरुत्मान् क्व ? सोमसौम्यस्वभावरूपाकृतिः एष साधुः क्व ? ।।१३।।

व्याख्या—महाहिमस्तिष्क०—महतां दुर्विषहाणां स्थूलानां च अहीनां सर्पाणां मस्तिष्कविभेदेन शिरोविदारणेन मुक्ताः निर्गताः याः रक्तस्य रुधिरस्य छटाः धाराः ताभिः चर्चिते अक्षिते चण्डे च भयानके च चञ्चू त्रोटी यस्य तादृशः, असौ--सः, गरुत्मान्--गरुडः, क्व--कुत्र ? सोमसौम्यस्वभावरूपाकृतिः--स्वभावश्च प्रकृतिश्च रूपं च सौन्दर्यं च आकृतिश्च स्वरूपं च इति स्वभावरूपाकृतयः सोमवत् चन्द्रवत् सौम्याः स्वभावरूपाकृतयो यस्य तादृशः, एषः—अयं, साधुः—सज्जनः, क्व ? ।।१३।।

अनुवाद—शंखचूड--माता ! डर करना व्यर्थ है । ये गरुड नहीं हैं । देखो--

बड़े-बड़े सर्पों के मस्तकों के भेदन से उछलती हुई रक्त की धारा से लथपथ भयंकर चोंच वाला वह गरुड कहाँ ? और चन्द्रमा के समान सौम्य स्वभाव, रूप और आकृति वाले ये सज्जन कहाँ ? ।।१३।।

टिप्पणी--(१) अहि—साँप । 'भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः' इत्यमरः । (२) मस्तिष्क—मस्तक के भीतर का गूदा । यहाँ 'मस्तक' अर्थ करना युक्तिसंगत है । (३) चञ्चु--चोंच । 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियौ' इत्यमरः । इस श्लोक में दो

१. नाम ।

'क्व' शब्द का प्रयोग गरुड और प्रस्तुत सज्जन में महान् अन्तर सूचित करता है, अर्थात् गरुड जितना भयंकर है, प्रस्तुत सज्जन उतने ही सौम्य हैं। अतः यह गरुड है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। इसमें 'क्व' शब्द से द्योत्य विषमालंकार है, जिसका लक्षण है--'विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः। क्वेयं शिरीषमृद्वङ्गी क्व तावन्मदनज्वरः ।।' इसके पूर्वार्ध में ओज व्यञ्जक वर्णों की की संघटना तथा अनुप्रासप्रकर्ष भी है। उत्तरार्ध में सुकुमार वर्णों के औचित्य से तथा शब्दाडम्बर के त्याग से पतत्प्रकर्षता भी गुण ही है, दोष नहीं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है--'गर्भितत्वं गुणः क्वापि पतत्प्रकर्षता तथा।' इसमें उपजाति छन्द है ।।१३।।

वृद्धा---अहं क्खु तुज्झ मरणभीआ सव्वं जेव्व लोअं गलुडमअं पेक्खामि। (अहं खलु तव मरणभीता सर्वमेव लोकं गरुडमयं प्रेक्षे।)

नायकः---अम्ब ! मा भैषीः। नन्वयमहं विद्याधरस्त्वत्सुतसंरक्षणार्थमेवायातः।

वृद्धा---[सहर्षम्] पुत्तअ ! पुणो पुणो एव्वं भण। (पुत्रक ! पुनः पुनरेवं भण।)

नायकः---अम्ब ! किं पुनः पुनरभिहितेन ? ननु कर्मणैव सम्पादयामि।)

वृद्धा---[शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा] पुत्तअ ! चिरं जीअ। पुत्रक ! चिरं जीव।

नायकः---

ममैतदम्बार्पय वध्यचिह्नं प्रावृत्य यावद्विनतात्मजाय।
पुत्रस्य ते जीवितरक्षणाय स्वदेहमाहारयितुं ददामि ।।१४।।

अन्वय--अम्ब ! एतत् वध्यचिह्नं मम अर्पय, यावत् प्रावृत्य ते पुत्रस्य जीवितरक्षणाय विनतात्मजाय स्वदेहम् आहारयितुं ददामि ।।१४।।

व्याख्या--मा भैषीः--भयं न कुरु। अभिहितेन--उक्तेन।

अम्ब--मातः, एतत्--इदं, वध्यचिह्नं--रक्तांशुकयुगलं, मम--मह्यम्, अर्पय--देहि, यावत्, प्रावृत्य--(स्वदेहम्) आच्छाद्य, ते--तव, पुत्रस्य--सुतस्य, जीवितरक्षणाय--प्राणान् रक्षितुं, विनतात्मजाय--गरुडाय, स्वदेहं--निजशरीरम्, आहारयितुम्--भोजयितुं, ददामि--प्रयच्छामि ।।१४।।

अनुवाद--वृद्धा--मैं तुम्हारे मृत्यु से डरी हुई होने के कारण समस्त लोक को गरुडमय देखती हूँ ।

नायक--माता ! मत डरो । यह मैं विद्याधर तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिए ही आया हूँ ।

वृद्धा--[हर्ष के साथ] पुत्र ! बार-बार ऐसा कहो ।

नायक--माता ! बार-बार कहने से क्या लाभ ? मैं क्रिया रूप में ही परिणत कर देता हूँ ।

वृद्धा--[मस्तक पर हाथ जोड़कर] पुत्र ! चिर काल तक जीते रहो ।

नायक--माता--यह वध्य-चिह्न मुझे दे दो, जिससे (अपने अंगों को) ढककर मैं तुम्हारे पुत्र के जीवन की रक्षा करने के लिए गरुड को अपना शरीर खाने के लिए दे दूँ ।।१४।।

टिप्पणी--(१) मा भैषीः--डरो मत। यहाँ 'भैषीः' में√भी धातु से 'माङि लुङ' सूत्र से लुङ लकार हुआ और 'न माङ्योगे' सूत्र से अडागम का निषेध हो गया । (२) वध्यचिह्नम्--मारे जाने वाले का चिह्न, दोनों लाल वस्त्र । (३) मय अर्पय--मुझे दो । यहाँ अर्पण (दान) के योग में 'मम' में चतुर्थी होनी चाहिए थी, किन्तु 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इस नियम के अनुसार सम्बन्धमात्र की विवक्षा से षष्ठी हुई । अथवा स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक दान न होने से 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' की तरह चतुर्थी स्वतः भी नहीं होगी । इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।।१४।।

वृद्धा--[कर्णौं पिधाय] पडिहदं अमंगलं । तुमं पि संखचूडणिव्विसेसो पुत्तो । अहवा संखचूडादो वि अहिअअरो, जो एव्वं बंधुजणपरिच्चत्तं वि पुत्तअं मे सरीरपदाणेण रक्खिदुमिच्छसि । (प्रतिहतममङ्गलम् । त्वमपि शङ्खचूडनिर्विशेषः

पुत्रः, अथवा शङ्खचूडादप्यधिकतरः, य एवं बन्धुजनपरित्यक्तमपि पुत्रकं मे शरीरप्रदानेन रक्षितुमिच्छसि ।)

शङ्खचूडः—अहो ! जगद्विपरीतमस्य महासत्त्वस्य चरितम् । कुतः ?—

विश्वामित्रः श्वमांसं श्वपच इव पुराऽभक्षयद् यन्निमित्तं
नाडीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन ।
पुत्रोऽयं काश्यपस्य प्रतिदिनमुरगानत्ति ताक्ष्यों यदर्थं
प्राणांस्तानेष साधुस्तृणमिव कृपया यः परार्थं ददाति ।।१५।।

अन्वय—यन्निमित्तं पुरा विश्वामित्रः श्वपच इव श्वमांसम् अभक्षयत्, यत्कृते गौतमेन कृततदुपकृतिः नाडीजङ्घः निजघ्ने, यदर्थं काश्यपस्य पुत्रः अयं ताक्ष्यः प्रतिदिनम् उरगान् अत्ति, तान् प्राणान् यः एष साधुः परार्थं कृपया तृणम् इव ददाति (तत् चित्रम्) ।।१५।।

व्याख्या—अमङ्गलम्—अशुभम्, प्रतिहतं—नष्टं भवतु । शङ्खचूडनिर्विशेषः—शङ्खचूडतुल्यः । अहो—आश्चर्यद्योतकमव्ययमेतत्, महासत्त्वस्य महत् उदारं सत्त्वं स्वभावो यस्य तादृशस्य, चरितं—चरित्रं, जगद्विपरीतं—लोकविचक्षण् ।

यन्निमित्तं—यदर्थं येषां प्राणानां रक्षणार्थमित्यर्थः, पुरा—पूर्वकाले, विश्वामित्रः—कौशिकमुनिः, श्वपच इव—चाण्डाल इव, श्वमांसं—शुनः कुक्कुरस्य मांसम्, अभक्षयत्—भक्षितवान्, यत्कृते—यन्निमित्तं, गौतमेन—एतन्नामकेन केनचिद् ब्राह्मणेन, कृततदुपकृतिः—कृता विहिता तस्य उपकृतिः उपकारो येन तादृशः, नाडीजङ्घः—एतन्नामा कश्चिद् वकः, निजघ्ने—मारितः, यदर्थं—यन्निमित्तं, काश्यपस्य—काश्यपनाम्नः प्रजापतेः, पुत्रः—सुतः, अयं, ताक्ष्यः—गरुडः, प्रतिदिनं—प्रत्यहम्, उरगान्—सर्पान्, अत्ति—भक्षयति, तान्—सर्वथा रक्षणीयान्, प्राणान्—असून्, यः, एषः—अयं, साधुः—महात्मा, परार्थम्—अन्यार्थम्, कृपया—दयया, तृणम् इव—तृणवत्, ददाति—अर्पयति (तत् चित्रम्) ।।१५।।

अनुवाद—वृद्धा—[कानों को बंद करके] अमंगल नष्ट हो। तुम भी शंखचूड ही के समान मेरे पुत्र हो, अथवा शंखचूड से भी कहीं बढ़कर हो, जो इस प्रकार बन्धुजनों के द्वारा त्यागे गये भी मेरे पुत्र को शरीर देकर बचाना चाहते हो।

शंखचूड--अहा ! इस महानुभाव का चरित्र संसार से विपरीत है। क्योंकि--

जिन (प्राणों की रक्षा) के लिए प्राचीन काल में विश्वामित्र ने चाण्डाल की तरह कुत्ते का मांस खाया, जिनके लिए गौतम ने अपने उपकारी नाडीजंघ को मार डाला था और जिनके लिए काश्यप का पुत्र यह गरुड नित्य साँपों को खाता है, उन्हीं प्राणों को जो यह साधु पुरुष दूसरे के लिए दयावश तिनके के समान दे रहा है (यह आश्चर्य की बात है) ॥१५॥

टिप्पणी--(१) प्रतिहतममङ्गलम्--अमंगल का नाश हो अर्थात् ऐसी अशुभ बात न कहो। (२) शङ्खचूडनिर्विशेषः--शंखचूड की तरह। निःनास्ति विशेषः भेदः यस्य स निर्विशेषः सदृशः, शङ्खचूडेन निर्विशेषः (सुप्सुपास०)। (३) महासत्त्वस्य--उदार स्वभाव वाले या महान् शक्तिशाली का। 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति मेदिनी। (४) विश्वामित्रः--एक गाधिपुत्र सुप्रसिद्ध ऋषि। यहाँ 'मित्रे चर्षौ' सूत्र से 'विश्व' को दीर्घ हो जाने के कारण 'विश्वा' हुआ। (५) श्वपच इव--चाण्डाल की तरह। 'चाण्डालप्ल-वमातङ्गदिवाकीर्तिजनङ्गमाः। निषादश्वपचौ' इत्यमरः। (६) श्वमांसम् अभक्षयत्--कुत्ते का मांस खाया। महाभारत में कथा आयी है कि एक बार बड़ा अकाल पड़ा। खाद्य पदार्थ का मिलना असंभव हो गया। विश्वामित्र ऋषि को एक दिन जब खाने के लिए कुछ नहीं मिला तो रात को वे एक चाण्डाल के घर घुस गये और कुत्ते के मांस को चुराकर खाने लगे। शब्द सुनकर चाण्डाल जग गया। उसने ऋषि को पहचानकर धर्मशास्त्र की दुहाई दे मांस खाने से रोकना चाहा, परन्तु आपद्धर्म का रहस्य समझाकर विश्वामित्र ने वह मांस खाया और अपने प्राणों की रक्षा की--जीवितात्ययमापन्नो योऽन्न-मत्ति यतस्ततः। आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥ (मनु० १०, १०४)। क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागात् विश्वामित्रः श्वजाघनीम्। चाण्डालहस्तादा-दाय धर्माधर्मविचक्षणः॥ (मनु० १०, १०८)। (७) नाडीजङ्घ--नाडीजंघ नाम का बगुला। महाभारत के अनुशासन पर्व में एक कथा है कि गौतम नाम का कोई ब्राह्मण बड़ा निर्धन था। धनोपार्जन के लिए वह बाहर निकला। उसे नाड़ीजंघ नामक बगुलों के राजा से भेंट हुई। नाड़ीजंघ बड़ा उपकारी

था। ब्राह्मण की निर्धन दशा देख उसे दया आई और उसने गौतम को अपने मित्र विरूपाक्ष के पास भेजा। विरूपाक्ष ने ब्राह्मण को बड़ी सम्पत्ति दी। धन लेकर जब ब्राह्मण वापस आया तो नाडीजंघ के पास ठहरा। ब्राह्मण बड़ा भूखा था। उसने क्या किया कि रात को जब नाड़ीजंघ सो गया, तो उसे ही मारकर खा गया। यद्यपि कृतघ्न गौतम को पश्चात् विरूपाक्ष ने मार डाला, पर अन्याय से भी प्राण बचाने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है। (८) काश्यपस्य--काश्यप नामक प्रजापति का। (९) तार्क्ष्यः--गरुड। 'तुरङ्गगरुडौ तार्क्ष्यौ' इत्यमरः।

इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है ॥१५॥

[नायकमुद्दिश्य] भो-महासत्त्व! त्वया दर्शिता एवात्मप्रदानव्यवसायान्निर्व्याजा मयि कृपालुता। तदलमनेन निर्बन्धेन। पश्य—

जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशाः[1] क्षुद्रजन्तवः।
परार्थे बद्धकक्षाणां[2] त्वादृशामुद्भवः कुतः ॥१६॥

अन्वय--मादृशाः क्षुद्रजन्तवः जायन्ते च म्रियन्ते, च परार्थे बद्धकक्षाणां त्वादृशाम् उद्भवः कुतः? ॥१६॥

व्याख्या--भो महासत्त्व--हे उदाराशय, आत्मप्रदानव्यवसायात्--आत्मनः देहस्य प्रदानम् अर्पणं तस्य व्यवसायः चेष्टा तस्मात्, निर्व्याजा--निष्कपटा, दयालुता--करुणा, दर्शिता--प्रकटिता। निर्बन्धेन--स्वशरीरार्पणाभिनिवेशेन, अलम्--मा कुरु इत्यर्थः।

मादृशाः--मत्सदृशाः, क्षुद्रजन्तवः--तुच्छप्राणिनः, जायन्ते--उत्पद्यन्ते, च--तथा, म्रियन्ते--विलीयन्ते, च--किन्तु परार्थे--परप्रयोजनाय, बद्धकक्षाणां--बद्धपरिकराणां, त्वादृशां--तव तुल्यानां (साधूनाम्), उद्भवः--प्रादुर्भावः, कुतः भवतीति शेषः? ॥१६॥

अनुवाद--[नायक को लक्ष्य करके] हे महान् उदार! आपने (अपना)

---

१ मद्विधाः। २ दत्तदेहानां।

शरीर देने के निश्चय से मुझ पर निश्छल दयालुता प्रकट कर दी। इसलिए हठ करना व्यर्थ है। देखिए--

मेरे जैसे क्षुद्र प्राणी उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, किन्तु दूसरे के प्रयोजन के लिए कमर कसे हुए आप-जैसों की उत्पत्ति कहाँ होती है? ।।१६।।

टिप्पणी--(१) आत्मप्रदानव्यवसायात्--अपने आपको दे डालने के निश्चय या चेष्टा से। (२) निर्व्याजा--निष्कपट। निः नास्ति व्याजः यस्यां सा (ब० स०)। (३) निर्बन्धेन--हठ। (४) मादृशाः--मेरे जैसे। माम् इव पश्यन्ति जनाः इति मादृशाः अस्मद्√दृश्+कञ्, अस्मद् को म आदेश, आत्व। (५) बद्धकक्षाणाम्--कमर कसे हुए, समुद्यत। श्लोक का भाव यह है कि सुलभ जन्म-मरण वाले मेरे लिए दुर्लभ उत्पत्ति वाले आपको प्राणत्याग नहीं करना चाहिए। क्षेमेन्द्ररचित अवदानकल्पलता के क्षेमेन्द्रपुत्र-सोमेन्द्र-कृत अन्तिम जीमूतवाहन नामक अवदान में इसी भाव को निम्नलिखित पद्य में विशद रूप से निबद्ध किया है--

'भवन्ति नित्यं भवकाननेऽस्मिन्नस्मद्विधाः काशपलाशतुल्याः।
भवद्विधस्यामृतसोदरस्य न पारिजातस्य पुनः प्रसूतिः' ।।१६।।

तत्--किमनेन निर्बन्धेन? मुच्यतामयमध्यवसायः।

नायकः--शङ्खचूड! न मे चिराल्लब्धावसरस्य परार्थसम्पादनमनोरथस्यान्तरायं कर्तुमर्हसि। तदलं विकल्पेन। दीयतामेतद् वध्यचिह्नम्।

शङ्खचूडः--भो महासत्त्व! किमनेन वृथात्मायासेन? न खलु शङ्खधवलं शङ्खपालकुलं शङ्खचूडो मलिनीकरिष्यति। यदि ते वयमनुकम्पनीयाः, तदियमस्मद्विपत्तिविक्लवा न यथा जीवितं जह्यात्, तथाभ्युपायश्चिन्त्यताम्।

नायकः--किमत्र चिन्त्यते? चिन्तित एवाभ्युपायः स तु त्वदायत्तः।

शङ्खचूडः--कथमिव?

नायकः--

म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥१७॥

अन्वय—या त्वयि म्रियमाणे म्रियते, त्वयि जीवति जीवति, तां यदि जीवन्तीम् इच्छसि, (तर्हि) मम असुभिः आत्मानं रक्ष ॥१७॥

व्याख्या—चिरात्—दीर्घंकालानन्तरं, लब्धावसरस्य—लब्धः प्राप्तः अवसरः समयः येन यस्य वा तादृशस्य, परार्थसम्पादनमनोरथस्य—परार्थस्य अन्यदीय-प्रयोजनस्य सम्पादनं साधनं तद्रूपः मनोरथः अभिलाषः तस्य, अन्तरायं—विघ्नं कर्तुं विधातुम्, अर्हसि—योग्यो भवसि । विकल्पेन—युक्तायुक्तविचारविलम्बेनेत्यर्थः, अलं—व्यर्थम् । शङ्खधवलं—शङ्खवत् शुभ्रं, शङ्खपालकुलं—शङ्खपालो नाम मुख्यानां नवनागानामन्यतमः तस्य कुलं वंशः तत् ।

या—तव माता, त्वयि—शङ्खचूडे, म्रियमाणे—प्राणत्यागं कुर्वति सति, म्रियते—असून् त्यजति, त्वयि, जीवति—प्राणधारणं कुर्वति सति, जीवति—प्राणान् धारयति, तां—स्वमातरं, यदि—चेत्, जीवन्तीं—प्राणधारणं कुर्वन्तीम्, इच्छति—वाञ्छसि, (तर्हि, मम—मे, असुभिः—प्राणैः, आत्मानं—स्वं, रक्ष—त्रायस्व ॥१७॥

अनुवाद—इसलिए इस हठ से क्या लाभ ? इस निश्चय को त्याग दो।

नायक—शङ्खचूड ! बहुत दिनों के बाद अवसर को पाये हुए, दूसरे के प्रयोजन सिद्ध करने रूप मनोरथ में विघ्न डालना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। इसलिए सन्देह या आगा-पीछा करने की आवश्यकता नहीं । यह वध्य-चिह्न दे दो।

शङ्खचूड—हे महान् उदार ! अपने को व्यर्थ कष्ट देने से क्या लाभ ? शंख के समान उज्ज्वल शंखपाल के वंश को शंखचूड मलिन नहीं करेगा। यदि हम पर आपकी कृपा है तो हमारी विपत्ति से व्याकुल यह (मेरी माता) जिससे प्राणत्याग न करे वैसा उपाय सोचिए ।

नायक—इसमें सोचना क्या है ? उपाय सोचा ही हुआ है । वह भी तुम्हारे अधीन है ।

शंखचूड—कैसे ?

नायक—जो तुम्हारे मर जाने पर मर जाएगी और तुम्हारे जीते रहने पर जीवित रहेगी, उसे यदि जीवित रखना चाहते हो तो मेरे प्राणों से अपनी रक्षा करो ।।१७।।

टिप्पणी—(१) निर्बन्धेन—हठ या दुराग्रह । (२) अध्यवसायः—निश्चय । (३) परार्थसम्पादनमनोरथस्य—दूसरे के प्रयोजन सिद्ध करने के मनोरथ का अथवा० सिद्ध करने रूप मनोरथ का । (४) अन्तरायम्—विघ्न । (५) शङ्खपालकुलम्—शंखपाल के वंश को । शंखपाल नौ प्रमुख नागों में से अन्यतम माना गया है—'अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मनाभं च कम्बलम् । धृतराष्ट्रं शंखपालं तक्षकं कालियं तथा ।।' कहते हैं कि प्रतिदिन सायं प्रातः इन नौ नागों के नाम लेने से विष का भय नहीं होता है। (६) अस्मद्विपत्तिविक्लवा—मेरे विनाश से व्याकुल । (७) त्वदायत्तः—तुम्हारे अधीन या तुम पर अवलम्बित । (८) म्रियमाणे—मरते हुए अर्थात् मर जाने पर। (९) असुभिः=प्राणों से । 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इत्यमरः ।।१७।।

अयमभ्युपायः । तदर्पय त्वरितं वध्यचिह्नं, यावदनेनात्मानं प्रच्छाद्य वध्यशिलामारोहामि । त्वमपि जननीं पुरस्कृत्य अस्माद् देशान्निवर्तस्व । कदाचिदम्बा अवलोक्य सन्निकृष्टं घातस्थानं स्त्रीस्वभावकातरत्वेन जीवितं जह्यात् । किं न पश्यति भवानिदं विपन्नपन्नगानेककङ्कालसङ्कुलं महाश्मशानम् ?

तथाहि—

चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्धच्युतपिशितलवग्रासंवृद्धगर्द्धै-
र्गृध्रैरारब्धपक्षद्वितयविधुतिभिर्बद्धसान्द्रान्धकारे ।
वक्त्रोद्वान्ताः पतन्त्यश्छमिति[1] शिखिशिखाश्रेणयोऽस्मिन् शिवाना-
मस्रस्रोतस्यजस्रस्रुतिबहलवसावासविस्रे स्वनन्ति ।।१८।।

अन्वय—चञ्चच्चञ्चू......गर्द्धैः आरब्धपक्षद्वितयविधुतिभिः गृध्रैः बद्धसान्द्रान्धकारे अस्मिन् शिवानां वक्त्रोद्वान्ताः पतन्त्यः शिखिशिखाश्रेणयः अजस्रस्रुतिबहलवसावासविस्रे अस्रस्रोतसि छम् इति स्वनन्ति ।।१८।।

---

१ शमित० ।

व्याख्या—अम्बा—माता, सन्निकृष्टं समीपस्थम्, आघातस्थानं—वध्यभूमिम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, स्त्रीस्वभावकातरत्वेन—स्त्रीस्वभावसुलभेन कातरत्वेन भयाकुलतया, प्राणान्—जीवितं, जह्यात्—त्यजेत् । विपन्नपन्नगानेकङ्कालसङ्कुलं—विपन्ननानां गरुडेन भक्षितानां पन्नगानां सर्पाणाम् अनेकैः बहुभिः कङ्कालैः अस्थिपञ्जरैः सङ्कुलं व्याप्तम्, महाश्मशानं—महतीं वध्यभूमिम् ।

चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्धच्युतपिशितलवग्राससंवृद्धगर्धैः—चञ्चन्त्या (भोजनान्वेषणाय) इतस्ततो भ्रमन्त्या चञ्च्वा त्रोट्या उद्धृतस्य निःसारितस्य अर्धच्युतस्य (चञ्चुचाञ्चल्येन) अर्धमार्गे परिभ्रष्टस्य पिशितलवस्य मांसखण्डस्य ग्रासे पुनरादाने संवृद्धा प्ररूढा गर्धा स्पृहा येषां तादृशैः, आरब्धपक्षद्वितयविधुतिभिः—आरब्धाः उपक्रान्ताः पक्षद्वितयस्य पक्षद्वयस्य विधुतयः इतस्ततश्चलनानि यैः तादृशैः, गृध्रैः, बद्धसान्द्रान्धकारे—बद्धः कृतः सान्द्रः गाढतमः अन्धकारः तिमिरं यस्मिन् तथाभूते, अस्मिन्—महाश्मशाने, शिवानां—शृगालीनां, वक्त्रोद्वान्ताः—वक्त्रेभ्यः मुखेभ्यः उद्वान्ताः गलिताः, पतन्त्यः—पतनं कुर्वन्त्यः, शिखिशिखाश्रेणयः—शिखिनः वह्नेः शिखानां ज्वालाङ्कुराणां श्रेणयः पंक्तयः, अजस्रस्रुतिबहलवसावासविस्रे—अजस्रं निरन्तरं स्रुतया क्षरितया बहलया सान्द्रया वसया मेदसा यः वासः गन्धसंस्काराधानं तेन विस्रे आमदुर्गन्धयुक्ते, अस्रस्रोतसि—रुधिरधारायां, छम् इति स्वनन्ति—छम्-छम् इति शब्दं कुर्वन्ति ।।१८।।

अनुवाद—यह उपाय है । इसलिए शीघ्र वध्यचिह्न दे दो, जिससे कि मैं इससे अपने को ढककर वध्यशिला पर चढ़ जाऊँ । तुम भी माता को आगे करके इस स्थान से लौट जाओ । (नहीं तो) कदाचित् माता निकटवर्ती वधस्थान को देखकर स्त्री-स्वभाव की भीरुता के कारण प्राण छोड़ देगी । क्या आप मरे हुए सांपो के अनेक अस्थिपञ्जरों से व्याप्त इस महाश्मशान को नहीं देख रहे हैं ? जैसे कि—

चलती हुई चोचों से उठाये गये पर (चोंच की चंचलता के कारण) आधे रास्ते में गिरे हुए मांस के टुकड़ों को खाने के लिए बड़ी भारी तृष्णा रखने वाले तथा (अपने) दोनों पंखों की फड़फड़ाहट आरंभ करने वाले गीधों द्वारा घोर अंधकार से आच्छादित इस (महाश्मशान) में शृगालियों के मुख से वमन

की गई गिरती हुई अग्निज्वालायें निरन्तर टपकती हुई घनी चर्बी के संसर्ग से दुर्गन्ध वाली रक्त की धारा में छम् छम् शब्द कर रही है।।१८।।

टिप्पणी--(१) **पुरस्कृत्य**--आगे करके। पुरस्√कृ+क्त्वा--ल्यप्। यहाँ 'पुरोऽव्ययम्' सूत्र से गतिसंज्ञा तथा 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से गतिसमास हुआ है। (२) **सन्निकृष्टम्**--समीपस्थ। सम्-नि√कृष्+क्त। (३) **घातस्थानम्**--वध-स्थान को। (४) **स्त्रीस्वभावकातरत्वेन**--स्त्री-स्वभाव के भीरु होने के कारण। (५) **विपन्नपन्नगानेककङ्कालसङ्कुलम्**--मरे हुए सर्पों के अनेकों अस्थि-पञ्जरों से व्याप्त। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः। 'स्याच्छरीरास्थिकङ्कालः' इत्यमरः। (६) **चञ्चत्.....गर्द्धैः**--चलती या फड़कती हुई चोंच से उठाये गये और बीच मार्ग में या आधे भाग में से गिरे हुए मांस के टुकड़े को पकड़कर खाने को लोलुप। (७) **आरब्धपक्षद्वितयविधूतिभिः**--दोनों पंखों को फड़फाने वाले। (८) **बद्धसान्द्रान्धकारे**--जहाँ घना अन्धकार किया गया है ऐसे। यह 'अस्मिन् (महाश्मशाने)' का विशेषण है। (९) **शिवानाम्**--सियारिनों की। 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः। शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः। (१०) **वक्त्रोद्वान्ताः**--मुख से उगली गई। (११) **शिखिशिखाश्रेणयः**--अग्नि की लपटों की पंक्तियाँ। 'शिखी वह्नौ बलीवर्दे' इति मेदिनी। कहते हैं कि शिवायें अग्निमुख होती हैं। इसी लिए कवि ने सियारिनों के मुख से गिरती हुई अग्निज्वालाओं का वर्णन किया है। (१२) **अजस्रस्रुतिबहलवसावासविस्रे**--निरन्तर झड़ती हुई घनी चर्बी के संसर्ग से दुर्गन्ध वाली। 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः। (१३) **अस्रस्रोतसि**--रक्त की धार में। 'रुधिरेऽसृक्लोहितास्ररक्तक्षतजशोणितम्' इत्यमरः। (१४) **छम् इति स्वनन्ति**--छम् छम् शब्द कर रही हैं। जल में अग्नि के छम् या छन की आवाज होती है। यह अनुकरणार्थक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

इस श्लोक में बीभत्स रस है, जिसका लक्षण है--'जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः। नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः।। दुर्गन्धमांसपिशिशितमेदांस्यालम्बनं मतम्। तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्।। निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादयः। अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः। मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः।।' (साहित्यदर्पण)। इस बीभत्स में

विकट संघटना से और सरेफ संयुक्त वर्णों से व्यञ्जित ओज गुण की अधिकता है। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥१८॥

शङ्खचूडः--कथं न पश्यामि ?--

प्रतिदिनमशून्यमहिनाहारेण विनायकाहितप्रीति ।
शशिधवलास्थिकपालं वपुरिव रौद्रं श्मशानमिदम् ॥१९॥

अन्वय--प्रतिदिनम् आहारेण अहिना अशून्यं विनायकाहितप्रीति शशिधवलास्थिकपालम इदं श्मशानं रौद्रं वपुः इव ॥१९॥

व्याख्या--प्रतिदिनं--नित्यम्, आहारेण--गरुडस्य भोजन-भूतेन, अहिना--सर्पेण, अशून्यं--युक्तं, विनायकाहितप्रीति--वीनां पक्षिणां नायकस्य नेतुः गरुडस्येत्यर्थः आहिता समुत्पादिता प्रीतिः सन्तोषः येन तथाविधं, शशिधवलास्थिकपालं--शशिवत् चन्द्रवत् धवलानि शुभ्राणि अस्थिकपालानि यस्मिन् तथाभूतं शशिशुभ्रैः अस्थिभिः नरकपालैश्च युक्तमित्यर्थः, इदम्--एतत्, श्मशानं--पितृवनं, रौद्रं--महादेवसम्बन्धि, वपुः--शरीरम्, इव--यथा (दृश्यते) [महादेवपक्षे अहिनाहारेण--हारभूतेन अहिना सर्पेण, अशून्यं--युक्तम्, विनायकाहितप्रीति--विनायकस्य गणेशस्य आहिता समुत्पादिता प्रीतिः सन्तोषः येन तादृशं, शशिधवलास्थिकपालम्--शशिना शिवस्य ललाटस्थितया चन्द्रकलया धवलानि शुभ्राणि (धार्यमाणानि) कपालास्थीनि यत्र तादृशम्, रौद्रं--रुद्रस्य हरस्य इदं रौद्रम्] ॥१९॥

अनुवाद--शंखचुड--क्यों नहीं देखता हूँ ?

प्रतिदिन (गरुड के) आहार बने हुए सांप से युक्त, पक्षियों के नेता (गरुड) को प्रीति देने वाला और चन्द्रमा के समान उजली हड्डियों तथा खोपड़ियों से युक्त यह श्मशान शंकर का शरीर जैसा दीख रहा है (शंकर-पक्ष में--हार रूप सांप से युक्त, गणेश को प्रीति देने वाला और चन्द्रमा तथा धवल नर-कपालों से युक्त रुद्र का शरीर) ॥१९॥

टिप्पणी--(१) प्रतिदिनम्--नित्यप्रति । दिने दिने इति प्रतिदिनम् (अव्ययीभावस०) । (२) विनायकाहितप्रीति--(१) गरुड को प्रसन्न करने वाला, (२) गणेश को प्रसन्न करने वाला । 'विनायकस्तु हेरम्बे तार्क्ष्ये विघ्ने

जिने गुरौ' इति मेदिनी । रौद्रम्---(१) रुद्र (शिव) सम्बन्धी, (२) भयानक । इस श्लोक में विनायक आदि पदों के उभयार्थक होने से श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलंकार है । इसमें आर्या छन्द है ॥१९॥

नायकः---शङ्खचूड ! तद् गच्छ, किमेभिः सामोपन्यासैः ?

शङ्खचूडः---आसन्नः खलु गरुडस्यागमनसमयः ।

[मातुरग्रतो जानुभ्यां स्थित्वा] अम्ब ! त्वमपि निवर्तस्वेदानीम् ।---

समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्यां यस्यां गतौ वयम् ।
तस्यां तस्यां प्रियसुते माता भूयास्त्वमेव नः ॥२०॥

[पादयोः पतति]

अन्वय--मातः ! यस्यां यस्यां गतौ वयं समुत्पत्स्यामहे तस्यां तस्यां प्रियसुते ! त्वम् एव नः माता भूयाः ॥२०॥

व्याख्या--सामोपन्यासैः--सानुनयवचनैः । आसन्नः---निकटवर्ती ।

मातः--अम्ब, यस्यां, यस्यां, गतौ--योनौ, वयं, समुत्पत्स्यामहे--जन्मग्रहणं करिष्यामः, तस्यां, तस्यां, प्रियसुते--प्रियः हृद्यः सुतः पुत्रः यस्याः तत्सम्बोधने, त्वम्, एव, नः---अस्माकं, माता---जननी, भूयाः ॥२०॥

अनुवाद---नायक---शंखचूड ! इसलिए जाओ, इन विनीत वचनों से क्या लाभ ?

शंखचूड---गरुड के आने का समय निकट है। [माता के आगे घुटने टेककर] माता ! अब तुम भी लौट जाओ।

माता ! जिस-जिस योनि में मैं जन्म ग्रहण करूँ, उस-उस (योनि) में, हे प्रिय पुत्र वाली ! तुम्हीं मेरी माता बनो ॥२०॥

[पैरों पर गिर पड़ता है]

टिप्पणी---(१) सामोपन्यासैः---अनुनय-विनय या समझाने-बुझाने की बातों से । (२) गतौ---योनि में । (३) समुत्पत्स्यामहे---जन्म लें । यहाँ 'अस्मदो द्वयश्च' सूत्र से एकवचन की विवक्षा में भी बहुवचन हुआ है। (४)

प्रियसुते—पुत्र को (अत्यधिक) प्रिय समझने वाली। (५) भूयाः—होओ, बनो; अत्र प्रार्थनायाम् आशीर्लिङ ॥२०॥

वृद्धा—[सास्रम्] कहं पच्छिमं से वअणं ? पुत्तअ ! ण क्खु तुमं उज्झिअ मे पाआ अण्णदो वहंति। इह ज्जेव तुए सह चिट्ठिस्सं। (कथमस्य पश्चिमं वचनम् ? पुत्रक ! न खलु त्वामुज्झित्वा मे पादावन्यतो वहतः। तदिहैव त्वया सह स्थास्यामि।)

शङ्खचूडः—[उत्थाय] यावदहमप्यदूरे भगवन्तं दक्षिणगोकर्णं प्रदक्षिणीकृत्य स्वाम्यादेशमनुतिष्ठामि।

[उभौ निष्क्रान्तौ]

नायकः—कष्टम्। न सम्पन्नमभिलषितम्। तत् कोऽत्राभ्युपायः।

कञ्चुकी—[तरसा प्रविश्य] इदं वासोयुगम्।

नायकः—[दृष्ट्वा सहर्षमात्मगतम्] दिष्ट्या सिद्धमभिवाञ्छितमनेन अतर्कितोपनतेन रक्तांशुकयुगलेन।

कञ्चुकी—इदं वासोयुगं देव्या मित्रावसुजनन्या कुमाराय प्रेषितम्, तदेतत् परिधत्तां कुमारः।

नायकः[सादरम्] उपनय।

कञ्चुकी—[उपनयति]

नायकः—[गृहीत्वा आत्मगतम्] सफलीभूतो मे मलयवत्याः पाणिग्रहः। [प्रकाशम्] कञ्चुकिन् ! गम्यतां, मद्वचनादभिवादनीया देवी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः। [इति निष्क्रान्तः]

नायकः—

वासोयुगमिदं रक्तं प्राप्ते काले समागतम्।
महतीं प्रीतिमाधत्ते परार्थे देहमुज्झतः ॥२१॥

अन्वय—प्राप्ते काले समागतम् इदं रक्तं वासोयुगं परार्थे देहम् उज्झतः महतीं प्रीतिम् आधत्ते ॥२१॥

व्याख्या--पश्चिमम्--अन्तिमं, वचनं--वाक्यम्। उज्झित्वा--त्यक्त्वा। अदूरे--समीपे, दक्षिणगोकर्णं--गोकर्णाख्यं शिवलिङ्गम्। तरसा--वेगेन। वासोयुगं--वस्त्रद्वयम्। दिष्ट्या--सौभाग्येन, अतर्कितोपनतेन--अतर्कितम् अचिन्तितम् उपनतम् उपस्थितं तेन, रक्तांशुकयुगलेन--रक्तवस्त्रद्वयेन, अभिवाञ्छितं--मनोरथः, सिद्धं--सफलीभूतम्। पाणिग्रहः--विवाहः।

प्राप्ते काले--उचिते समये, समागतम्--आयातम्, इदम्--एतत्, रक्तं, वासोयुगं--वस्त्रद्वयं, परार्थे--अन्यस्य जीवितरक्षणाय, देहं--शरीरम्, उज्झतः--त्यजतः, महतीं--समधिकां प्रीतिम्--आनन्दम्, आधत्ते--ददाति ॥२१॥

अनुवाद--वृद्धा--[आँसू के साथ] क्या यह इसका अन्तिम वचन है। पुत्र! तुम्हें छोड़कर मेरे पैर दूसरी ओर नहीं उठ रहे हैं। इसलिए यहीं तुम्हारे साथ रहूँगी।

शंखचूड--[उठकर] तब तक मैं भी समीप ही में भगवान् दक्षिण गोकर्ण की प्रदक्षिणा करके स्वामी की आज्ञा का पालन करूँ।

[दोनों चले जाते हैं]

नायक--कष्ट की बात है। मनोरथ पूरा नहीं हुआ। तो यहाँ कौन-सा उपाय है।

कञ्चुकी--[वेग के साथ प्रवेश करके] यह जोड़ा वस्त्र है।

नायक--[देखकर हर्ष के साथ मन में] भाग्यवश विना चिन्ता किये लाये गये इन दोनों लाल वस्त्रों से अभीष्ट सिद्ध हो गया।

कंचुकी--यह जोड़ा वस्त्र रानी मित्रावसु की माता ने कुमार (आप) के लिए भेजा है, इसलिए कुमार इसे पहनें।

नायक--[आदर के साथ] लाओ।

कंचुकी--[पास ले जाता है]

नायक--[लेकर मन में] मलयवती के साथ मेरा विवाह सफल हो गया। [प्रकट रूप से] कञ्चुकी! जाइए, मेरी ओर से देवी से मेरा अभिवादन कहना।

कञ्चुकी--कुमार की जो आज्ञा। [यह कहकर चला गया]।

नायक––उचित समय पर आया हुआ यह जोड़ा वस्त्र दूसरे के प्रयोजन के लिए शरीर को त्यागते हुए मुझे बड़ा आनन्द दे रहा है ।।२१।।

टिप्पणी––(१) **पश्चिमम्**––अन्तिम । (२) **दक्षिणगोकर्णम्**––दक्षिण के गोकर्ण शिवलिंग की । दक्षिण समुद्र के तट पर मालाबार में 'गोकर्णमहाबलेश्वर' नाम से प्रसिद्ध शिवलिंग है । भागवत में इस शिवलिंग का उल्लेख है ––'गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः' । कालिदास ने भी रघुवंश में गोकर्णेश्वर का नामनिर्देश किया है––'अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्' (३) **अतर्कितोपनतेन**––बिना सोचे एकाएक प्राप्त हुए । (४) **प्राप्ते काले**––ठीक समय पर । (५) **महतीं प्रीतिमाधत्ते**—अत्यधिक आनन्द दे रहा है ।।२१।।

[दिशोऽवलोक्य] यथायं चलितमलयाचलशिखरशिलासञ्चयः प्रचण्डो नभस्वान्, तथा तर्कयामि, आसन्नीभूतः खलु पक्षिराज इति । तथाहि––

तुल्याः संवर्तकाभ्रैः पिदधति गगनं पंक्तयः पक्षतीनां
[1]तीरं वेगान्निरस्तं[2] क्षिपति भुव इव प्लावनायाम्बु सिन्धोः[3] ।
कुर्वन् कल्पान्तशङ्कां सपदि च सभयं वीक्षितो दिग्द्विपेन्द्रै-
र्देहोद्योतैर्दशाशाः कपिशयति[4] मुहुर्द्वादशादित्यदीप्तिः ।।२२।।

अन्वय—संवर्तकाभ्रैः तुल्याः पक्षतीनां पङ्क्तयः गगनं पिदधति, वेगात् निरस्तं सिन्धोः अम्बु भुवः प्लावनाय इव तीरं क्षिपति, च कल्पान्तशङ्कां सपदि कुर्वन् दिग्द्विपेन्द्रैः सभयं वीक्षितः द्वादशादित्यदीप्तिः देहोद्योतैः दश आशाः मुहुः कपिशयति ।।२२।।

व्याख्या—चलितमलयाचलशिखरशिलासञ्चयः––चलितः कम्पितः मलयाचलस्य मलयपर्वतस्य शिखरेषु शृङ्गेषु शिलासञ्चयः प्रस्तरसमूहो येन तादृशः, प्रचण्डः––भयानकः, नभस्वान्––वायुः, तर्कयामि—सम्भावयामि, पक्षिराजः—गरुडः, आसन्नीभूतः—समीपवर्ती जात इति शेषः ।

---

१. तीरे । २. वेगानिलोऽम्भः । ३. ० राशेः । ४. शिशु० ।

संवर्तकाभ्रैः--प्रलयकालिकमेघैः, तुल्याः—सदृश्यः, पक्षतीनां--पक्षमूलानां, पङ्क्तयः--श्रेणयः, गगनम्--आकाशम्, पिदधति--आच्छादयन्ति, वेगात्--रयसः, निरस्तं--स्वस्थानादुत्थापितं, सिन्धोः--समुद्रस्य, अम्बु--जलं, भुवः प्लावनाय—सम्पूर्णां पृथ्वीं स्वस्मिन् निमज्जयितुम्, इव--यथा, तीरं--तट-प्रदेशं, क्षिपति--आक्रामति, च—तथा, कल्पान्तशङ्कां--कल्पान्तस्य प्रलयस्य शङ्कां सम्भावनां, सपदि--शीघ्रं, कुर्वन्--उत्पादयन्, दिग्द्विपेन्द्रैः--दिग्गजैः, सभयं--शङ्कासहितं, वीक्षितः--अवलोकितः, द्वादशादित्यदीप्तिः—द्वादशा-दित्यानां प्रलये समुदितानां द्वादशानां सूर्याणां दीप्तिः प्रकाशः इव दीप्तिः यस्य तथाभूतः, देहोद्योतैः--शरीरकान्तिभिः, दश, आशाः—दिशः, मुहुः—पुनः कपिशयति—ईषत्पीताभाः, करोति ।।२२।।

अनुवाद--[चारों ओर देखकर] मलयाचल की चोटी पर के शिला-समूह को कम्पित करने वाला प्रचण्डवायु जैसे चल रहा है, उससे मैं अनुमान करता हूँ कि गरुड समीप आ गया । क्योंकि--

प्रलयकाल के बादलों के समान पंखों की पंक्तियाँ आकाश को ढक रही हैं, वेग से उछाला गया समुद्र का जल पृथ्वी को बहाने के लिए मानो तट पर आक्रमण कर रहा है और प्रलयकाल की शंका को शीघ्र उत्पन्न करता हुआ, दिग्गजों द्वारा भयपूर्वक देखा गया तथा बारह सूर्यों की जैसी कान्ति वाला (गरुड अपने) शरीर की कान्तियों से दसो दिशाओं को पुनः पीला बना रहा है ।।२२।।

टिप्पणी --(१) नभस्वान्--वायु । 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः। (२) आसन्नीभूतः--पास पहुँचा हुआ । अनासन्नः आसन्नो जातः इति आसन्नीभूतः आसन्न+च्वि, ईत्व√भू+क्त। (३) संवर्तकाभ्रैः—प्रलयकाल के मेघ । 'संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि' इत्यमरः । 'अभ्रं मेघो वारि-वाहः, इत्यमरः। (४) पक्षतीनाम्--पक्ष-मूलों, फैले हुए पंखों की । 'पक्षतिस्तु भवेत् पक्षमूले च' इति मेदिनी। (५) पिदधति--ढक रही हैं। अपि√धा (जुहोत्यादि)+लट् (प्र०पु०ब०), भागुरिमतेन अपेः अकारस्य लोपः । (६) निरस्तम्--उछाला गया।(७) सिन्धोः अम्बु--समुद्र का जल ।(८) भुवः प्लाव-नाय--पृथ्वी को डुबो देने के लिए। (९) कल्पान्तशङ्काम्--कल्प की समाप्ति

की शंका को । ३६० मानव वर्ष=१ दिव्य (देव) वर्ष । १२००० दिव्य वर्ष=१ तम या महायुग (चतुर्युग) । ७१तम=१ मन्वन्तर या मनु । संधि सहित १४ मन्वन्तर=१ कल्प या ब्राह्म दिन। २ कल्प=१ ब्राह्म अहोरात्र। ३६० ब्राह्म अहोरात्र=१ ब्राह्म वर्ष । ५० ब्राह्म वर्ष=१ परार्ध । २ परार्ध बराबर=१ पर या ब्रह्मायु । यह तो कालगणना की स्थूलतम अवधि हैं । यदि सूक्ष्मतम अवधि की ओर मुड़ना हो तो इस प्रकार समझिए--१ मानव वर्ष=१२ मास । १ मास =३० अहोरात्र । १ अहोरात्र=६० घटी । १ घटी=६० पल । १ पल=६ प्राण । १ प्राण=६० लीक्षक । १लीक्षक=६० लव । १ लव=६० रेणु । १ रेणु= ६० त्रुटि । एक त्रुटि मान लोक-प्रचलित सूक्ष्मतम मान १ सेकेण्ड से ३२४०००० गुना सूक्ष्म होता है । (१) **दिग्द्विपेन्द्रैः**--दिगन्तस्थायी आठो गजेन्द्रों के द्वारा । दिग्गज ये कहलाते हैं--'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥' इत्यमरः । (११) **द्वादशादित्यदीप्तिः**--बारह आदित्यों के तेज जैसे तेज वाला। (१२) **देहोद्योतैः**—शरीर के प्रकाशों से । (१३) **आशाः**--दिशाओं को । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च' इत्यमरः । (१४) **कपिशयति**--पीताभ या पीली-सी बना रहा है । कपिशाः करोति इति कपिशयति कपिशा+णिच् (नामधातु)+लट्--ति । गरुड का रंग सोने की तरह चमकीला है । अतः दसो दिशाओं के अकस्मात् पीताभ हो जाने से नायक ने सोचा कि गरुड अब आ ही रहा है। श्लोक का सारांश है कि गरुड के आगमन से प्रलय की आशंका उपस्थित हो गई । इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥२२॥

तद् यावदसौ नागच्छेत् शंखचूडः, तावत् त्वरिततरमिमां वध्यशिलामारोहामि । [तथा कृत्वा, उपविश्य स्पर्शं नाटयति] अहो स्पर्शोऽस्याः !

न तथा सुखयति मन्ये[1] मलयवती मलयचन्दनरसाऽऽर्द्रा ।
अभिवाञ्छितार्थसिद्धय वध्यशिलेयं यथाऽऽश्लिष्टा[2] ॥२३॥

अन्वय--मलयचन्दनरसार्द्रा मलयवती आश्लिष्टा (सती) तथा न सुखयति यथा अभिवाञ्छितार्थसिद्धये इयं वध्यशिला (इति) मन्ये ॥२३॥

व्याख्या--त्वरिततरं--शीघ्रतरम् ।

---

१ मनो । २. ०स्पृष्टा ।

मलयचन्दनरसार्द्रा--मलयचन्दनस्य रसेन आर्द्रा उपलिप्तसकलावयवेति यावत्, मलयवती--मे प्रिया, आश्लिष्टा--आलिङ्गिता (सती), तथा--तेन प्रकारेण, न सुखयति--न आनन्दयति, यथा--येन प्रकारेण, अभिवाञ्छितार्थ-सिद्धये--अभिवाञ्छितस्य ईप्सितस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सिद्धये उपलब्धये, इयं--स्पृश्यमाना, वध्यशिला, (इति) मन्ये--अवगच्छामि ॥२३॥

अनुवाद--तो जब तक वह शंखचूड नहीं आता है, तब तक शीघ्र ही मैं इस वध्य-शिला पर चढ़ जाता हूँ। [वैसा करके, बैठकर स्पर्श का अभिनय करता हैं।]

मलयाचल के चन्दन के रस से भीगी मलयवती आलिंगित होने पर उतना सुख नहीं देती है, जितना कि अभिलषित प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह वध्य-शिला (सुख दे रही है, ऐसा) मैं मानता हूँ ॥२३॥

टिप्पणी--(१) त्वरिततरम्--अत्यन्त शीघ्र। त्वरित+तरप् अतिशयार्थे। (२) मलयचन्दनरसार्द्रा--मलयज चन्दन के रस से गीली हुई। (३) न सुखयति --आनन्द नहीं देती है। सुखं करोति इति सुखयति सुख+णिच् (नामधातु)+ लट्--ति। श्लोक का भाव यह है कि इस शिला का संसस्पर्श चन्दनचर्चित मलयवती के स्पर्श से भी अधिक आनन्द दे रहा है। इसमें आर्या छन्द है ॥२३॥

अथवा किं मलयवत्या ?--

शयितेन मातुरङ्के विस्रब्धं शैशवे न तत् प्राप्तम्।
लब्धं सुखं मयाऽस्या वध्यशिलाया यदुत्सङ्गे ॥२४॥

अन्वय--शैशवे मातुः अङ्के विस्रब्धं शयितेन मया तत् सुखं न प्राप्तं यत् अस्याः वध्यशिलायाः उत्सङ्गे लब्धम् ॥२४॥

व्याख्या--शैशवे--बाल्ये, मातुः--जनन्याः, अङ्के--उत्सङ्गे, विस्रब्धं--विश्वस्तं, शयितेन--सुप्तवता, मया, तत्, सुखम्--आनन्दं, न प्राप्तं--न लब्धं यत्, अस्याः, वध्यशिलायाः, उत्सङ्गे--अङ्के, लब्धं--प्राप्तम् ॥२४॥

अनुवाद--अथवा मलयवती से क्या (कहना है) ?--

बचपन में माता की गोद में निःशंक होकर लेटे हुए मुझे वह सुख नहीं मिला, जो इस वध्यशिला के अंक में मिला है ॥२४॥

टिप्पणी—(१) शैशवे—बाल्यावस्था में। शिशोर्भावः शैशवम् शिशु+अण्, तस्मिन्। (२) विस्रब्धम्—विश्वास पूर्वक, बिना डर-भय के। वि√स्रम्भ्+क्त। यह शयन क्रिया का विशेषण है। श्लोक का भाव यह है कि परोपकार के निमित्त वध्यशिला पर सोने का सुख माता की गोद में सोने के सुख से कहीं बढ़ा-चढ़ा है। इसमें भी आर्या छन्द है ॥२४॥

तदयमागतो गरुत्मान्, यावदात्मानमाच्छादयामि।

[तथा करोति]

गरुडः—

क्षिप्त्वा[1] बिम्बं हिमांशोर्भयकृतवलयां संहरन्[2] शेषमूर्तिं
सानन्दं स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते पूष्णि दृष्टोऽग्रजेन।
एष प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलात्यायतीभूतपक्षः
प्राप्तो वेलामहीध्रं मलयमहमहिग्रासगृध्नुः क्षणेन ॥२५॥

अन्वय—हिमांशोः बिम्बं क्षिप्त्वा भयकृतवलयां शेषमूर्तिं संहरन्, पूष्णि स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते अग्रजेन सानन्दं दृष्टः, प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलात्यायतीभूतपक्षः एषः अहम् अहिग्रासगृध्नुः (सन्) वेलामहीध्रं क्षणेन प्राप्तः ॥२५॥

व्याख्या—हिमांशोः—चन्द्रस्य, बिम्बं—मण्डलं, क्षिप्त्वा—पक्षजातवायुवेगेन सुतरां निरस्य, भयकृतवलयां—भयेन भीत्या कृतं निष्पादितं वलयं स्वजात्युचितमण्डलीभावो यया तथोक्तां, शेषमूर्तिं—सर्पराजस्य शरीरं, संहरन्—संकोचमापादयन्, पूष्णि—सूर्ये, स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते—स्यन्दनस्य रथस्य अश्वानां घोटकानां त्रसनेन मद्दर्शननिबन्धनेन भयेन विचलिते स्वस्थानात् किञ्चिदपसृते (सति), अग्रजेन—ज्यायसा भ्रात्रा अरुणेन, सानन्दम्—आनन्दपूर्वकं, दृष्टः—विलोकितः, प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलात्यायतीभूतपक्षः—प्रान्तेषु अङ्गप्रान्तेषु अवसज्जद्भिः वायुवेगात् श्लिष्यद्भिः जलधरपटलैः मेघसमूहैः अत्यायतीभूतौ दीर्घायमाणौ पक्षौ यस्य तादृशः, एषः, अहम्, अहिग्रासगृध्नुः—अहीनां सर्पाणां

---

१. दृष्ट्वा। २. संस्मरन्।

ग्रासः ग्रसनं तद्गृध्नुः तदभिलाषुकः (सन्), वेलामहीध्रं—समुद्रतीरस्थितपर्वतं, क्षणेन—शीघ्रतरमेव, प्राप्तः—आयातः ॥२५॥

अनुवाद—तो यह गरुड आ गया, अब मैं अपने को ढक लेता हूँ।

[वैसा करता है]

चन्द्रमा के मंडल को (एक ओर) फेंककर भयवश घेरा बनाकर बैठे हुए शेषनाग के शरीर को संकुचित बनाता हुआ, रथ के घोड़ों के डरने से सूर्य के विचलित हो जाने पर बड़े भाई (अरुण) के द्वारा आनन्द के साथ देखा गया और (अंगों के) किनारों को छूते हुए मेघों के समूहों से अत्यन्त विस्तृत बने हुए पंखों वाला यह मैं साँपों को खाने का लोभी होता हुआ समुद्र-तटवर्ती (मलय) पर्वत पर शीघ्र ही पहुँच गया हूँ ॥२५॥

टिप्पणी—(१) **गरुत्मान्**—गरुड। 'गरुत्मान् 'गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः' इत्यमरः। गरुत् पक्षम् अस्ति अस्य इति गरुत्मान् गरुत्+मतुप्। (२) **हिमांशोः** चन्द्रमा के। 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः। (३) **बिम्बम्**—मंडल या घेरे को। 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः। (४) **क्षिप्त्वा**—फेंक-कर, एक ओर करके। (५) **भयकृतवलयाम्**—भय के मारे मंडल बनाये हुए अर्थात् घेरा मारकर बैठे हुए। (६) **शेष**—नाग की मूर्ति (शरीर) को। (७) **संहरन्**—संकुचित बनाता हुआ। (८) **पूष्णि**—संसार के पोषक, सूर्य के। (९) **स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते**—रथ के घोड़ों के डर जाने से विचलित अर्थात् अपने स्थान से किञ्चित् खिसक जाने पर। 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः। (१०) **अग्रजेन**—बड़े भाई अर्थात् अरुण के द्वारा। 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः' इत्यमरः। (११) **प्रान्तावसज्जज्जलधर-पटलात्यायतीभूतपक्षः**—(अंगों के) किनारों को छूते हुए मेघ-समूहों से लंबे-पंखों वाला। (१२) **अहिग्रासगृध्नुः**—सर्पों को खाने का लोभी। √गृध्+क्नु=गृध्नुः। (१३) **वेलामहीध्रम्**—समुद्रतटवर्ती पर्वत पर। महीं धरतीति महीध्रः मही√धृ+क 'कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन। वेलायाः महीध्रः (ष० त०), तम्। 'वेला काले च सीमायामब्धेः कूलविकारयोः' इत्यमरः।

इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है ॥२५॥

नायकः—[सपरितोषम्]

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्ऽर्जितं यत् स्वशरीरदानात् ।
भवे भवे तेन ममैवमेवं भूयात् [1]परार्थः खलु देहलाभः ॥२६॥

अन्वय—अद्य स्वशरीरदानात् पन्नगं संरक्षता मया यत् पुण्यम् अर्जितं तेन भवे भवे मम एवमेवं परार्थः देहलाभः भूयात् खलु ॥२६॥

व्याख्या—अद्य—अस्मिन् दिवसे, स्वशरीरदानात्—निजदेहार्पणात्, पन्नगं सर्पं, संरक्षता—सम्यक् त्रायमाणेन, मया, यत्, पुण्यं—धर्मः, अर्जितं—लब्धं, तेन—पुण्येन, भवे भवे—प्रत्येकं जन्मनि, मम, एवमेवम्—ईदृशः, परार्थः—परः अन्यः अर्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतः, देहलाभः—शरीरप्राप्तिः खलु—निश्चयेन, भूयात्—भवतु ॥२६॥

अनुवाद—नायक—[सन्तोष के साथ] आज अपना शरीर देकर साँप की रक्षा करते हुए मैंने जो पुण्य अर्जित किया है, उससे प्रत्येक जन्म में मुझे इसी प्रकार परोपकार के लिए शरीर की प्राप्ति हो ॥२६॥

टिप्पणी—(१) भवे भवे—जन्म-जन्म में अर्थात् प्रत्येक जन्म में। 'जन्महरी भवौ' इत्यमरः। (२) परार्थः—दूसरे के कल्याण के लिए। भाव यह है कि मैं दूसरे के उपकार करने के लिए ही प्रत्येक जन्म में शरीर धारण करूँ। इससे दयावीर का उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है। इस पद्य में उपजाति छन्द है ॥२६॥

गरुडः—[नायकं निर्वर्ण्य]

अस्मिन् वध्यशिलातले निपतितं शेषानहीन् रक्षितुं
निर्भिद्याशनिदण्डचण्डतरया चञ्च्वाधुना वक्षसि ।
भोक्तुं भोगिनमुद्धरामि तरसा रक्ताम्बरप्रावृतं
दिग्धं मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिनेवासृजा ॥२७॥

अन्वय—शेषान् अहीन् रक्षितुम् अस्मिन् वध्यशिलातले निपतितं मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिना असृजा दिग्धम् इव रक्ताम्बरप्रावृतं भोगिनम् अशनिदण्डचण्डतरया चञ्च्वा वक्षसि निर्भिद्य भोक्तुं तरसा अधुना उद्धरामि ॥२७॥

---

१ परोपकाराय शरीरलाभः ।

व्याख्या--शेषान्--अवशिष्टान्, अहीन्--सर्पान्, रक्षितुं—तज्जीवनरक्षणार्थम्, अस्मिन्—दृश्यमाने, वध्यशिलातले—वध्यानां मारणीयानां शिलातले प्रस्तरपृष्ठे, निपतितं—निश्चेष्टं पतितं, मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिना—मद्भयेन मम भोजनाशङ्कया दीर्यमाणात् स्वतो विभिद्यमानात् हृदयात् प्रस्यन्दिना क्षरता, असृजा--रक्तेन, दिग्धम् इव—उपलिप्तम् इव, रक्ताम्बरप्रावृतं--रक्तवस्त्राच्छादितं, भोगिनं--सर्पम्, अशनिदण्डचण्डतरया--अशनिदण्डवत् दण्डाकारकुलिशवत् चण्डतरया अतितीक्ष्णदीर्घया, चञ्च्वा--त्रोट्या, वक्षसि--उरसि, निर्भिद्य--विदार्य, भोक्तुं--खादितुं, तरसा--बलेन, अधुना--इदानीम्, उद्धरामि--उद्धृत्य गृह्णामि ।।२७।।

अनुवाद--गरुड—[नायक को देखकर]

अवशिष्ट सर्पों की रक्षा के निमित्त इस वध्यशिला पर पड़े हुए, मेरे डर से फटते हुए हृदय से बहने वाले रक्त से लथपथ की भाँति लाल वस्त्र से आच्छादित साँप को वज्र-दण्ड से भी अधिक कठोर चोंच से छाती फाड़कर खाने के लिए वेग से अब उठा लेता हूँ ।।२७।।

टिप्पणी--(१) अहीन्--साँपों को । (२) मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिना मेरे भय से फटे जाते हुए हृदय से बहने वाले । (३) असृजा--शोणित से । 'रुधिरेऽसृक्लोहितास्त्ररक्तक्षतजशोणितम्' इत्यमरः । (४) दिग्धम् इव-- उपलिप्त, सराबोर जैसे । (५) भोगिनम्--साँप को। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः । (६) अशनिदण्डचण्डतरया—दण्डाकार वज्र से अधिक प्रचंड । (७) तरसा--बल या वेग से । 'तरसी बलरंहसी' इत्यमरः। इस श्लोक में वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है ।।२७।।

[इत्यभिपत्य नायकं गृह्णाति । नेपथ्ये पुष्पाणि पतन्ति । दुन्दुभयश्च स्वनन्ति ।]

गरुडः--[ऊर्ध्वं दृष्ट्वाऽकर्ण्य च । अये पुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिध्वनिश्च । सविस्मयम्] अये ! --

आमोदानन्दितालिर्निपतति किमियं पुष्पवृष्टिर्नभस्तः ?

स्वर्गे किं वैष चक्रं मुखरयति दिशां दुन्दुभीनां निनादः ?

[विहस्य]

आं ज्ञातं सोऽपि मन्ये मम जवमरुता कम्पितः पारिजातः
सर्वैः संवर्तकाभ्रैरिदमपि रसितं जातसंहारशङ्कैः ।।२८।।

अन्वय--आमोदानन्दितालिः इयं पुष्पवृष्टिः नभस्तः किं निपतति ? स्वर्गे दुन्दुभीनाम् एष निनादः दिशां चक्रं किं वा मुखरयति ? आं ज्ञातम्, मम जवमरुता सः पारिजातः अपि कम्पितः, इदम् अपि जातसंहारशङ्कैः सर्वैः संवर्तकाभ्रैः रसितं मन्ये ।।२८।।

व्याख्या--आमोदानन्दितालिः--आमोदेन घ्राणसन्तर्पणेन गन्धेन आनन्दिताः हर्षिताः अलयः भ्रमराः तया तथाभूता, इयम्--एषा, पुष्पवृष्टिः--कुसुमवर्षा, नभस्तः--आकाशात्, किं--किमर्थं, निपतति ? स्वर्गे--त्रिदशालये, दुन्दुभीनां--वाद्यविशेषाणाम्, एषः--अयं, निनादः--गम्भीरध्वनिः, दिशां, चक्रं--मण्डलं, किं वा, मुखरयति--प्रतिध्वनिना शब्दायमानं करोति ? आम्--स्मरणार्थकमव्ययपदम्, ज्ञातम्--अवगतम्, मम--मे, जवमरुता--वेगोच्चलितवायुना, सः--प्रसिद्धः, पारिजातः--कल्पवृक्षः, अपि, कम्पितः--वेपितः, इदम् अपि--सर्वत्रानुभूयमानं ध्वननमपि, जातसंहारशङ्कैः--जाता उत्पन्ना संहारस्य प्रलयकालस्य आशङ्का भयं येषां तादृशैः, सर्वैः--समैः, संवर्तकाभ्रैः--कल्पान्तमेघैः, रसितं--गर्जितं, मन्ये--तर्कयामि ।।२८।।

अनुवाद--[इस प्रकार झपट्टा मारकर नायक को पकड़ लेता है। नेपथ्य में फूल गिरते हैं। नगाड़े बजते हैं]

गरुड--[ऊपर देखकर और सुनकर। अरे ! यह तो फूलों की वर्षा और नगाड़े का शब्द है। आश्चर्य के साथ] ऐ !--

अत्यन्त सुगंध से भौंरों को आनन्दित करने वाली यह पुष्प-वर्षा आकाश से क्यों गिर रही है ? स्वर्ग में नगाड़ों का यह शब्द दिशाओं के समूह को क्यों मुखरित कर रहा है ?

[हँसकर]

अच्छा, समझ गया, मेरे वेग के वायु से वह पारिजात भी कांप गया है और यह भी प्रलय की आशंका उत्पन्न होने से सभी संवर्तक (प्रलयकालीन) मेघों ने गर्जना की है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२८॥

टिप्पणी (१) आमोदानन्दितालिः--जिसने मनोमोहक सुगंध से भ्रमरों को आनन्दित कर दिया है। 'आमोदः सोऽतिनिर्ह्लादी' इत्यमरः। (२) नभस्तः--आकाश से। नभस्+तस्। (३) आम्--यह स्मरणार्थक अव्यय है। 'आं प्रगृह्यं स्मृतौ वाक्ये' इति मेदिनी। (४) जवमरुता--वेग के वायु से। (५) जातसंहारशङ्कैः--जिन्हें प्रलयकाल की शंका हो गई है। (६) संवर्तकाभ्रैः--प्रलयकाल के मेघों ने। (७) रसितम्--गर्जना की। 'स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च' इत्यमरः। इस श्लोक में जीमूतवाहन का अवदान तथा गरुड का निरूढ अहंकार सूचित किया गया है। पुष्पवृष्टि तथा नगाड़े की ध्वनि हुई है जीमूतवाहन की असाधारण परोपकारिता के उपलक्ष्य में, किन्तु गरुड समझ रहा है कि मेरे ही वेग से कल्पवृक्ष तक हिल उठा और संवर्तकों ने प्रलयकाल समझकर गर्जना की है। यहाँ गरुड ने अज्ञानता से अन्यथा संभावना की है। अतः 'मन्ये' पद से वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार है। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥२८॥

नायकः--[आत्मगतम्] दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि।

गरुडः--[नायकं कलयन्]

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेष यथा मम।
तथा सर्पाशनाकाङ्क्षां[१] व्यक्तमद्यापनेष्यति ॥२९॥

तद् यावदेनं गृहीत्वा मलयपर्वतमारुह्य यथेष्टमाहारयामि।

[इति निष्क्रान्तः]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति चतुर्थोऽङ्कः।

अन्वय--नागानां रक्षिता एषः यथा मम गुरुः भाति तथा अद्य सर्पाशनाकाङ्क्षां व्यक्तम् अपनेष्यति ॥२९॥

---

१० शङ्कां।

व्याख्या—नागानां—सर्पाणां, रक्षिता—रक्षकः, एषः—अयं, यथा—येन प्रकारेण, मम—मे, गुरुः—अन्येभ्यो नागेभ्यः दुर्धरः (पक्षान्तरे धर्मोपदेष्टा) भाति—प्रतीयते, तथा—तेन, अद्य—अस्मिन् दिने, सर्पाशनाकाङ्क्षां—सर्पाणां नागानाम् अशने भोजने आकाङ्क्षाम् अभिलाषं, व्यक्तं—निश्चयेन, अपनेष्यति—दूरीकरिष्यति ॥२६॥

अनुवाद—**नायक**—[मन में] भाग्य से मैं कृतार्थ हो गया हूँ।

गरुड—[नायक को पकड़ता हुआ]

नागों को बचाने वाला यह जैसा मुझे भारी लग रहा है, उससे आज साँपों को खाने की स्पृहा को निश्चय ही हटा देगा (अर्थात् इस मोटे-ताजे नाग के खाने से आज मेरा पेट अच्छी तरह भर जाएगा, जिससे पुनः सर्प-भक्षण की चाह नहीं रहेगी) ॥२६॥

इसलिए इसे पकड़कर मलयपर्वत पर चढ़कर यथेच्छ भोजन करूँगा।

[यह कहकर चल पड़ा]

[सब निकल जाते हैं]

चौथा अंक समाप्त ॥४॥

टिप्पणी—(१) **कलयन्**—पकड़ता हुआ या सोचता हुआ। (२) **नागानां रक्षिता**—(अपना प्राण देकर) साँपों की रक्षा करने वाला। (३) **मम गुरुः भाति**—(१) मुझे भारी मालूम पड़ रहा है। (२) मेरा गुरु—उपदेष्टा मालम होता है। (४) **सर्पाशनाकाङ्क्षाम्**—साँपों को खाने की चाह को।

यह श्लोक अन्यार्थप्रतिपादक उक्ति से आगे आने वाली घटना की सूचना दे रहा है, अतः यह 'पताकास्थान' है, जिसका लक्षण है—

'प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥'
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥'

यहाँ आगे आने वाली घटना है गरुड की सर्पभक्षणत्यागरूप प्रतिज्ञा। उसकी सूचना प्रस्तुत श्लोक के दूसरे अर्थ से मिल जाती है—'नागों का यह रक्षक जीमूतवाहन मेरा गुरु है, मुझे धर्म का उपदेश करेगा। नागों के खाने के सम्बन्ध में मेरी आकांक्षा या तृष्णा को सदा के लिए दूर कर देगा' ॥२६॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति प्रतीहारः]

प्रतीहारः--

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ? ॥१॥

अन्वय--स्निग्धे स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्नेहात् पापं विशङ्क्यते। दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे किमु ? ॥१॥

व्याख्या--स्निग्धे--प्रियजने, स्वगृहोद्यानगतेऽपि--स्वस्य आत्मनः गृहस्य भवनस्य उद्यानम् उपवनम् गतेऽपि प्राप्तेऽपि, स्नेहात् वात्सल्यातिशयात्, पापम्--अनिष्टं, विशङ्क्यते--सम्भाव्यते प्रियजनैरिति शेषः। दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे--दृष्टाः पूर्वं परिचिताः बहवः अनेके अपायाः अनर्थाः यस्मिन् तादृशस्य अतएव प्रतिभयस्य सातिशयभयङ्करस्य कान्तारस्य अरण्यस्य मध्ये तिष्ठतीति तस्मिन्, किम्--किं वक्तव्यमिति यावत् ? ॥१॥

अनुवाद--[तदुपरान्त प्रतीहार प्रवेश करता है]

प्रतीहार--प्रिय जन के अपने घर के उद्यान में जाने पर भी स्नेह के कारण (उसके विषय में) अनिष्ट की आशंका होने लगता है। अनेक विघ्न और भय से आक्रान्त वन के बीच में (प्रिय जन के) अवस्थित होने पर तो कहना ही क्या ?॥१॥

टिप्पणी--(१) स्निग्धे--स्नेही, प्रिय जन। (२) पापं विशङ्क्यते--पाप या अनिष्ट की आशंका की जाती है अर्थात् स्नेह के कारण ऐसी आशंका होने लगती है कि कहीं वायु से टूटकर पेड़ की डाल न गिर पड़े इत्यादि।

अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने भी लिखा है--'अतिस्नेहः पापशङ्की' । (३) दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे--देखे गये बहुत-से विघ्नों या विपत्तियों से युक्त तथा भयंकर वन के मध्य रहते हुए । 'कान्तारोऽस्त्री महारण्यम्' इति मेदिनी । जब प्रिय जन के, अपने घरेलू उद्यान में जाने पर भी भय की आशंका होती है तब महारण्य में जाने पर तो सुतरां भय की आशंका होगी--इस प्रकार अर्थान्तर का अवबोध होने से यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है, जिसका लक्षण है--'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' । इस श्लोक में आर्या छन्द है ।।१।।

तथाहि,--जीमूतवाहनो जलनिधिवेलाऽवलोकनकुतूहली निष्क्रान्तश्चिरयतीति दुःखमास्ते महाराजविश्वावसुः । समादिष्टश्चास्मि तेन, यथा--'सुनन्द ! श्रुतं मया सन्निहितगरुडप्रतिभयमुद्देशं जामाता जीमूतवाहनो गत इति शङ्कित एवास्मि अनेन वृत्तान्तेन । तत् त्वरितं विज्ञायागच्छ किमसौ स्वगृहमागतो न वा' इति । यावत् तत्र गच्छामि । [परिक्रामन्नग्रे दृष्ट्वा] अयमसौ राजर्षिर्जीमूतवाहनस्य पिता जीमूतकेतुरुटजाङ्गणे सह स्वधर्मचारिण्या राजपुत्र्या वध्वा च पर्युपास्यमानस्तिष्ठति । तथाहि--

क्षौमे भङ्गवती [1]तरङ्गितदशे फेनाम्बुतुल्ये वहन्
जाह्नव्येव विराजितः सवयसा देव्या महापुण्यया ।
धत्ते तोयनिधेरयं सुसदृशीं जीमूतकेतुः श्रियं
यस्यैषान्तिकवर्तिनी मलयवत्याभाति वेला यथा ।।२।।

अन्वय--भङ्गवती तरङ्गितदशे फेनाम्बुतुल्ये क्षौमे वहन् सवयसा महापुण्यया देव्या जाह्नव्या इव बिराजितः अयं जीमूतकेतुः तोयनिधेः सुसदृशीं श्रियं धत्ते, यस्य एषा अन्तिकवर्तिनी मलयवती वेला यथा आभाति ।।२।।

व्याख्या--जलनिधिवेलावलोकनकुतूहली--जलनिधेः समुद्रस्य वेलायाः तटस्य अवलोकने दर्शने कुतूहली कौतुकी, निष्क्रान्तः--गतः, चिरयति--विलम्बते, इति (कृत्वा), दुःखमास्ते--कष्टमनुभवति । समादिष्टः--आज्ञप्तः, सन्निहितगरुडप्रतिभयं--सन्निहितेन गरुडेन समीपवर्तिना वैनतेयेन प्रतिभयं भयङ्करम्, उद्देशं

---

१. तरङ्गतरले ।

--प्रदेशं, गतः। उटजाङ्गणे--उटजस्य पर्णनिर्मितकुटीरस्य अङ्गणे अजिरे, स्वधर्मचारिण्या--निजपत्न्या, वध्वा--स्नुषया, पर्युपास्यमानः--सेव्यमानः।

भङ्गवती--भङ्गा विद्यन्ते ययोः ते, विचित्रविन्यासेन रेखासमन्विते इति यावत्, तरङ्गितदशे--तरङ्गिताः मृदुलतया निश्वासपवनादिना विचलिताः दशाः अञ्चलानि ययोस्ते, (अतः) फेनाम्बुतुल्ये--फेनयुक्तजलसदृशे, क्षौमे--धवलिते परिधानीयोत्तरीयवस्त्रे, वहन्--धारयन्, सवयसा--समवयस्कया (जाह्नवीपक्षे वयोभिः पक्षिभिः सहितया), महापुण्यया--एतन्नामविशिष्टया (अन्यत्र महत् समधिकं पुण्यं पावनत्वं यस्यां तादृश्या) जाह्नव्या--गङ्गया, इव--यथा, विराजितः--विभूषितः, जीमूतकेतुः--जीमूतवाहनस्य पिता, तोयनिधेः--समुद्रस्य, सुसदृशीं--तुल्यां, श्रियं--शोभां, धत्ते--धारयति, यस्य--जीमूतकेतोः, एषा--इयम्, अन्तिकवर्तिनी--समीपस्था, वेला--तटभूमिः, यथा--इव, आभाति--शोभते ॥२॥

अनुवाद--जैसे कि--समुद्र के तट या ज्वारभाटा को देखने के कुतूहल से बाहर गये हुए जीमूतवाहन विलम्ब कर रहे हैं--यह सोचकर महाराज विश्वावसु दुःखी हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि--'सुनन्द! मैंने सुना है कि गरुड के पास ही होने से भयानक स्थान में जामाता जीमूतवाहन गये हैं, इस समाचार से मैं शंकाकुल हूँ। इसलिए तुम शीघ्र पता लगाकर आओ कि वे अपने घर आ गये अथवा नहीं।' अतएव मैं वहाँ जाता हूँ। [घूमता हुआ आगे देखकर] ये जीमूतवाहन के पिता राजर्षि जीमूतकेतु कुटी के आँगन में अपनी धर्मपत्नी के साथ राजकुमारी पुत्रवधू द्वारा सेवा किये जाते हुए बैठे हैं। और भी--

सिकुड़न पड़े तथा किनारों पर लहराते हुए फेनयुक्त जल की तरह (उज्ज्वल) दो रेशमी वस्त्र (धोती और दुपट्टा) धारण किये हुए और समान अवस्था वाली (गंगापक्ष में पक्षियों समेत) एवं देवी गंगा की तरह महापुण्या (महापुण्यशालिनी या इस नाम की और गंगा-पक्ष में अत्यन्त पवित्र) रानी के साथ विराजमान ये जीमूतकेतु समुद्र जैसी सुन्दर शोभा को धारण कर रहे हैं, जिनके निकट में अवस्थित मलयवती वेला (समुद्र-तट) जैसी लग रही है ॥२॥

टिप्पणी (१) **जलनिधिवेलावलोकनकुतूहली**—समुद्र के ज्वारभाटा को देखने के कुतुहल से युक्त। (२) **सन्निहितगरुडप्रतिभयम्**--पास में गरुड के रहने से भयंकर। 'भयङ्करं प्रतिभयं रौद्रं तूग्रममी त्रिषु' इत्यमरः। (३) **उटजाङ्गणे**—झोपड़ी के आँगन में। 'मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। (४) **भङ्गवती**—सिकुड़नों वाले या विचित्र विन्यास से रेखा युक्त। (५) **तरङ्गितदशे**—चंचल प्रान्तभाग—किनारों वाले। 'स्त्रियां बहुत्वे वस्त्रस्य दशाः स्युर्वस्तयोर्द्वयोः' इत्यमरः। 'दशावस्थादीपवर्त्योः वस्त्रान्ते भूम्नि योषिति' इति मेदिनी। (६) **क्षौमे**--दो रेशमी वस्त्र (धोती और दुपट्टे) को। 'क्षौमं स्यादतसीवस्त्रे दुकूलेऽट्टालकेऽपि च' इत्यनेकार्थसंग्रहः। (७) **सवयसा**—(१) समवयस्का, (२) पक्षियों सहित। 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। (८) **महापुण्यया**—(१) पुण्यशालिनी या महापुण्या नाम वाली, (२) बड़ी पवित्र। (९) **जाह्नव्या**—गंगा। जह्नोः अपत्यं स्त्री जाह्नवी जह्नु+अण्+ङीप्, तया। कहते हैं कि जह्नु ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनके यज्ञस्थल को भगीरथ-रथानुगामिनी गंगा ने अपनी धारा में समेट लिया। इस पर ऋषि को क्रोध आया। उन्होंने गंगा की पूरी धारा को पी डाला। पश्चात् भगीरथ के प्रार्थना करने पर जह्नु ने अपनी जाँघ चीरकर गंगा को बहा दिया। तभी से गंगा जाह्नवी (जह्नु ऋषि की कन्या) कहलाने लगी। (१०) **अन्तिकवर्तिनी**--समीप में अवस्थित। (११) **वेला यथा**—तट की तरह।

इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित उपमा अलंकार है। क्योंकि जीमूतकेतु ने जो वस्त्र पहन रखा है वही लहर की तरह प्रतीत होता है। साथ में रानी पवित्र गंगा की तरह शोभा दे रही है और पास में रहने वाली मलयवती मलयपर्वत को धारण करने वाली समुद्र की वेला की तरह सुशोभित हो रही है। इस प्रकार जीमूतकेतु समुद्र की सारी समता धारण कर रहा है। इसमें शार्दूल-विक्रीडित छन्द है ॥२॥

तद् यावदुपसर्पामि ।

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः]

जीमूतकेतुः—-

भुक्तानि यौवनसुखानि यशोऽवकीर्णं
राज्ये स्थितं स्थिरधिया चरितं तपोऽपि ।
श्लाघ्यः सुतः सुसदृशान्वयजा स्नुषेयं
चिन्त्यो मया ननु कृतार्थतयाऽद्य मृत्युः ॥३॥

अन्वय——यौवनसुखानि भुक्तानि, यशः अवकीर्णम्, स्थिरधिया राज्ये स्थितम्, तपः अपि चरितम्, सुतः श्लाघ्यः, इयं स्नुषा सुसदृशान्वयजा, कृतार्थतया मया ननु अद्य मृत्युः चिन्त्यः ॥३॥

व्याख्या——यौवनसुखानि——यौवनस्य तारुण्यस्य सुखानि आनन्दानि, भुक्तानि——अनुभूतानि, यशः——कीर्तिः, अवकीर्णं——विस्तारितं, स्थिरधिया——स्थिरा निश्चला धीः बुद्धिः यस्य तादृशेन (मया), राज्ये स्थितं——राज्यसञ्चालनं कृतम्, तपः——तपस्या, अपि, चरितम्——अनुष्ठितम्, सुतः——पुत्रः, श्लाघ्यः——प्रशंसनीयः, इयम्——एषा, स्नुषा——पुत्रवधूः, सुसदृशान्वयजा——सुसदृशे समुन्नते अन्वये कुले सिद्धेन्द्रवंशे जाता, कृतार्थतया——कृताः सम्पादिताः अर्थाः प्रयोजनानि येन तस्य भावः तया, मया, ननु——निश्चितम्, अद्य——अस्मिन् दिने, मृत्युः——मरणं चिन्त्यः——चिन्तनीयः ॥३॥

अनुवाद——तो (इनके) निकट जाता हूँ ।

[तब पत्नी और पुत्रवधू समेत जीमूतकेतु प्रवेश करता है]

जीमूतकेतु——यौवन के सुख भोग लिये, यश का विस्तार किया, स्थिरचित्त से राज्य किया, तपस्या भी की, पुत्र प्रशंसनीय है और यह पुत्रवधू अपने जैसे ही कुल की (मिल गई) है । (इस प्रकार) कृतार्थ होने से मुझे (अब) मृत्यु का ही विचार करना चाहिए ॥३॥

टिप्पणी——(१) **अवकीर्णम्**——फैला दिया । अव√कृ+क्त । (२) **स्थिरधिया**——स्थिर बुद्धि या चित्त से । इसका सम्बन्ध 'राज्ये स्थितम्' और 'तपः चरितम्' दोनों से है; क्योंकि जैसे राज्य-संचालन का कार्य स्थिर बुद्धि से ही सम्यक्तया हो सकता है उसी तरह तपश्चरण भी स्थिर चित्त से ही संभव है । बिना मनःस्थिरता के तपश्चरण को उन्मत्तताण्डव कहा गया है——'समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम् । तत्तस्य तत्समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥'

(३) सुसदृशान्वयजा--अत्यन्त समान या समुन्नत कुल में उत्पन्न। 'अभिजनान्वयौ। वंशोऽन्ववाय:' इत्यमरः। (४) कृतार्थतया--सफलमनोरथ होने से।

इस श्लोक में अन्तिम चरण के प्रतिपाद्य अर्थ के प्रति पूर्व के तीन चरणों में प्रतिपादित अर्थ हेतु है, अतः काव्यलिंग अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है।।३।।

सुनन्दः--[सहसोपसृत्य] 'जीमूतवाहनस्य--'

जीमूतकेतुः--[कर्णौ पिधाय] शान्तं पापम्।

वृद्धा--पडिहदं क्खु एदं अमंगलं। (प्रतिहतं खल्वेतदमङ्गलम्।)

मलयवती--वेवदि मे हिअअं इमिणा दुण्णिमित्तेण। (वेपते मे हृदयमनेन दुर्निमित्तेन।)

जीमूतकेतुः--[वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा] भद्र! किं जीमूतवाहनस्य?

सुनन्दः--जीमूतवाहनस्य वार्त्तामन्वेष्टुं महाराजविश्वावसुना युष्मदन्तिकं प्रेषितोऽस्मि।

जीमूतकेतुः--किमसन्निहितस्तत्र मे वत्सः?

वृद्धा--[सविषादम्] महाराअ! जइ तहिं ण सण्णिहिदो, ता कहिं गदो मे पुत्तओ भविस्सदि? (महाराज! यदि तत्र न सन्निहितः, तत् क्व गतो मे पुत्रको भविष्यति?)

जीमूतकेतुः--नूनमस्मत्प्राणयात्रार्थं नितान्तं दूरं गतो भविष्यति।

मलयवती-- [सविषादमात्मगतम्] अहं उण अज्जउत्तं अपेक्खंती अण्णं ज्जेव्व किंपि आसंकामि। (अहं पुनरार्यपुत्रमप्रेक्षमाणा अन्यदेव किमपि आशङ्के।)

सुनन्दः--आज्ञापय। किं मया स्वामिने निवेदनीयम्?

जीमूतकेतुः--[वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा] जीमूतवाहनश्चिरयतीति पर्याकुलोऽस्मि हृदयेन।

स्फुरसि किमु दक्षिणेतर ! मुहुर्मुहुः सूचयन्ममानिष्टम् ।
हृतचक्षुरपहतं ते [1]स्फुरितं मम पुत्रकः कुशली ॥४१॥

अन्वय--अनिष्टं सूचयत् मम दक्षिणेतर ! मुहुर्महुः किमु स्फुरसि ? हृतचक्षुः ! ते स्फुरितम् अपहतम्, मम पुत्रकः कुशली ॥४॥

व्याख्या--अमङ्गलम्--अशुभम्, प्रतिहतम्--नष्टं भवत्विति शेषः । दुर्निमित्तेन--अपशकुनेन, वेपते--कम्पते । भद्र--कल्याणमय । वार्तां--समाचारम्, अन्वेष्टुम्--प्राप्तुम् । युष्मदन्तिकं--भवत्समीपम् । असन्निहितः--अनुपस्थितः । नूनं--नियतम्, अस्मत्प्राणयात्रार्थं--अस्माकं प्राणयापनाय फलमूलान्याहर्तुमिति यावत्, नितान्तं--बहु । अप्रेक्षमाणा--अपश्यन्ती । वामाक्षिस्पन्दनं--वामनेत्रस्फुरणम् । चिरयति--विलम्बते, पर्याकुलः--उद्विग्नः ।

अनिष्टम्--अनभिलषितं वस्तु, सूचयत्--संकेतयत्, मम--मे, दक्षिणेतर--वाम (नेत्र) !, मुहुर्मुहुः--वारं वारं, किमु--किमर्थं, स्फुरसि--स्पन्दसे ? हृतचक्षुः--हे कुत्सितनेत्र !, ते--तव, स्फुरितं--स्पन्दनम्, अपहृतं--निरर्थकम्, मम, पुत्रकः--सुतः, कुशली--क्षेमवान् (अस्ति) ॥४॥

अनुवाद--सुनन्द--[एकाएक पास जाकर] जीमूतवाहन के।

जीमूतकेतु--[कानों को बंद करके] पाप शान्त हो ! पाप शान्त हो !

वृद्धा--यह अमंगल नष्ट हो ।

मलयवती--इस अपशकुन से मेरा हृदय कांप रहा है ।

जीमूतकेतु--[बाईं आँख का फड़कना सूचित करके] भद्र ! जीमूतवाहन का क्या ?

सुनन्द--जीमूतवाहन का समाचार [जानने के लिए महाराज विश्वावसु ने मुझे आप लोगों के पास भेजा है ।

जीमूतकेतु--क्या वहाँ मेरा चिरञ्जीव उपस्थित नहीं है ?

वृद्धा--[विषाद के साथ] महाराज ! यदि वहाँ उपस्थित नहीं है, तो मेरा पुत्र कहाँ गया होगा ?

---

१. स्फुरितमिहायं करिष्यते भानुः ।

जीमूतकेतु--निश्चित ही हमारे जीवन-निर्वाह (भोज्य-सामग्री लाने) के लिए दूर चला गया होगा।

मलयवती--[दुःख के साथ मन ही मन] मैं फिर आर्यपुत्र को न देखती हुई कुछ और ही आशंका कर रही हूँ।

सुनन्द--आज्ञा दीजिए। मैं स्वामी से क्या निवेदन करूँ?

जीमूतकेतु--[बाईं आँख का फड़कना सूचित करके] जीमूतवाहन विलम्ब कर रहा है, यह सोचकर मैं हृदय से व्याकुल हूँ।

अनिष्ट की सूचना देता हुआ ऐ मेरा बायाँ नेत्र! तू क्यों बार-बार फड़क रहा है? दुष्ट नेत्र! तेरा फड़कना निरर्थक है, मेरा पुत्र सकुशल है ॥४॥

टिप्णी--(१) जीमूतवाहनस्य--यह पद सुनन्द के मुँह से हठात् निकल गया है। वह आगे 'जीमूतवाहनस्य वार्तामन्वेष्टुम्' इत्यादि कहने का उपक्रम करेगा, किन्तु जीमूतकेतु के 'चिन्त्यो मया ननु कृतार्थतयाद्य मृत्युः' इस वाक्य के अव्यवहित अनन्तर ही उसने पूर्वोक्त पद का उच्चारण कर दिया है। इससे नायक का भावी मृत्यु सूचित हुआ है। अतएव यहाँ गण्ड नामक नाटकाङ्ग-विशेष समझना चाहिए, जिसका लक्षण है--'गण्डः प्रस्तुत-सम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम्'। (२) असन्निहितः--पास में नहीं है। (३) अस्मत्प्राणयात्रार्थम्--हमारे जीवन-यापन के लिए अर्थात् कन्दमूल लाने के लिए। 'यात्रा स्यात् यापने गतौ' इत्यमरः। (४) दक्षिणेतर--दाहिने से भिन्न अर्थात् वाम (नेत्र)। (५) हतचक्षुः--ऐ अभागा नेत्र। (६) अपहतम्--विनष्ट हो या निरर्थक है। इस पद्य में आर्या छन्द है ॥४॥

[उद्ध्र्वमवलोक्य] अयमेव त्रिभुवनैकचक्षुर्भगवान् सहस्रदीधितिः स्फुटं जीमूतवाहनस्य श्रेयः करिष्यति।

[विलोक्य सविस्मयम्]

आलोक्यमानमतिलोचनदुःखदायि
रक्तच्छटानिजमरीचिरुचो विमुञ्चत्।
उत्पातवाततरलीकृततारकाभ-
मेतत्पुरः पतति किं सहसा नभस्तः? ॥५॥

अन्वय--आलोक्यमानम् अतिलोचनदुःखदायि रक्तच्छटानिजमरीचिरुचः विमुञ्चत् उत्पातवाततरलीकृततारकाभम् एतत् किं नभस्तः सहसा पुरः पतति ? ।।५।।

व्याख्या--त्रिभुवनैकचक्षुः--त्रिभुवनस्य चराचरस्य एकं केवलं चक्षुः नेत्रभूतः, सहस्रदीधितिः--सहस्रं दीधितयः रश्मयो यस्य तथाभूतः, स्फुटं--स्पष्टं निश्चितमिति यावत्, श्रेयः--कल्याणम् ।

आलोक्यमानं--दृश्यमानम्, अतिलोचनदुःखदायि--अतिशयेन लोचनयोः नेत्रयोः दुःखं कष्टं ददातीति तादृशं, रक्तच्छटानिजमरीचिरुचः--रक्तच्छटाः शोणितकान्तयः तद्वत् निजमरीचिरुचः निजमरीचीनां स्वकिरणानां रुचः कान्तीः, विमुञ्चत्--अधः पातयत्, उत्पातवाततरलीकृततारकाभम्--उत्पातकाले प्रलयकाले वातेन वायुना तरलीकृतायाः वायुवेगवशात् स्वस्थानाच्च्युतायाः तारकायाः नक्षत्रस्य आभा इव आभा शोभा यस्य तादृशम्, एतत्--इदं, किं (वस्तु), नभस्तः--आकाशात्, सहसा--वेगेन, पुरः--अग्रे, पतति--नीचैरागच्छति ? ।।५।।

अनुवाद--[ऊपर देखकर] तीनों लोक के एक मात्र नेत्र स्वरूप भगवान् सूर्य स्पष्टतः जीमूतवाहन का कल्याण करेंगे ।

[देखकर आश्चर्य के साथ]

दिखाई देती हुई, नेत्रों को अत्यन्त कष्ट देने वाली, रक्त की कान्ति जैसी अपनी किरणों की कान्तियों को बिखेरती हुई और प्रलयकाल के वायु के चलने से हिलाये गये (अर्थात् अपने स्थान से गिरा दिये गये पुच्छल) तारे की-सी कान्ति वाली यह कौन चीज आकाश से एकाएक सामने गिर रही है ? ।।५।।

टिप्पणी--(१) त्रिभुवनैकचक्षुः--तीनों लोकों का एकमात्र नेत्र । त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् (समाहारद्विगु समास) । एकं चक्षुः (कर्म० स०) । त्रिभुवनस्य एकचक्षुः (ष० त०) । (२) सहस्रदीधितिः--हजार किरणों वाला, सूर्य । सहस्रं दीधितयो यस्य सः (ब० स०) । (३) अतिलोचनदुःखदायि--नेत्रों को अतिशय दुःख देने वाला । दुःखं ददातीति दुःखदायि दुःख √दा+णिनि । लोचनाभ्यां दुःखदायि इति लोचनदुःखदायि (च० त०), अतीव

लोचनदुःखदायि इति अतिलोचन-दुःखदायि (प्रादिस०) । (४) रक्तच्छटानिज-मरीचिरुचः—रक्त की-सी छटा वाली अपनी किरणों की कान्तियों को। 'रुक् शोभा किरणेच्छासु' इति हेमचन्द्रः । (५) उत्पातवाततरलीकृततारकाभम्—उत्पात (प्रलय) सूचक वायु के द्वारा चंचल या स्थानच्युत किये गये तारे की-सी कान्ति वाला ।

इस श्लोक में उपमा अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है ॥५॥

कथं चरणयोरेव पतितम् ?

[सर्वे निरूपयन्ति]

जीमूतकेतुः—अये ! कथं लग्नसरसमांसकेशश्चूडामणिः ? कस्य पुनरयं स्यात् ?

वृद्धा—[सविषादम्] महाराअ ! पुत्तअस्स विअ मे एदं चूडारअणं । (महाराज ! पुत्रकस्येव मे एतच्चूडारत्नम् ।)

मलयवती—अम्ब ! मा एव्वं भण । (अम्ब ! मैवं भण ।)

सुनन्दः—महाराज ! मैवमविज्ञाय विक्लवीभूः । अत्र हि—

तार्क्ष्येण भक्ष्यमाणानां पन्नगानामनेकशः ।
उल्कारूपाः पतन्त्येते शिरोमणय ईदृशाः ॥६॥

अन्वय—तार्क्ष्येण भक्ष्यमाणानां पन्नगानाम् एते ईदृशाः उल्कारूपाः शिरोमणयः अनेकशः पतन्ति ॥६॥

व्याख्या—अये—विषादसूचकमव्ययमेतत्, लग्नसरसमांसकेशः—लग्नं संश्लिष्टं सरसं रुधिरार्द्रं मांसं पललं केशाश्च कचाश्च यस्मिन् तथाभूतः, चूडामणिः—चूडायां प्रसाधनार्थं स्थापितो भूषणविशेषः । मा विक्लवीभूः—व्याकुलो मा भव ।

तार्क्ष्येण—गरुडेन, भक्ष्यमाणानां—खाद्यमानानां, पन्नगानां—सर्पाणाम्, एते—इमे, ईदृशाः—एतादृशाः ज्वलन्त इति यावत्, उल्कारूपः—उल्काग्रहवत् भयावहा इत्यर्थः, शिरोमणयः—शिरःसु स्थितानि रत्नानि, अनेकशः—बहुशः, पतन्ति ॥६॥

अनुवाद--क्यों चरणों पर ही गिरी ?

[सब देखने लगते हैं]

जीमूतकेतु--अहो, सरस मांस और बाल से युक्त चूडामणि कैसे ?

वृद्धा--[विषाद के साथ] यह तो मेरे पुत्र की चूडामणि की तरह लगती है ।

मलयवती--माता जी ! ऐसा मत कहिए ।

सुनन्द--महाराज ! बिना जाने इस प्रकार व्याकुल मत हों, क्योंकि यहाँ--

गरुड से खाये जाने वाले साँपों की ये ऐसी उल्का जसी शिरोमणियाँ अनेक बार गिरा करती हैं ।।६।।

टिप्पणी--(१) लग्नसरसमांसकेशः--जिस पर सद्यः मांस और बाल चिपके हुए हैं। (२) तार्क्ष्येण--गरुड द्वारा। तृक्षस्यापत्यं पुमान् तार्क्ष्यः तृक्ष+यञ्, तेन। 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यः' इत्यमरः। (३) उल्कारूपाः--उल्काग्रह के समान (भयावह) रूप वाले। इससे यह सर्पमणि है, ऐसी संभावना की जा सकती है ।।६।।

जीमूतकेतुः--देवि ! सोपपत्तिकमभिहितम् । कदाचिदेवमपि स्यात् ।

वृद्धा--सुणंदअ ! जाव इमाए वेलाए ससुरसदणं ज्जेव्व आअदो मे पुत्तओ भविस्सदि। ता गच्छ, जाणिअ लहुं संपादेहि। (सुनन्दक ! यावदनया वेलया श्वशुरसदनमेवागतो मे पुत्रको भविष्यति । तद्गच्छ, ज्ञात्वा लघु सम्पादय ।)

सुनन्दः--यदाज्ञापयति देवी । [इति निष्क्रान्तः]

जीमूतकेतुः--देवि ! अपि नागचूडामणिः स्यात् ।

[ततः प्रविशति रक्तवस्त्रसंवीतः शङ्खचूडः]

शङ्खचूडः--[सास्रम्]

गोकर्णमर्णवतटे त्वरितं प्रणम्य
प्राप्तोऽस्मि तां खलु भुजङ्गमवध्यभूमिम् ।
आदाय तं नखमुखक्षतवक्षसञ्च
विद्याधरं गगनमुत्पतितो गरुत्मान् ।।७।।

अन्वय--अर्णवतटे गोकर्णं प्रणम्य त्वरितं ता भुजङ्गमवध्यभूमिं प्राप्तः अस्मि खलु। च गरुत्मान् नखमुखक्षतवक्षसं तं विद्याधरम् आदाय गगनम् उत्पतितः ।।७।।

व्याख्या--सोपपत्तिकं--सयुक्तिकम्, अभिहितं--कथितम् । श्वशुरसदनं--श्वशुरगृहम् । लघु--शीघ्रम् ।

अर्णवतटे--समुद्रतीरे, गोकर्णं--शिवं, प्रणम्य--नत्वा, त्वरितं--शीघ्रं, तां--प्रसिद्धां, भुजङ्गमवध्यभूमिं--भुजङ्गमानां सर्पाणां वध्यभूमिं वधस्थानं, प्राप्तोऽस्मि--प्रत्यावृत्य आगतोऽस्मि, खलु--इत्यवधारणे प्राप्त एवेति यावत् । च--किन्तु, गरुत्मान्--गरुडः, नखमुखक्षतवक्षसं--नखैः नखरैः मुखेन च क्षतं विदीर्णं वक्षः वक्षः स्थलं यस्य तादृशं, तं, विद्याधरम्, आदाय--गृहीत्वा, गगनम्--आकाशम्, उत्पतितः--उत्पत्य नभस्तलमारूढ इति भावः ।।७।।

अनुवाद--जीमूतकेतु--देवी ! इसने युक्तियुक्त बात कही है। कदाचित् ऐसा ही हो ।

वृद्धा--सुनन्दक ! इस समय तक मेरा पुत्र ससुराल में ही आ गया होगा। इसलिए जाओ, पता लगाकर बताओ ।

सुनन्द--महारानी की जो आज्ञा। [यह कहकर चला जाता है]

जीमूतकेतु--देवी ! यह (किसी) नाग की चूडामणि हो सकती है ।

[तदनन्तर लाल वस्त्र धारण किये हुए शंखचूड प्रवेश करता है]

शंखचूड--[आँसू के साथ]

समुद्र के किनारे गोकर्ण महादेव को प्रणाम करके मैं शीघ्र सांपों की वध्य-भूमि पर पहुँच गया हूँ। किन्तु गरुड (अपने) नखों और चोंच के प्रहार से छाती फाड़कर उस विद्याधर को लेकर आकाश में उड़ गया है ।।७।।

टिप्पणी--(१) सोपपत्तिकम्--युक्तियुक्त, ठीक। उपपत्त्या सहितं सोपपत्तिकम् (तेन सहेति ब० स०), समासान्तकप्प्रत्ययः। (२) भुजङ्गमवध्यभूमिम्--साँपों की वध्यभूमि को। भुज√गम्+खच् 'गमश्च' इति सूत्रेण, खित्त्वान्मुमागमः=भुजङ्गमः। (३) नखमुखक्षतवक्षसम्--नखों और मुख (चोंच) से जिसकी छाती को फाड़ दिया गया है ऐसे (विद्याधर को)। इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।।७।।

[रुदन्] हा महासत्त्व ! हा परमकारुणिक ! हा निष्कारणैकबान्धव ! हा परदुःखदुःखित ! क्व गतोऽसि ? प्रयच्छ मे प्रतिवचनम्। हा शंखचूडहतक ! किं कृतं त्वया ?--

नाहित्राणात् कीर्तिरेका मयाप्ता
नापि श्लाघ्या स्वामिनोऽनुष्ठिताऽऽज्ञा।
दत्त्वात्मानं रक्षितोऽन्येन शोच्यो
हा धिक् ! कष्टं ! वञ्चितो वञ्चितोऽस्मि ।।८।।

अन्वय--अहित्राणात् एका कीर्तिः मया न आप्ता, नापि स्वामिनः श्लाघ्या आज्ञा अनुष्ठिता, आत्मानं दत्त्वा अन्येन रक्षितः शोच्यः, हा धिक् कष्टं वञ्चितः वञ्चितः अस्मि ।।८।।

व्याख्या--हा--अतिशयखेदसूचकमव्ययमेतत्। महासत्त्व--हे महापराक्रमिन्। परमकारुणिक--महादयालो। निष्कारणैकबान्धव--निष्कारणं हेतुं विनापि एकबाधव प्रधानबन्धो।

अहित्राणात्--सर्परक्षणात्, एका--केवला अयत्नसाध्यापीति यावत्, कीर्तिः--यशः, मया, न आप्ता--न लब्धा, नापि, स्वामिनः--प्रभोः, श्लाघ्या--प्रशस्या, आज्ञा--आदेशः, अनुष्ठिता--सम्पादिता, आत्मानं--शरीरं, दत्त्वा--समर्प्य, अन्येन--इतरेण, रक्षितः--त्रातः (अहं) शोच्यः--शोचनीयः संजातः), हा--खेदे, धिक् (मां), कष्टं--खेदप्रदर्शकमव्ययपदम्, वञ्चितः वञ्चितः अस्मि--अतितरां वञ्चितोऽस्मि ।।८।।

अनुवाद--[रोता हुआ] हाय महापराक्रमी ! हाय परम दयालु ! हाय अकारण ही एक मात्र बन्धु ! हाय दूसरे के दुःख से दुःखी होने वाले ! कहाँ गये हो ? मुझे उत्तर दो। हाय अभागा शंखचूड ! तूने क्या किया ?

सांपों की रक्षा से मैंने कोई यश नहीं पाया, ना ही स्वामी की श्लाघनीय आज्ञा का पालन किया, शरीर देकर दूसरे व्यक्ति के द्वारा बचाया गया मैं शोचनीय हो गया, हाय धिक्कार है, कष्ट की बात है, मैं बिल्कुल ठगा गया हूँ ॥८॥

टिप्पणी--(१) **प्रतिवचनम्**--उत्तर। (२) **अहित्राणात्**--सांपों के बचाने से। (३) **अनुष्ठिता**--सम्पादन या पालन किया। (४) **हा धिक्**--हाय मुझे धिक्कार है। 'हा विषादे च शोके च कुत्सादुःखार्थयोरपि' इति मेदिनी। श्लोक का भाव यह है कि उसी मनुष्य का जीवन सफल है, जो यश अर्जित करता है या स्वामी की आज्ञा का पालन करता है। मुझ से एक भी न बन पड़ा, उलटे दूसरे ने मेरे प्राण बचाये। अतः मेरा जीवन व्यर्थ गया, बिलकुल ही व्यर्थ गया। इस पद्य में शालिनी छन्द है, जिसका लक्षण है--'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ॥८॥

तन्नाहमेवंविधः क्षणमपि जीवन्नुपहास्यमात्मानं करोमि। यावदेतदनुगमनं प्रति यतिष्ये। [परिक्रामन् भूमौ दत्तदृष्टिः]

आदावुत्पीडपृथ्वीं प्रविरलपतितां स्थूलबिन्दुं ततोऽग्रे
ग्रावस्वापातशीर्णप्रसृततनुकणां कीटकीर्णां स्थलीषु।
दुर्लक्ष्यां धातुभित्तौ घनतरुशिखरे [1]गह्वरे स्त्यानरूपा-
मेनां तार्क्ष्यं दिदृक्षुर्निपुणमनुसरन् रक्तधारां व्रजामि ॥९॥

अन्वय--तार्क्ष्यं दिदृक्षुः (अहम्) आदौ उत्पीडपृथ्वीं ततः अग्रे प्रविरलपतितां स्थूलबिन्दुं ग्रावसु आपातशीर्णप्रसृततनुकणां स्थलीषु कीटकीर्णां धातुभित्तौ दुर्लक्ष्यां घनतरुशिखरे गह्वरे स्त्यानरूपाम् एनां रक्तधारां निपुणम् अनुसरन् व्रजामि ॥९॥

व्याख्या--तार्क्ष्यं--गरुडं, दिदृक्षुः--द्रष्टुमिच्छुः (अहम्) आदौ--पूर्वम्, उत्पीडपृथ्वीं--उत्पीडेन वक्षः स्थलादुच्छलतः शोणितस्य समूहेन पृथ्वीं स्थूलां, ततः अग्रे--तदनन्तरम्, प्रविरलपतितां--प्रविरलं यथा स्यात् तथा (पृथ्व्यां) पतितां, स्थूलबिन्दुं--स्थूलाः बृहदाकाराः बिन्दवो यस्यां तथाभूतां, ग्रावसु--

१ स्त्याननीलस्वरूपां।

प्रस्तरशिलासु, आपातशीर्णप्रसृततनुकणाम्--आपातेन सद्यो निपतनेन शीर्णाः शकलीकृताः ततः प्रसृताः इतस्ततो व्याप्ताः तनवः सूक्ष्माः कणाः यस्याः तथाभूतां, स्थलीषु--तृणकुशादिभिराच्छादितासु अकृत्रिमासु उपत्यकासु, कीटकीर्णां--कीटैः पिपीलिकादिभिः कीर्णां व्याप्तां, धातुभित्तौ--धातुभिः मनःशिलादिभिः निचितायां पर्वतभूमौ, दुर्लक्ष्यां--धातुसाङ्कर्येण कृच्छ्रेणेयां, घनतरुशिखरे--घनानि निविडानि तरुशिखराणि वृक्षाग्रभागाः यस्मिन् तादृशे, गह्वरे--गुहासन्नभूमौ, स्त्यानरूपां--घनीभूताम्, एनाम्--इमां, रक्तधारां--शोणितप्रवाहं, निपुणं--प्रयत्नेन, अनुरन्--अनुगच्छन्, व्रजामि--गच्छामि ॥९॥

अनुवाद—इसलिए ऐसा मैं क्षण भर भी जीवित रहता हुआ अपने को उपहास का पात्र नहीं बनाऊँगा। अब इसके पीछे जाने का प्रयत्न करूँगा। [घूमता हुआ भूमि की ओर दृष्टि डाले हुए]

गरुड को देखने का इच्छुक मैं पहले (वक्षः स्थल विदीर्ण करके) दबाने से मोटी, पश्चात् विरल होकर गिरने से मोटी-मोटी बूँदों वाली, पत्थरों पर गिरने के कारण बिखरकर फैले हुए पतले-पतले कणों से युक्त, भूमियों पर कीड़ों से व्याप्त, (गैरिक आदि) धातुओं की भित्ति (भूमि) पर कठिनाई से दिखाई देने योग्य और घने वृक्षों के अग्रभागों से युक्त गुफा के पास वाली भूमि पर जमी हुई इस रक्तधारा का अच्छी तरह अनुसरण करता हुआ जाता हूँ ॥९॥

टिप्पणी--(१) **दिदृक्षुः**--देखने की इच्छा रखने वाला। द्रष्टुम् इच्छुः दिदृक्षुः√दृश्+सन्, द्वित्वादि+उ। (२) **उत्पीडपृथ्वीम्**--निचोड़ने या दबाने से स्थूल। (३) **प्रविरलपतिताम्**--वितलरूप में (अलग-अलग) गिरी हुई। (४) **ग्रावसु**--शिलाओं पर। (५) **आपातशीर्णप्रसृततनुकणाम्**--गिरने के कारण बिखरे और फैले हुए पतले-पतले कणों वाली। (६) **स्थलीषु**--अकृत्रिम भू-भागों में। स्थल+ङीष् 'जनपदकुण्डगोणस्थलभाजनाग'--इत्यादि-सूत्रेण। (७) **घनतरुशिखरे**--घने वृक्षाग्रभागों से युक्त। (८) **गह्वरे**--गुफा के पास की भूमि पर। (९) **स्त्यानरूपाम्**--जमी हुई। श्लोक का तात्पर्य यह है कि गरुड द्वारा विदीर्ण किये जाते हुए जीमूतवाहन के शरीर से गिरने वाली रक्त की बूँदें विभिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न आकार धारण करती

हुई क्रमशः दुर्लक्ष्य हो रही हैं। उनका अनुसरण करते हुए मुझे (शंखचूड को) चलने का प्रयत्न करना है। इसमें स्रग्धरा छन्द है ।।९।।

वृद्धा—[ससाध्वसम्] महाराअ ! एसो ससोओ विअ रुदिदवअणो इदो ज्जेव्व तुरिदं आअच्छंतो हिअअं मे आकुलीकरेदि । ता जाणीअदु दाव को एसो त्ति। (महाराज ! एष सशोक इव रुदितवदन इत एव त्वरितमागच्छन् हृदयं मे आकुलीकरोति । तत् ज्ञायतां तावत् क एष इति ।

जीमूतकेतुः—यथाऽऽह देवी ।

शंखचूडः—[साक्रन्दम्] हा त्रिभुवनैकचूडामणे ! क्व मया द्रष्टव्योऽसि । मुषितोऽस्मि भो मुषितोऽस्मि ।

जीमूतकेतुः—[आकर्ण्य सहर्षं विहस्य] देवि ! मुञ्च शोकम् । अस्यायं चूडामणिर्नूनं मांसलोभात् केनापि पक्षिणा मस्तकादुत्खाद्यानीयमानोऽस्यां भूमौ पपात ।

वृद्धा—[सपरितोषं मलयवतीं समालिङ्ग्य] अविधवे ! धीरा होहि । ण क्खु ईरिसी आकिदी वेहव्वदुक्खं अणुहोदि । (अविधवे ! धीरा भव । न खल्वीदृशी आकृतिर्वैधव्यदुःखमनुभवति ।)

मलयवती—[सहर्षम्] अम्ब ! तुम्हाणं आसिसां पभाएण । (अम्ब ! युष्माकमाशिषां प्रभावेण ।)

[पादयोः पतति]

जीमूतकेतुः—[शङ्खचूडमुपसृत्य] वत्स ! किं तव चूडामणिरपहृतः ?

शंखचूडः—आर्य ! न ममैकस्य, त्रिभुवनस्यापि ।

जीमूतकेतुः—[शङ्खचूडमवलोक्य] वत्स ! कथमिव ?

शङ्खचूडः—दुःखातिभारात् बाष्पोपरुध्यमानकण्ठो न शक्नोमि कथयितुम् ।

जीमूतकेतुः—[आत्मगतम्] हन्त ! हतोऽस्मि । [प्रकाशम्]

आवेदय ममात्मीयं पुत्र दुःखं सुदुःसहम् ।
मयि संक्रान्तमेतत्ते येन सह्यं भविष्यति ॥१०॥

अन्वय--पुत्र ! आत्मीयं सुदुःसहं दुःखं मम आवेदय, येन मयि संक्रान्तम् एतत् ते सह्यं भविष्यति ॥१०॥

व्याख्या--त्रिभुवनैकचूडामणे--त्रिभुवनस्य त्रैलोक्यस्य एकः केवलः चूडामणिः शिरोभूषणं तादृश । मुषितः--लुण्ठितः । उत्खाय--उद्धृत्य । अविधवे--जीवत्भर्तृके । ईदृशी--परमरमणीया, आकृतिः--आकारः, वैधव्यदुःख--वैधव्यस्य मृतभर्तृकात्वस्य दुःखं कष्टम् । दुःखातिभारात्--दुःखस्य क्लेशस्य अतिभारात् आधिक्यात्, वाष्पोपरुध्यमानकण्ठः--बाष्पेण अन्तर्गलता अश्रुणा उपरुध्यमानः अवरुद्धः कण्ठः कण्ठस्वरो यस्य तादृशः ।

हे पुत्र !, आत्मीयं--स्वकीयं, सुदुःसहम--अतितरां दुर्भरं, दुःखं--कष्टम्, मम--मे, आवेदय--कथय, येन, मयि, सङ्क्रान्तं--संविभक्तम्, एतत्--दुःखं, ते--तव, सह्य--मर्षणीयं, भविष्यति ॥१०॥

अनुवाद--जीमूतकेतु--देवी जैसा कहें ।

शंखचूड--[रोता हुआ] हाय तीनों लोक के एकमात्र चूड़ामणि ! कहाँ तुम दिखाई पड़ोगे ? मैं लुट गया हूँ, अजी ! मैं लुट गया हूँ ।

जीमूतकेतु--[सुनकर हर्ष के साथ हँसकर] देवी ! शोक को त्याग दो। इसी की यह चूडामणि मांस के लोभ से किसी पक्षी के द्वारा मस्तक से झपटकर ले जायी जाती हुई इस भूमि पर गिर पड़ी ।

वृद्धा--[संतोष के साथ मलयवती का आलिंगन करके] हे सुहागिन ! धैर्य रखो । ऐसी आकृति वैधव्य-दुःख का अनुभव नहीं करती ।

मलयवती--[हर्ष के साथ] माता ! आपके आशीर्वादों के प्रभाव से ।

[पैरों पर गिरती है]

जीमूतकेतु--[शंखचूड के पास जाकर] बेटा ! क्या तुम्हारा चूडामणि लूटा गया है ?

शंखचूड--आर्य ! केवल मेरा ही नहीं, तीनों लोक का ।

जीमूतकेतु--[शंखचूड को देखकर] बेटा ! कैसे ?

शंखचूड--दुःख के अत्यन्त भार के कारण आँसुओं से रुँधे हुए गले वाला मैं कहने में असमर्थ हूँ।

जीमूतकेतु--[मन में] हाय ! मैं मारा गया हूँ। [प्रकट रूप से]

पुत्र ! अपना अत्यन्त दुःसह दुःख मुझे बताओ, जिससे मुझ पर बँटा हुआ यह (दुःख) तुम्हारे लिए सह्य हो जाएगा ।।१०।।

टिप्पणी--(१) अविधवे--सुहागिन, जीवित पति वाली। इस शब्द के प्रयोग से पति के जीवित होने की सूचना देकर अनिष्ट की आशंका का निवारण किया गया है। महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में इसका प्रयोग किया है--'भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहम्। (२) ईदृशी आकृतिः--ऐसी आकृति अर्थात् तुम्हारी जैसी सौम्य-सुभग आकृति वाली ललना वैधव्य का दुःख नहीं पाती है। (३) मयि सङ्क्रान्तम्--मुझमें प्रतिबिम्बित अर्थात् बँटा हुआ। कहते हैं कि स्नेही जनों में बँटा हुआ दुःख सह्य होता है--'स्निग्धजनसंविभक्तं दुःखं सह्यवेदनं भवति' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। 'तुल्याद् विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने' (किरातार्जुनीम्) ।।१०।।

शङ्खचूडः--श्रूयताम्। शङ्खचूडो नाम नागः खल्वहम्। आहारार्थं वासुकिना वैनतेयाय प्रेषितः। किं बहुना विस्तरेण ? कदाचिदियं रुधिरधारापद्धतिः पांसुभिरवकीर्यमाणा दुर्लक्ष्यतामुपयाति, तत् संक्षेपतः कथयामि।

विद्याधरेण केनापि करुणाविष्टचेतसा।
मम संरक्षिताः प्राणा दत्त्वात्मानं गरुत्मते ।।११।।

अन्वय—केनापि करुणाविष्टचेतसा विद्याधरेण आत्मानं गरुत्मते दत्त्वा मम प्राणाः संरक्षिताः ।।११।।

व्याख्या--आहारार्थं--भोजनार्थं, वैनतेयाय--गरुडाय, प्रेषितः--प्रहितः। रुधिरधारापद्धतिः--रक्तधारामार्गः, पांसुभिः--धूलिभिः, अवकीर्यमाणा—समन्तात् आच्छादिता, दुर्लक्ष्यताम्--अदृश्यताम्, उपयाति—गच्छति।

केनापि--अपरिचितेन, करुणाविष्टचेतसा--करुणया दयया आविष्टम् आक्रान्तं चेतः चित्तं यस्य तादृशेन, विद्याधरेण, आत्मानं--स्वदेहं, गरुत्मते--वैनतेयाय, दत्त्वा--समर्प्य, मम—मे, प्राणाः--असवः, संरक्षिताः—सम्यक् त्राताः ॥११॥

अनुवाद--शंखचूड--सुनिए। मैं शंखचूड नाम का नाग हूँ। मुझे वासुकि ने गरुड के भोजन के लिए भेजा है। बहुत विस्तार क्या करूँ? कदाचित् यह रक्तधारा का मार्ग धूल से ढक जाने पर कष्ट से दिखाई पड़ सकता है, इसलिए संक्षेप से कहता हूँ।

किसी दयायुक्त चित्त वाले विद्याधर ने अपने आपको गरुड को न्योछावर करके मेरे प्राण बचाये हैं॥११॥

टिप्पणी--(१) रुधिरधारापद्धतिः--शोणित की धारा का मार्ग। पादाभ्यां हतिः इति पद्धतिः, पादस्य पदादेशः। (२) पांसुभिः--धूलों से। (३) अवकीर्यमाणा--आच्छादित होता हुआ। (४) करुणाविष्टचेतसा--दया से युक्त चित्त वाले॥११॥

जीमूतकेतुः--कोऽन्य एवं परहितव्यसनी? वत्स! ननु स्पष्टमेवोच्यतां जीमूतवाहनेनेति। हा! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः।

वृद्धा--हा पुत्तअ। कहं तुए एवं किदं? (हा पुत्रक! कथं त्वयैतत् कृतम्?)

मलयवती--कहं सच्चीभूदं ज्जेव्व दुच्चिन्तिदं? (कथं, सत्यीभूतमेव दुश्चिन्तितम?)

सर्वे--[मोहं गच्छन्ति]

शङ्खचूडः--[सास्रम्] नूनमेतौ पितरौ तस्य महासत्त्वस्य। कथमप्रियवादिना मया इमामवस्थां नीतौ? अथवा विषादृते विषधरस्य मुखात् किमन्यन्निःसरति? अहो! प्राणप्रदस्य सुसदृशं प्रत्युपकृतं जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडेन। तत् किमधुनैवात्मानं व्यापादयामि? अथवा समाश्वासयामि तावदेतौ। तात! समाश्वसिहि। अम्बा समाश्वसितु।

[उभौ समाश्वसितः]

वृद्धा—वच्छे उट्ठेहि, मा रोअ। अम्हे किं जीमूदवाहणेण विणा जिवम्ह? ता समस्सस दाव। (वत्से! उत्तिष्ठ, मा रुदिहि। वयं किं जीमूतवाहनेन विना जीवामः? तत् समाश्वसिहि तावत्।)

मलयवती—[समाश्वस्य] अज्जउत्त! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो? (आर्यपुत्र! क्व मया त्वं प्रेक्षितव्यः?)

जीमूतकेतुः—हा वत्स! गुरुचरणशुश्रूषाविधिज्ञ!

चूडामणिं चरणयोर्मम पातयता त्वया।
लोकान्तरगतेनापि नोज्झितो विनयक्रमः ॥१२॥

अन्वय—मम चरणयोः चूडामणिं पातयता त्वया लोकान्तरगतेनापि विनयक्रमः न उज्झितः ॥१२॥

व्याख्या—परहितव्यसनी—परेषाम् अन्येषां हिते कल्याणसाधने व्यसनम् आसक्तिः यस्य तथाभूतः। विषाद् ऋते—विषं विहाय, विषधरस्य—विषधारयितुः सर्पस्य, निःसरति—बहिर्गच्छति। प्राणप्रदस्य—जीवनदायकस्य, सुसदृशम्—अतीवतुल्यं, प्रत्युपकृतम्—प्रत्युपकारः कृतः। व्यापादयामि—हन्मि। समाश्वासयामि—सान्त्वयामि।

मम—मे, चरणयोः—पादयोः, चूडामणिं—स्वशिरोभूषणं, पातयता—पतनं प्रापयता, त्वया—भवता, लोकान्तरगतेनापि—परलोकं प्राप्तेनापि, विनयक्रमः—विनम्रताप्रकटनस्य परिपाटी, न उज्झितः—न त्यक्तः ॥१२॥

अनुवाद—जीमूतकेतु—दूसरों के हित करने में आसक्त ऐसा और कौन होगा? वत्स! स्पष्ट ही कहो कि जीमूतवाहन ने। हाय! मैं अभागा मारा गया।

वृद्धा—हाय बेटा! तुमने यह क्यों किया?

मलयवती—क्या बुरी चिन्ता सत्य ही हो गई।?

सब—[मूर्च्छित हो जाते हैं]

शंखचूड--[आँसू के साथ] निश्चित ही उन महाशक्तिशाली के ये दोनों माता-पिता हैं। क्यों अप्रिय बोलने वाले मैंने (इन्हें) इस अवस्था में पहुँचा दिया? अथवा विषधर (साँप) के मुख से विष के सिवा और क्या निकलता है? ओह! शंखचूड ने प्राणदाता जीमूतवाहन के (द्वारा किये गये उपकार के) अत्यन्त तुल्य प्रत्युपकार किया है। तो क्या अभी आत्महत्या कर लूँ? अथवा तब तक इन दोनों को आश्वासन दूँ। पिता जी! आश्वस्त होइए। माता जी! आश्वस्त होइए।

[दोनों आश्वस्त होते हैं]

वृद्धा--बेटी! उठो, मत रोओ। हम क्या जीमूतवाहन के बिना जीवित रह सकते हैं? इसलिए तब तक आश्वस्त होओ।

मलयवती--[आश्वस्त होकर] आर्यपुत्र! (अब) मैं आपको कहाँ देखूँगी?

जीमूतकेतु--हाय पुत्र! पिता की चरण-सेवा की विधि जानने वाले!

मेरे चरणों में चूडामणि गिराते हुए तुमने परलोक को चले जाने पर भी विनय का सिलसिला नहीं छोड़ा ॥१२॥

टिप्पणी--(१) **परहितव्यसनी**--जिसे दूसरों की भलाई करने का व्यसन हो। परेषां हितं, तस्य व्यसनम् (ष० त०), तत् अस्ति अस्य इति परहितव्यसन+इनि। (२) **विषाद् ऋते**--विष के सिवाय या छोड़कर। यहाँ 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादि सूत्र से पंचमी हुई। (३) **विषधरस्य**--विष धारण करने वाले, साँप के। धरतीति धरः√धृ+अच्। विषस्य धरः विषधरः (ष० त०)। शंखचूड़ के कहने का तात्पर्य है कि एक तो मैं साँप हूँ और दुर्जन भी हूँ। साँप के मुँह से विष का उगलना स्वाभाविक है। दुर्जन भी मुँह से विष के समान उद्वेजक बात ही बोलता है। इसलिए यदि मैंने अपने लिए प्राणदायक जीमूतवाहन के माता-पिता को अप्रिय वचन के द्वारा कष्ट पहुँचाया तो यह स्वाभाविक ही है। (४) **गुरुचरणशुश्रूषाविधिज्ञ**--माता-पिता के चरणों की सेवा के प्रकार को जानने वाले (५) **लोकान्तरगतेनापि**--दूसरे लोक को गये हुए भी। अन्यो लोकः इति लोकान्तरम् (मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुष समास)। (६) **विनयक्रमः**--विनय के क्रम या मार्ग को। (७) न **उज्झितः**--नहीं छोड़ा ॥१२॥

[चूडामणिं गृहीत्वा] हा वत्स ! कथमेतावन्मात्रदर्शनः संवृत्तोऽसि ? [हृदये दत्त्वा] अहह !!!

भक्त्या विदूरविनताननन्नमौलेः
शश्वत्तव प्रणमतश्चरणौ मदीयौ ।
चूडामणिर्निकषणैर्मसृणोऽप्ययं हि
गाढं विदारयति मे हृदयं कथं नु ? ॥१३॥

अन्वय--शश्वत् भक्त्या मदीयौ चरणौ प्रणमतः विदूरविनताननन्नमौलेः तव अयं चूडामणिः निकषणैः मसृणोऽपि मे हृदयं कथं नु गाढं विदारयति ? ॥१३॥

व्याख्या--शश्वत्--सदा, भक्त्या--पूज्येषु समुचितेन अनुरागेण, मदीयौ चरणौ—मम पादौ, प्रणमतः--नमस्कुर्वतः, विदूरविनताननन्नमौलेः--विदूरात् सुदूरात् अज्ञातात् लोकान्तरात् विनतं प्रणतिव्यापारे अवनामितम् आननं वदनं यस्य तथाभूतस्य च नम्रमौलेः नतशिरसः, तव—ते, अयं--दृश्यमानः, चूडामणिः --शिरोरत्नं, निकषणैः--संघर्षैः, मसृणोऽपि--चिक्कणोऽपि, मे--मम, हृदयं चित्तं, कथं नु—केन कारणेन, गाढम्—अतिमात्रं, विदारयति--सद्यः खण्डशः करोति ॥१३॥

अनुवाद--[चूडामणि को लेकर] हा पुत्र ! क्या तुम इतने मात्र दिखाई पड़ने वाले बन गये हो (अर्थात् इससे अधिक अब तुम्हारा दर्शन न हो सकेगा) ? हृदय से लगाकर ओह !

सदा भक्ति से मेरे चरणों को प्रणाम करने वाले और बहुत दूर से झुकाये गये मुख तथा नम्र शिर वाले तुम्हारा यह चूडामणि रगड़ों से चिकना हो जाने पर भी मेरे हृदय को कैसे गहरा विदीर्ण कर रहा है ? ॥१३॥

टिप्पणी--(१) **विदूरविनताननन्नमौलेः**--दूसरे लोक से प्रणाम करने में झुके हुए मुख एवं शिर वाले। यहाँ 'सुदूरमवनामितनम्रमौलेः' पाठभेद मिलता है, जिसका अर्थ है--बहुत दूर तक नम्र शिर को झुकाये हुए। (२) **निकषणैः**--रगड़ों से। (३) **मसृणः**--चिकना।

इस श्लोक में कर्कशत्वरूप विदारण-कारण का अभाव होने पर भी पुत्रमरण रूप अनुक्त निमित्त का आश्रय लेकर विदारण कहा गया है, अतः विभावना अलंकार है, जिसका लक्षण है--'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥' इसमें वसन्ततिलका छन्द है, जिसका लक्षण है--'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥१३॥

वृद्धा--हा पुत्त जीमूतवाहण ! जस्स दे गुरुअणसुस्सूअं वज्जिअ अण्णं सुहं ण रोअदि, सो कहिं दाणिं पिदरं उज्झिअ सग्गसुहमणुहोदुं गदोऽसि ? (हा पुत्र जीमूतवाहन ! यस्य ते गुरुजनशुश्रूषां वर्जयित्वा अन्यत् सुखं न रोचते, स कुत्रेदानीं पितरमुज्झित्वा स्वर्गसुखमनुभवितुं गतोऽसि ?)

जीमूतकेतुः--[सास्रम्] देवि ! किं जीमूतवाहनेन विना जीवामो वयं, येनैवं प्रलपसि ?

मलयवती--[पादयोर्निपत्य कृताञ्जलिः] ता देहि मे अज्जउत्तचिण्हं चूडामणिं, जेण एदं हिअए कदुअ जलणपवेसेण अवणेमि हिअअस्स संदावदुक्खं। (तद् देहि मे आर्यपुत्रचिह्नं चूडामणिं, येनैनं हृदये कृत्वा ज्वलनप्रवेशेन अपनयामि हृदयस्य सन्तापदुःखम्।)

जीमूतकेतुः--पतिव्रते ! किमेवमाकुलयसि ? ननु सर्वेषामेवास्माकमयं निश्चयः।

वृद्धा--महाराअ ! ता किं अम्हेहिं पडिपालीअदि ? (महाराज ! तत् किमस्माभिः प्रतिपाल्यते ?)

जीमूतकेतुः--न खलु देवि ! किञ्चित्। किन्त्वाहिताग्नेर्नान्येनाग्निना संस्कारो विहितः। अतोऽग्निहोत्रशरणादग्नीनादायात्मानमुद्दीपयामः।

शङ्खचूडः--[आत्मगतम्] कष्टं !! ममैकस्य कृते सकलमेवेदं विद्याधरकुलमुच्छिन्नम्। तदेवं तावत्। [प्रकाशम्] तात ! न न खल्वनिश्चित्यैव युक्तमिदमीदृशं साहसमनुष्ठातुम्। विचित्राणि

हि दैवविलसितानि । कदाचिन्नायं नाग इति ज्ञात्वा परित्यजैन्नागशत्रुः । तदनयैव दिशा वैनतेयमनुसरामस्तावत् ।

वृद्धा--सव्वहा देवदाणं पसादेण जीवंतस्स पुत्तअस्स मुहं दंसेम । (सर्वथा देवतानां प्रसादेन जीवतः पुत्रस्य मुखं पश्यामः ।)

मलयवती--[आत्मगतम्] दुल्लहं क्खु एदं मम मंदभग्गाए ।(दुर्लभं खल्वेतत् मम मन्दभाग्यायाः ।)

व्याख्या--गुरुजनशुश्रूषां--मातापितृसेवां, वर्जयित्वा--विहाय, उज्झित्वा--त्यक्त्वा । सास्रम्--अश्रुपातसहितम् । ज्वलनप्रवेशेन--अग्निप्रवेशेन, अपनयामि--दूरीकरोमि । आकुलयसि--खेदयसि । आहिताग्नेः--आहिताः स्थापिताः अग्नयः गार्हपत्यादयः त्रयः अग्नयः येन तादृशस्य अग्निहोत्रिण इत्यर्थः, अन्येन अग्निना--स्वाग्निहोत्रं विहाय इतरेण वह्निना, संस्कारः--मृतकसंस्कारः, विहितः--शास्त्रसमर्थित इत्यर्थः । अग्निहोत्रशरणात्--अग्निहोत्रस्य शरणात् गृहात्, आत्मानं--स्वम्, उद्दीपयामः--ज्वलयामः । उच्छिन्नं--विनष्टम् । अनिश्चित्य--अनिर्णीय, साहसम् अनुष्ठातुं--साहसिककार्यं विधातुं, युक्तम्--उचितम् । दैवविलसितानि--भाग्यस्य विलासाः, विचित्राणि--अनिश्चेतव्यानि (भवन्ति) । नागशत्रुः--गरुडः । वैनतेयं--गरुडम् ।

अनुवाद--वृद्धा--हाय बेटा जीमूतवाहन ! जिस तुमको माता-पिता की चरण-सेवा छोड़कर दूसरा सुख अच्छा नहीं लगता वह तुम अब पिता को छोड़कर स्वर्ग का सुख भोगने के लिए कहाँ चले गये हो ?

जीमूतकेतुः--[आँसू के साथ] देवी ! क्या जीमूतवाहन के बिना हम लोग जीवित रहेंगे, जो इस प्रकार प्रलाप कर रही हो ?

मलयवती--[पैरों पर गिरकर हाथ जोड़कर] इसलिए मुझे आर्यपुत्र का चिह्न--चूडामणि दे दीजिए, जिससे मैं इसे हृदय पर रखकर अग्नि-प्रवेश के द्वारा हृदय का सन्ताप-दुःख मिटा सकूँ ।

जीमूतकेतु--पतिव्रता ! क्यों इस प्रकार व्याकुल बना रही हो ? यह तो हम सभी का निश्चय है

वृद्धा--महाराज ! तब हम लोग किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?

जीमूतकेतु--देवी ! हम किसी की प्रतीक्षा नहीं कर रहे हैं। किन्तु अग्निहोत्री का संस्कार दूसरे अग्नि से करना वैध नहीं है। इसलिए अग्निहोत्र के गृह से अग्नियों को लेकर हम अपने को जला डालें।

शंखचूड--[मन में] कष्ट की बात है !! एक मेरे लिए यह पूरा विद्याधर-वंश ही नष्ट हुआ जा रहा है। इसलिए ऐसा कहता हूँ। [प्रकट रूप से] पिता जी ! बिना निश्चय किये ऐसा साहस का कार्य करना उचित नहीं है। क्योंकि भाग्य के खेल विचित्र हुआ करते हैं। कदाचित् 'यह नाग नहीं है' ऐसा जानकर गरुड (उन्हें) छोड़ दे। इसलिए इसी दिशा में हम लोग गरुड के पीछे चलें।

वृद्धा—हम सर्वथा देवताओं की कृपा से जीवित पुत्र का मुख देख लें

मलयवती—[मन में] मुझ अभागिन के लिए यह निश्चित ही दुर्लभ है।

टिप्पणी--(१) **आहिताग्नेः**--अग्निहोत्री का। जो अग्नि-स्थापना करके नित्य हवन करता है, उसे अग्निहोत्री कहते हैं। अग्निहोत्र के अग्नि तीन प्रकार के होते है—गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण। जैसा कि मनुस्मृतिकार ने लिखा है--'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥' (अ० २, श्लोक २३१)। (२) **न संस्कारो विहितः**--तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्री जिस अग्नि में नित्य हवन करता है, उस अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखना पड़ता है और उसी अग्नि से उसका दाह-संस्कार होता है, अन्य अग्नि से नहीं। जैसा कि मनु ने ही कहा है--'आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः। अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरो जनः ॥' (३) **अग्निहोत्रशरणात्**--अग्निहोत्र के गृह से। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। (४) **दैवविलसितानि**—भाग्य के खेल। माघकवि ने भी लिखा है--'हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः'।

जीमूतकेतुः--वत्स ! अवितथैषा तव भारती भवतु तथापि साग्नीनामेवास्माकं युक्तमनुसर्तुम्। तदनुसरतु भवान् वयमप्यग्निशरणादग्निमादाय त्वरितमेवानुगच्छामः।

[पत्नीवधूसमेतो निष्क्रान्तः]

शङ्खचूडः––तद् यावद् गरुडमनुसरामि । [अग्रतो निर्वर्ण्य]

कुर्वाणो रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैर्द्रोणीरिवाद्रेस्तटी:[1]
प्लुष्टोपान्तवनान्तरः स्वनयनज्योतिः शिखासञ्चयैः ।
[2]मज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः
शृङ्गाग्रे मलयस्य पन्नगरिपुर्दूरादसौ दृश्यते ।।१४।।

अन्वय––रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैः अद्रेः तटीः द्रोणीः इव कुर्वाणः, स्वनयनज्योतिः-शिखासञ्चयैः प्लुष्टोपान्तवनान्तरः, मज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः असौ पन्नगरिपुः मलयस्य शृङ्गाग्रे दूरात् दृश्यते ।।१४।।

व्याख्या––तव––ते, भारती––वाणी, अवितथा––सत्या । साग्नीनाम्––अग्निभिः सह वर्तमानानाम् ।

रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैः––रुधिरेण रक्तेन आर्द्रायाः सिक्तायाः चञ्च्वाः त्रोट्याः कषणैः पैच्छिल्यापनोदनाय पार्श्वयोः मुहुर्मुहुः संघर्षणैः, अद्रेः––मलयाचलस्य, तटीः––प्रान्तभूमीः, द्रोणीः––नौसंस्थानाः, इव––यथा, कुर्वाणः––विदधत्, स्वनयनज्योतिः शिखासञ्चयैः––स्वनयनयोः ज्योतिः शिखानां नेत्रेभ्यो निःसरतः तेजसः ज्वालानां सञ्चयैः समूहैः, प्लुष्टोपान्तवनान्तरः––प्लुष्टं दग्धम् उपान्ते नयनगोचरे वनान्तरं वनमध्यं येन तथाभूतः, मज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः––मज्जतां नायकोरसि विदारणाय निमज्जतां वज्रवत् कठोराणां कर्कशानां घोराणां च भयङ्कराणां च नखराणां नखानां प्रान्तैः अग्रभागैः अवगाढा पर्वतेन सह पाताले निमग्नप्राया अवनिः मही येन तथाभूतः, असौ––अयं, पन्नगरिपुः––गरुडः, मलयस्य––मलयपर्वतस्य, शृङ्गाग्रे––शृङ्गस्य शिखरस्य ––अग्रे अग्रभागे, दूरात्––विप्रकृष्टात्, दृश्यते––अवलोक्यते ।।१४।।

अनुवाद––जीमूतकेतु––वत्स ! तुम्हारी यह वाणी सत्य हो । तो भी हमें अग्नियों को साथ लेकर ही अनुगमन करना उचित होगा । इसलिए आप अनुसरण कीजिए । हम भी अग्निगृह से अग्नि लेकर शीघ्र ही पीछे आते हैं ।

[पत्नी और पुत्रवधू समेत निकल गया]

शंखचूड––तो अब गरुड का अनुसरण करता हूँ । [आगे देखकर]

---

१ नवाः । शिलाः । २ सज्जद् ।

रक्त से गीली बनी हुई चोंच की रगड़ों से पर्वत के तटों को नाव जैसी बनाता हुआ, अपने नेत्रों की ज्योति के समूह से आस-पास के वन-मध्य को जलाता हुआ और चुभाये हुए वज्र जैसे कठोर नखों की नोकों से पृथ्वी को धँसाता हुआ यह गरुड़ मलयाचल की चोटी के अग्रभाग पर (बैठा) दूर से दिखाई पड़ रहा है ॥१४॥

टिप्पणी--(१) **अवितथा**--सत्य। वितथा मिथ्या, तद्भिन्ना अवितथा। (२) **रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैः**--रक्त से भींगी चोंच की रगड़ों से। (३) --**अद्रेः तटीः**--पहाड़ की प्रान्त-भूमियों या ढलानों को। (४) **द्रोणीः इव**--नावों की तरह। 'द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी' इत्यमरः। गरुड रक्त से आर्द्र अपनी चोंच को पर्वत पर रगड़कर सुखाना चाहता है, जिसके कारण पर्वत का कोई भाग ऊँचा हो जाता है और कोई भाग नीचा। अतः वह पर्वत का तट नाव की तरह प्रतीत होता है। (५) **स्वनयनज्योतिःशिखासञ्चयैः**--अपनी आँखों की अग्नि-ज्वालाओं के समूह से। (६) **प्लुष्टोपान्तवनान्तरः**--जिसने आसपास के वन के मध्यभाग को जला दिया है ऐसा। (७) **मज्जद्वज्र०**--जिसने चुभते हुए वज्र-से कठोर नखों के किनारों से पृथ्वी को धँसा दिया है ऐसा। 'सज्जद्' पाठभेद के अनुसार अर्थ होगा--'लगते हुए (वज्र-से आदि)। (८) **दूरात्**--यहाँ 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' सूत्र से पंचमी हुई। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१४॥

[ततः प्रविशत्यासनस्थः पुरः पतितनायको गरुडः]

गरुडः--**जन्मनः प्रभृति भुजङ्गपतीनश्नता नेदमाश्चर्यं मया दृष्टपूर्वं यदयं महासत्त्वो न केवलं व्यथते, प्रत्युत प्रहृष्ट इव किमपि दृश्यते। तथाहि**--

ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्योदधे-
र्मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम्।
गात्रं यन्न विलुप्तमेष पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥१५॥

अन्वय--अधिकपीयमानरुधिरस्यापि अस्य धैर्योदधेः ग्लानिः न अस्ति, मांसोत्कर्तनजाः रुजः वहतः अपि मुखं प्रीत्या प्रसन्नम्, यद् गात्रं न विलुप्तम्

तत्र एषः स्फुटः पुलकः लक्ष्यते, दृष्टिः अपकारिणि अपि मयि उपकारिणि इव निपतति ।।१५।।

व्याख्या--अधिकपीयमानरुधिरस्यापि--अधिकं प्रचुरं यथा स्यात् तथा पीयमानं धीयमानं रुधिरं रक्तं यस्य तादृशस्य, अपि, धैर्योदधेः--धैर्यस्य महति कष्टेऽपि स्थिरात्मिकायाः चित्तवृत्तेः उदधिः समुद्रः तद्वत् अगाधः तस्य अपरिमेयं धैर्यं दधानस्येत्यर्थः, अस्य--मया लक्ष्यमाणस्य जनस्य, ग्लानिः--हर्षक्षयः, न अस्ति--न विद्यते, मांसोत्कर्तनजाः--मांसस्य पललस्य उत्कर्तनम् इतस्ततः चञ्च्वा मर्मादिभ्यः छेदनं तेन जाताः रुजः पीडाः, वहतः--धारयतः, अपि, मुखम् आननं, प्रीत्या--अन्तरानन्देन, प्रसन्नं--विकाररहितं, यद्, गात्रम्--अङ्गं, न विलुप्तं--न नष्टम् अधुनापि अभक्षितं विद्यते, तत्र, एषः--अयं, स्फुटः--स्पष्टः, पुलकः--रोमोद्गमः,' लक्ष्यते--दृश्यते, दृष्टिः--दृक्पातः, अपकारिणि अपि--अपकारकर्तर्यपि, मयि--गरुडे, उपकारिणि--उपकरकारके, इव--यथा, निपतति --पतति ।।१५।।

अनुवाद--]तत्पश्चात् आसन पर बैठा हुआ गरुड, जिसके आगे नायक (जीमूतवाहन) गिरा हुआ है, प्रवेश करता है]

गरुड--जन्म से ही नागराजों को खाते हुए मैंने यह आश्चर्य पहले (कभी) नहीं देखा था कि यह महाधैर्यशाली केवल व्यथारहित ही नहीं है, बल्कि कुछ प्रसन्न-सा दीख रहा है । क्योंकि--

रक्त के अधिक पिये जाने पर भी इस धैर्य-सागर को ग्लानि नहीं मालूम पड़ती, मांस के नोचने से उत्पन्न वेदनाओं को वहन करते हुए भी मुख आनन्द से प्रसन्न है, जो अंग (अभी तक) नष्ट नहीं हुआ है, वहाँ यह रोमाञ्च स्पष्ट दीख रहा है और दृष्टि मुझ अपकारी पर भी उपकारी की भाँति पड़ रही है ।।१५।।

टिप्पणी--(१) **अश्नता**--खाते हुए । √अश्+लट्--शतृ=अश्नन्, तेन । (२) **महासत्त्वः**--अतिशयधैर्यशाली या महापराक्रमी । धनिक ने इसका लक्षण किया है--'महासत्त्वः क्रोधशोकाद्यनभिभूतान्तः सत्त्वः' । (३) **धैर्योदधेः**--धैर्य के समुद्र अर्थात् धैर्य रखने में समुद्र के समान अगाध । (४) **ग्लानिः**--हर्ष का क्षय, खेद । दशरूपक में इसका स्वरूप वर्णित है--'रत्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानि-

निष्प्राणतेह च' । श्लोक का भाव यह है कि अधिक शोणित पिये जाने पर भी इसको विषाद नहीं हो रहा है, मांस नोच लिये जाने पर भी प्रसन्नता है, खाये जाने से बचे हुए अंगों में रोमाञ्च हो रहा है और मुझ अपकारी पर भी सुभग दृष्टि डाल रहा है, इससे मालूम पड़ता है कि यह कोई अद्भुत धैर्यशाली महात्मा है। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१५॥

ततः कुतूहलमेव जनितमस्यानया धैर्यवृत्त्या। भवतु, न भक्षयाम्येवैनम् । पृच्छामि तावत् कोऽयमिति । [अपसर्पति]

नायकः--[मांसोत्कर्तनविमुखमुपलक्ष्य]

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त-
मद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि [1]तवापि तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ?॥१६॥

अन्वय--शिरामुखैः रक्तं स्यन्दत एव, अद्यापि मम देहे मांसम् अस्ति, तवापि तृप्तिं न पश्यामि, गरुत्मन् ! त्वं भक्षणात् किं विरतः ? ॥१६॥

व्याख्या--शिरामुखैः--शिराः धमनयः तासां मुखैः अग्रभागेभ्यः, रक्तं--शोणितं, स्यन्दत एव--स्रवत्येव, अद्यापि--अवयवानां भक्षणेऽपि, मम--मे, देहे--शरीरे, मांसम्--आमिषम्, अस्ति--विद्यते, तवापि--भवतः अपि, तृप्ति--भक्षणजन्यं सन्तोषं, न पश्यामि--नावलोकयामि, गरुत्मन्--वैनतेय, त्वं--भवान्, भक्षणात्--अदनात्, किं--किमर्थं, विरतः--विश्रान्तः ?॥१६॥

अनुवाद--इसलिए इसकी धैर्य-वृत्ति ने कुतूहल ही पैदा कर दिया । अस्तु, इसको (अब) खाऊँगा ही नहीं। तब तक पूछूँ तो यह कौन है । [हट जाता है]

नायक--[मांस नोचने से विमुख देखकर]

(मेरी) धमनियों के अग्रभागों से रक्त बह ही रहा है, अब भी मेरे शरीर में मांस है और आपकी तृप्ति भी मैं नहीं देखता । हे गरुड़ ! आप खाने से क्यों रुक गए ?॥१६॥

---

१. च ते महात्मन् ।

टिप्पणी--(१) मांसोत्कर्तनविमुखम्--मांस काटने या नोचने से विमुख या उदासीन। (२) शिरामुखैः—धमनियों के अग्रभागों से। 'नाडी तु धमनिः शिरा' इत्यमरः। (३) स्यन्दत एव--बह ही रहा है। इस श्लोक में नायक के अपूर्व धैर्य या उदात्त चरित्र अंकित है। उसके शरीर के अवयव काट-काटकर खा लिये गये हैं, थोड़े-से जो बचे हैं वह भी खा जाने के लिए भक्षक गरुड से आग्रह कर रहा है। यह धैर्यवृत्ति की पराकाष्ठा है। इस प्रकार यहाँ प्राणियों के लिए नायक का अतिशय दयाभाव वर्णित होने से वह दयावीर है। वीररस का वर्णन साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

'उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः॥
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्॥

इस पद्य को दशरूपक के अवलोक में धनिक ने औदार्य नामक सात्त्विक गुण के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। और साहित्यदर्पण में विश्वनाथकविराज ने दयावीर के दृष्टान्त रूप से उदाहरण देने में इसे उद्धृत किया है। इसमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के सम्मिलन से उपजाति छन्द है॥१६॥

गरुडः--[आत्मगतम्] आश्चर्यमाश्चर्यम्!! कथमस्यामप्यवस्थायामेवमूर्जितमभिधत्ते? [प्रकाशम्] अहो महासत्त्व!

आवर्जितं मया चञ्च्वा हृदयात् तव शोणितम्।
अनेन धैर्येण पुनस्त्वया हृदयमेव नः॥१७॥

अन्वय--मया चञ्च्वा तव हृदयात् शोणितम् आवर्जितम्, पुनः त्वया अनेन धैर्येण नः हृदयमेव (आवर्जितम्)॥१७॥

व्याख्या—ऊर्जितम्—अलौकिकं तेजोव्यञ्जकं वचनम्, अभिधत्ते--कथयति। महासत्त्व--अतिशयशक्तिशालिन्।

मया—गरुडेन, चञ्च्वा--त्रोट्या, तव--भवतः, हृदयात्—वक्षःस्थलात्, शोणितं--रक्तम्, आवर्जितम्--उत्कृत्य किञ्चिन्मात्रं स्वीकृतम्, पुनः--किन्तु,

त्वया--भवता, अनेन--लोकोत्तरेण, धैर्येण--धीरतया, नः--अस्माकं, हृदयमेव (आवर्जितम्) ॥१७॥

अनुवाद--गरुड--[मन में] आश्चर्य है ! आश्चर्य है !! कैसे यह इस अवस्था में भी ओजपूर्ण वाणी बोल रहा है ? [प्रकट रूप से] ऐ महाधैर्य धारी !

मैंने चोंच द्वारा तुम्हारे हृदय से (केवल) रुधिर (ही) लिया, किन्तु तुमने इस धैर्य के द्वारा मेरा हृदय ही ले लिया ।।१७।।

टिप्पणी (१) ऊर्जितम्--ओजस्वी या अलौकिक बल या उत्साह सूचक (वचन)। 'ऊर्जस्तु कार्तिकोत्साहबलेषु प्राणनेऽपि च' इति मेदिनी। (२) आवर्जितम्--लिया। गरुड के कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रहण करने में अकुशल मैंने तुम्हारे हृदय से शोणित मात्र लिया, किन्तु तुमने अपने विलक्षण धैर्य से मेरा समग्र हृदय ही ले लिया। इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है ।।१७।।

तत् कस्त्वमिति श्रोतुमिच्छामि ।

नायकः--एवं क्षुदुपतप्तो न श्रवणयोग्यस्त्वम् । कुरुष्व तावत् मम मांसशोणितेन तृप्तिम् ।

शङ्खचूडः--[सहसोपसृत्य] तार्क्ष्य ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठेयम् । नायं नागः । परित्यजैनम् । मां भक्षय । अहं तवाहारार्थं प्रेषितोऽस्मि वासुकिना । [उरो ददाति]

नायकः--[शङ्खचूडं दृष्ट्वा सविषादमात्मगतम्] कष्टं ! विफलीकृतो मे मनोरथः शङ्खचूडेनागच्छता ।

गरुडः--[उभौ निरूप्य] द्वयोरपि भवतोर्वध्यचिह्नम् । कः खलु नाग इति नावगच्छामि ।

शङ्खचूडः--अस्थान एव भ्रान्तिः ।

आस्तां स्वस्तिकलक्ष्म वक्षसि तनौ नालोक्यते कञ्चुकः
जिह्वे जल्पत एव मे न गणिते नाम त्वया द्वे अपि ।
तिस्रस्तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषो
नैता दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः फणाः पश्यसि ? ।।१८।।

अन्वय—वक्षसि स्वस्तिकलक्ष्म आस्तां, तनौ कञ्चुकः न आलोक्यते, जल्पतः एव मे द्वे अपि जिह्वे त्वया नाम न गणिते, तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषः दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः एताः तिस्रः फणाः न पश्यसि ?॥१८॥

व्याख्या—क्षुदुपतप्तः—क्षुधा बुभुक्षया उपतप्तः प्रपीडितः, न श्रवणयोग्यः—प्रश्नोत्तरश्रवणस्य क्षमः न। मांसशोणितेन—मांसेन रक्तेन च। अनुष्ठेयं—विधेयम्। उरः—वक्षः स्थलम्। विफलीकृतः—व्यर्थीकृतः। अस्थाने—अयोग्यस्थले, भ्रान्तिः—भ्रमः।

वक्षसि—उरः स्थले, स्वस्तिकलक्ष्म—स्वस्तिकस्य लक्ष्म चिह्नम्, आस्तां—दूरे तिष्ठतु, तनौ—शरीरे, कञ्चुकः—निर्मोकः, न आलोक्यते—न दृश्यते, जल्पतः—ब्रुवतः, एव, मे—मम, द्वे अपि, जिह्वे—रसने, त्वया—भवता, नाम—इति कुत्सितं, न गणिते—न संख्याकृते, तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषः—तीव्रस्य तीक्ष्णतरस्य विषाग्निधूमस्य (विषधरस्य मम मुखात् निःसरतः) विषवह्निधूमस्य पटलेन समूहेन व्याजिह्माः वक्रीकृताः रत्नानां शिरः स्थितानां मणीनां त्विषः कान्तयः यासां तथाभूताः, दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः—दुःसहेन सोढुं दुःखावहेन शोकेन दुःखेन यत् शूत्कृतं नागजात्युचितं शूशूकरणं तद्युक्तेन मरुता श्वासवायुना स्फीताः विवृतप्रान्तभागाः, तिस्रः, फणाः—नागोचितान् भोगाख्यान् चिह्नविशेषान्, न पश्यसि—नावलोकयसि ? ॥१८॥

अनुवाद—इसलिए तुम कौन हो, यह मैं सुनना चाहता हूँ।

नायक—इस प्रकार भूख से पीडित हुए तुम (मेरी बात) सुनने के योग्य नहीं हो। तब तक मेरे मांस और रक्त से (अपनी) तृप्ति करो।

शङ्खचूड—[एकाएक पास जाकर] गरुड ! नहीं नहीं, ऐसा साहस न कीजिए। यह नाग नहीं है, इसे छोड़ दो। मुझे खाओ। तुम्हारे भोजन के लिए वासुकि ने मुझे भेजा है। [छाती देता है]

नायक—[शङ्खचूड को देखकर विषाद के साथ मन में] कष्ट की बात है कि शङ्खचूड ने आकर मेरे मनोरथ को विफल कर दिया।

गरुड—[दोनों को अच्छी तरह देखकर] वध्यचिह्न तो आप दोनों के हैं। कौन नाग है, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

शङ्खचूड--अनुचित स्थान में ही भ्रम हुआ है।

(इसके) वक्षः स्थल पर स्वस्तिक के चिह्न को छोड़ भी दो तो भी शरीर पर केंचुली का चिह्न तो नहीं दिखाई दे रहा है (अथवा मेरे शरीर पर केंचुली को क्या तुम नहीं देख रहे हो ?)। बोलते हुए मेरी दो जिह्वाओं को भले तुम न गिन पाये, किन्तु तीव्र विषाग्नि के धुएँ की राशि से मलिन हुई मणि-प्रभा वाली और असह्य दुःख के कारण निकलते हुए सू सू शब्द युक्त वायु से फूली हुई इन तीन फणाओं को क्यों नहीं देख रहे हो ? ॥१८॥

टिप्पणी--(१) **क्षुदुपतप्तः**--भूख से पीडित। यहाँ नायक के कहने का तात्पर्य है कि भूख से पीडित व्यक्ति के चित्त में दूसरे की बातों को सुनने और समझने की क्षमता नहीं होती। कहा भी है--'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्'। इसलिए तुम पहले मेरे मांस-शोणित से उदरपूर्ति करो, पश्चात् मेरी बात सुनना। मांसं च शोणितं च इति मांसशोणितम् (द्वन्द्वसमास तथा 'प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से एकवद्भाव)। **अस्थाने**--अनुचित स्थान में। क्योंकि चाँदी का भ्रम शुक्तिका में ही होता है न कि पट में। सर्प का भ्रम रज्जु में ही होता है न कि कमण्डलु में। इस प्रकार नाग से सर्वथा भिन्न रूप वाले इस पुरुष में तुम्हें नाग का भ्रम होना अतीव अनुचित है। (३) **स्वस्तिकलक्ष्म**--स्वस्तिक का चिह्न। 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। कहने का भाव यह है कि इस महापुरुष की छाती पर आपने स्वस्तिक का चिह्न नहीं देखा, क्योंकि यह वस्त्रावृत था, ऐसा आप कह सकते हैं, किन्तु मेरे शरीर पर केंचुली देखकर आप क्यों नहीं पहचान लेते कि मैं नाग हूँ कि यह महापुरुष नाग है। (४) **कञ्चुकः**--केंचुली। 'कञ्चुको वारवाणे स्यात् निर्मोकेऽपि च' इति मेदिनी। (५) **तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषः**--उत्कट विष रूपी अग्नि के धूम-समूह से फीकी पड़ी मणियों की कान्ति वाली। विषधरों की फणाओं में मणियों का होना प्रसिद्ध ही है, जैसा कि कहा है--'करीन्द्रजीमूतवराहशंखमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि ॥ (कुमारसम्भव १, ६ पर मल्लिनाथ)। (६) **दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः**--असह्य दुःख के कारण किये गये शूत्कार या फूत्कार के वायु से फूली हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर में कञ्चुक, मुख में दो जीभ और सिर पर

तीन फणाओं के होने से मैं ही नाग हूँ, जिसे वासुकि ने आपके आहार के लिए भेजा है। यह महापुरुष नाग नहीं है। इसे खाकर आपने बड़ी गलती की है। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१८॥

गरुडः—[उभौ निरूप्य शङ्खचूडस्य फणां दृष्ट्वा] तत् कः खलु मया व्यापादितः ?

शङ्खचूडः—विद्याधरवंशतिलको जीमूतवाहनः। कथमकारुणिकेन त्वया इदमनुष्ठितम् ?

गरुडः—अये अयमसौ विद्याधरकुमारो जीमूतवाहनः !!

मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारदेशेष्वपि।
उद्देशेष्वपि तेषु तेषु बहुशो यस्य श्रुतं तन्मया
लोकालोकविचारिचारणगणैरुद्गीयमानं यशः ॥१९॥

अन्वय—मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारदेशेषु अपि तेषु तेषु उद्देशेषु अपि लोकालोकविचारिचारणगणैः उद्गीयमानं यस्य तत् यशः मया बहुशः श्रुतम् ॥१९॥

व्याख्या—मेरौ—सुमेरुपर्वते, मन्दरकन्दरासु—मन्दराचलस्य गुहासु, हिमवत्सानौ—हिमालयस्य शिखरे, महेन्द्राचले—महेन्द्रपर्वते, कैलासस्य, शिलातलेषु—पर्वतेषु, मलयप्राग्भारदेशेषु—मलयाचलस्य प्राग्भारदेशाः उन्नताः ये शिखरप्रदेशाः तेषु अपि, तेषु तेषु उद्देशेषु—अन्येषु स्थानेष्वित्यर्थः, लोकालोकविचारिचारणगणैः—लोकालोकः पराचलः तस्मिन् विचारिणः गमनशीलाः ये चारणाः यशोगानपरायणाः देवयोनिविशेषाः तेषां गणैः समूहैः उद्गीयमानम् उच्चैः स्वरेण गीयमानं, यस्य—जीमूतवाहनस्य, तत्—प्रसिद्धं, यशः—कीर्तिः, मया—गरुडेन, बहुशः—अनेकवारं, श्रुतं—श्रवणगोचरीकृतम् ॥१९॥

अनुवाद—गरुड—[दोनों को ध्यानपूर्वक देखकर शंखचूड की फणा देखकर] तो मैंने किसे मार डाला है ?

शंखचूड—विद्याधर-कुल के भूषण जीमूतवाहन को। तुम निर्दय ने यह क्यों किया ?

गरुड—अरे ! ये विद्याधरकुमार जीमूतवाहन हैं !!

सुमेरु पर्वत पर, मन्दराचल की गुफाओं में, हिमालय की चोटी पर, महेन्द्र-पर्वत पर, कैलास की चट्टानों में, मलयपर्वत के पठारों में और उन भिन्न-भिन्न स्थानों में भी लोकालोक पर्वत पर घूमने वाले चारणों के गणों द्वारा उच्च स्वर से गाया जाता हुआ जिसका वह (प्रसिद्ध) यश मैंने बहुत बार सुना है ॥१६॥

टिप्पणी--(१) मलयप्राग्भारदेशेषु--मलयाचल की अधित्यकाओं--पठारों में। 'प्राग्भार उत्कर्षे परभागे पर्वताग्रभागे च' इति हैमः। (२) लोकालोक--सप्तद्वीपा पृथ्वी की चहारदीवारी की तरह विद्यमान एक पर्वत। इसकी एक ओर लोक=प्रकाश है और दूसरी ओर अलोक=अन्धकार है। इसी से इसका नाम लोकालोक पड़ा। कालिदास ने भी रघुवंश में इसका इस प्रकार वर्णन किया है--'प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः'। 'लोकालोकश्च-क्रवालो लोकान्ताद्रिः पराचलः' इति वैजयन्ती। इस श्लोक में बहुत-से पर्वतों के नाम आये हैं, जिनमें मेरु और हिमालय वर्षपर्वत कहलाते हैं तथा महेन्द्र-और मलय कुलपर्वत हैं। जैसा कि कहा है--'हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुरेव च। चैत्रः कर्णी च शृङ्गी च सप्तैते वर्षपर्वताः॥ महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥' इस श्लोक के कथन से जीमूतवाहन का त्रिभुवनविख्यात होना सिद्ध होता है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१६॥

सर्वथा महत्यंहःपङ्के निमग्नोऽस्मि !

नायकः--भोः फणिपते ! किमेवमुद्विग्नोऽसि ?

शंखचूडः—किमस्थानमिदमावेगस्य ?

स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात् परिरक्षता मदीयमिदम् ।
युक्तं नेतुं भवता पातालतलादपि तलं माम् ? ॥२०॥

अन्वय—मदीयम् इदं शरीरं स्वशरीरेण तार्क्ष्यात् परिरक्षता भवता माम् पातालतलात् अपि तलं नेतुं (किं) युक्तम् ? ॥२०॥

व्याख्या—अंहः पङ्के—पापकर्दमे। फणिपते—सर्पराज। उद्विग्नः—व्याकुलहृदयः। आवेगस्य—उद्वेगस्य, अस्थानम्—अनुपयुक्तं स्थलम्।

मदीयम्—मम, इदं—दृश्यमानं, शरीरं—देहं, स्वशरीरेण—निजदेहेन, तार्क्ष्यात्—वैनतेयात्, परिरक्षता—परिपालयता, भवता—त्वया, माम्, पातालतलात् अपि—अधोभुवनात् अपि, तलं—निम्नं नरकमिति यावत्, नेतुं—प्रापयितुं, (किं) युक्तं—समीचीनम्? ॥२०॥

अनुवाद—सब प्रकार से महान् पाप रूपी कीचड़ में मैं डूब गया हूँ।

नायक—हे सर्पराज! तुम इस प्रकार व्याकुल क्यों हो?

शंखचूड—क्या यह व्याकुल होने का अनुचित स्थान है?

मेरे इस शरीर को अपने शरीर के द्वारा गरुड से बचाते हुए आपके लिए क्या यह उचित है कि मुझे पाताल से भी नीचे ले जायें? ॥२०॥

टिप्पणी—(१) अंहः पङ्के—पाप रूपी कीचड़ में। (२) पातालतलादपि—पाताललोक से भी। 'अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलम्' इत्यमरः। श्लोक का भाव यह है कि आप मेरे नश्वर शरीर के लिए अपना लोकोपकारी शरीर देते हुए मुझे निम्न से भी निम्न लोक में ले जा रहे हैं। क्या यह आप जैसे अकारण बन्धु के लिए उचित है? इसमें आर्या छन्द है ॥२०॥

गरुडः—अये! करुणार्द्रचेतसा अनेन महात्मना अस्मद्ग्रासगोचरपतितस्यास्य फणिनः प्राणान् रक्षितुं स्वदेह आहारार्थमुपनीतः। तन्महदकृत्यमेतन्मया कृतम्। किं बहुना, बोधिसत्त्व एवायं व्यापादितः। तस्य महतः पापस्याग्निप्रवेशादृते नान्यत् प्रायश्चित्तं पश्यामि। तत् क्व नु खलु वह्निं समासादयामि? [दिशः पश्यन्] अये! अमी केऽपि गृहीताग्नय इत एवागच्छन्ति। तद् यावदेतान् प्रतिपालयामि।

शङ्खचूडः—कुमार! पितरौ ते प्राप्तौ।

नायकः—[ससम्भ्रमम्] शंखचूड! समुपविश्यानेनोत्तरीयेणाच्छादितशरीरं कृत्वा धारय माम्। अन्यथा कदाचिदीदृशं सहसैव मां दृष्ट्वा पितरौ जीवितं जह्याताम्।

शङ्खचूडः--[पार्श्वपतितमुत्तरीयं गृहीत्वा तथा करोति]

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः]

जीमूतकेतुः--[सास्रम्] हा पुत्र जीमूतवाहन !--

आत्मीयः पर इत्ययं खलु कुतः सत्यं कृपायाः क्रमः ?
किं रक्षामि बहून् किमेकमिति ते जाता न चिन्ता कथम् ?
तार्क्ष्यात् त्रातुमहिं स्वजीवितपरित्यागं त्वया कुर्वता
येनात्मा पितरौ वधूरिति हतं निःशेषमेतत् कुलम् ॥२१॥

अन्वय--अयम् आत्मीयः (अयम्) परः इति सत्यं कृपायाः क्रमः कुतः खलु ? किं बहून् रक्षामि किम् एकं (रक्षामि) इति ते चिन्ता कथं न जाता ? येन तार्क्ष्यात् अहिं त्रातुं स्वजीवितपरित्यागं कुर्वता त्वया आत्मा पितरौ वधूः इति एतत् कुलं निःशेषं हतम् ॥२१॥

व्याख्या--करुणार्द्रचेतसा--करुणया दयया आर्द्रं क्लिन्नं चेतः चित्तं यस्य तादृशेन, अस्मद्ग्रासगोचरपतितस्य--अस्माकं ग्रासस्य भोजनस्य गोचरे देशे पतितस्य भोजनभूतस्येत्यर्थः, फणिनः--सर्पस्य । अकृत्यम्--अकार्यं कुत्सितं कर्मेति यावत् । बोधिसत्त्वः--बोधिः ज्ञानं सत्त्वं स्वभावो यस्य तादृशः, व्यापादितः--मारितः । वह्निम्--अग्निं, समासादयामि--प्राप्नोमि । प्रतिपालयामि--प्रतीक्षे ।

अयम्, आत्मीयः--स्वजनः, (अयम्) परः--स्वस्माद्भिन्नः, इति, सत्यं--यथार्थं, कृपायाः--दयायाः, क्रमः--परिपाटी, कुतः--कस्मात्, खलु ? किं, बहून्--अनेकान्, रक्षामि, किम्, एकं (रक्षामि), इति, ते--तव, चिन्ता, कथं, न, जाता--उत्पन्ना ? येन (हेतुना), तार्क्ष्यात्--गरुडात्, अहिं--सर्पं, त्रातुं--रक्षितुं, स्वजीवितपरित्यागं--निजप्राणत्यागं, कुर्वता--विदधता, त्वया--भवता, आत्मा--स्वदेहः, पितरौ--माता च पिता च, वधूः--मलयवती, इति--एवं प्रकारेण, एतत्--इदं, निःशेषं--समस्तं, कुलं--चक्रवर्तिवंशः, हतं--नाशितम् ॥२१॥

अनुवाद--गरुड--ओह ! दया से द्रवित चित्त वाले इस महात्मा ने हमारे कौर के विषय (भोजन) बने हुए इस साँप के प्राणों की रक्षा के लिए अपना शरीर भोजनार्थ अर्पित कर दिया है। इसलिए मैंने यह बड़ा कुकर्म

किया है। अधिक क्या कहूँ, मैंने इस बोधिसत्त्व को मार डाला है। इस महान् पाप का अग्नि में प्रवेश करने के सिवा दूसरा प्रायश्चित्त नहीं देख रहा हूँ। सो कहाँ अग्नि पाऊँ? [दिशाओं की ओर देखता हुआ] अरे! ये कोई अग्नि लिये हुए इधर आ रहे हैं। तो इनकी प्रतीक्षा कर लूँ।

शंखचूड—कुमार! आपके माता-पिता आये हैं।

नायक—[हड़बड़ी के साथ] शंखचूड! बैठकर इस चादर से मेरे शरीर को ढककर मुझे पकड़े रहो। नहीं तो मुझे इस अवस्था में एकाएक देखकर माता-पिता कदाचित् प्राणत्याग कर देंगे।

शंखचूड—[बगल में गिरी हुई चादर लेकर वैसा ही करता है]

[तदनन्तर पत्नी और पुत्रवधू सहित जीमूतकेतु प्रवेश करता है]

जीमूतकेतु—[आँसू के साथ] हाय बेटा जीमूतवाहन!

'यह अपना है और यह पराया है'—इस प्रकार दया करने का क्रम सचमुच नहीं है। किन्तु, क्या एक की रक्षा करूँ या अनेक की—यह चिन्ता तुम्हें क्यों नहीं हुई? जिस कारण गरुड से साँप को बचाने के लिए अपना जीवन त्याग करते हुए तुमने (अपने) शरीर, माता-पिता और बहू को—इस प्रकार समस्त कुल को—नष्ट कर डाला ॥२१॥

टिप्पणी—(१) अस्मद्ग्रासगोचरपतितस्य—हमारा ग्रास—भोजन बने हुए। (२) बोधिसत्त्वः—ज्ञानी महात्मा, बुद्ध। जो महात्मा संसार को अनित्य समझकर दयाप्लुतचित्त होकर प्राणियों के उपकार में लगा रहता है, उसे बौद्ध शास्त्र में 'बोधिसत्त्व' कहा जाता है। (३) अयम् आत्मीयः—भाव यह है कि दया करते समय यह विचार करना कि यह व्यक्ति अपना है, इस पर दया करनी चाहिए और यह पराया है, इस पर दया नहीं करनी चाहिए—इस प्रकार का विचार करना अनुचित है। कहा भी है—'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥' इसलिए हम पर दया न करके एक अपरिचित नाग पर दया करना तुम्हारा ठीक ही है। (४) तार्क्ष्यात्—गरुड से। इसमें 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' सूत्र से अपादानसंज्ञा—पञ्चमी हुई। (५) पितरौ—माता और पिता। माता च पिता च इति पितरौ 'पिता

मात्रा' इति सूत्रेण एकशेषसमासः। (६) निःशेषम्—समस्त। निर्गतः शेषो यस्मात् तत् (ब० स०)। कहने का तात्पर्य यह है कि एक नाग को बचाकर हम सब को मारने में तुमने असमीक्ष्यकारिता की। अथवा जो हमारा कुलाङ्कुर था, वही हमारे भाग्य-दोष से कुलनाश का कारण बना। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२१॥

वृद्धा—[मलयवतीमुद्दिश्य] जादे ! विरम मुहुत्तअं। अविरतनिवडंतवाष्पविंदूहिं अहिहवीअदि अअं अग्गी। (जाते ! विरम मुहूर्त्तकम्। अविरतनिपतद्वाष्पबिन्दुभिरभिभूयतेऽयमग्निः।)

[सर्वे परिक्रामन्ति]

जीमूतकेतुः—हा पुत्र जीमूतवाहन !

गरुडः—[श्रुत्वा] हा जीमूतवाहन ! इति ब्रवीति। तद् व्यक्तमयमस्य पिता। तत् किमेतदीयेनाग्निना आत्मानमुद्दीपयामि ? न शक्नोम्यस्य पुत्रघातात्लज्जया मुखं दर्शयितुम्। अथवा किमग्निहेतोः पर्याकुलोऽस्मि ? समीपस्थ एवास्मि जलनिधेः। तद् यावदिदानीम्—

ज्वालाभङ्गैस्त्रिलोकग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः
सर्पद्भिः सप्त सर्पिष्कणमिव कलवलीकर्तुमीशे समुद्रान्।
स्वैरेवोत्पातवातप्रसरपटुतरैर्धुक्षिते पक्षवातै-
रस्मिन् कल्पावसानज्वलनभयकरे वाडवाग्नौ पतामि ॥२२॥

[इत्युत्थातुमिच्छति]

अन्वय—उत्पातवातप्रसरपटुतरैः स्वैः एव पक्षवातैः धुक्षिते त्रिलोकग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः सर्पद्भिः ज्वालाभङ्गैः सप्त समुद्रान् सर्पिष्कणमिव कवलीकर्तुम् ईशे कल्पावसानज्वलनभयकरे अस्मिन् वाडवाग्नौ पतामि ॥२२॥

व्याख्या—अविरतनिपतद्बाष्पबिन्दुभिः—अविरतं निरन्तरं निपतद्भिः निःसरद्भिः वाष्पबिन्दुभिः अश्रुकणैः, अभिभूयते—निर्वाप्यते।

उत्पातवातप्रसरपटुतरैः—उत्पाते प्रलये ये वाताः वायवः तेषां प्रसरः प्रसरणं तस्मात् पटुतरैः अधिकैः, स्वैः एव—ममैव, पक्षवातैः—(उड्डयने)

पक्षवेगात् सञ्जातैः वायुभिः, धुक्षिते--दीपिते वर्धिते इति यावत्, त्रिलोकग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः--त्रिलोकस्य त्रयाणां भुवनानां ग्रसने कवलीकरणे यो रसः अभिलाषः तेन चलन्ति इतस्ततः सतृष्णं परिभ्रमन्ति कालस्य मृत्योः जिह्वाग्राणि रसनाग्रभागाः तेभ्यः ईषन्न्यूनैः, सर्पद्भिः--परिचलद्भिः, ज्वालाभङ्गैः --ज्वालातरङ्गैः, सप्त समुद्रान्--सर्वान् सागरान् सर्पिष्कणमिव--घृतबिन्दुमिव, कवलीकर्तुं--ग्रसितुम्, ईशे--समर्थे, कल्पावसानज्वलनभयकरे--कल्पावसाने प्रलये यो ज्वलनः अग्निः तद्वत् भयकरे दारुणे, अस्मिन्--दृश्यमाने, वाडवाग्नौ, पतामि--स्वं शरीरं पातयामीत्यर्थः॥ २२॥

अनुवाद--वृद्धा--[मलयवती को लक्ष्य करके] बेटी ! क्षण भर रुको। निरन्तर झरते हुए आँसू के कणों से यह अग्नि बुझ रहा है।

[सब घूम जाते हैं]

जीमूतकेतु--हाय पुत्र जीमूतवाहन !

गरुड--[सुनकर] हाय जीमूतवाहन ! एसा कह रहा है। इसलिए स्पष्ट है कि यह इसका पिता है। तो क्या मैं इसके अग्नि से अपने को जला डालूँ ? (किन्तु) इसके पुत्र के वध के कारण लज्जा के मारे मैं (इसको अपना) मुँह नहीं दिखा सकता। अथवा अग्नि के लिए मैं क्यों व्याकुल होऊँ मैं समुद्र के पास ही हूँ। इसलिए अभी--

प्रलयकाल के वायु के प्रसार से और भी अधिक वेगवान्, मेरे ही पंखों के वायु से संदीपित किये गये, तीनों लोकों के निगलने की अभिलाषा के कारण फड़कती काल की जिह्वा के अग्रभाग जैसे, फैलती हुई ज्वालाओं की तरंगों से समुद्रों को घी की बूँद के समान भस्म कर डालने में समर्थ और कल्पान्त के अग्नि की भाँति भयंकर इस वडनानल में गिर पड़ता हूँ ॥२२॥

[यह कहकर उठना चाहता है]

टिप्पणी--(१) अविरतनिपतद्बाष्पबिन्दुभिः--लगातार गिरते हुए आसुओं की बूदों से। (२) उत्पातवातप्रसरपटुतरैः--प्रलयकाल में एकत्र हुए पवनों के चलने से और भी तेज हुए। (३) धुक्षिते--दीपित किये गये या भड़काये गये। (४) त्रिलोकग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः--तीनों लोकों के निगलने

के रस (स्वाद या आनन्द) के कारण चलती हुई काल की जीभ के अग्रभाग के समान। त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकम् वा त्रिलोकी (समाहार द्वन्द्व)। कल्प=समान या किञ्चित् न्यून। 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' सूत्र से कल्पप् प्रत्यय हुआ है। (५) ज्वालाभङ्गैः—लपटों की तरंगों से। (६) सर्पिष्कणमिव—घी की बूँद की तरह। 'घृतमाज्यं हविः सर्पिः' इत्यमरः। (७) कवलीकर्तुम्—ग्रास बनाने के लिए। कवल+च्वि, ईत्व√कृ+तुमुन्। (८) ईशे—समर्थ। (९) कल्पावसानज्वलनभयकरे—कल्पान्त (प्रलयकाल) के अग्नि के समान भयंकर। (१०) वाडवाग्नौ—वडवानल में। समुद्र के भीतर के अग्नि को वडवानल कहते हैं। यह समुद्र के जल को खाता रहता है, जिससे समुद्र में बाढ़ नहीं आती है, ऐसा पौराणिकों का कथन है। इस श्लोक में ओजोव्यञ्जक पदावली का प्रयोग किया गया है। इसमें अनुप्रास अलंकार है, जिसका लक्षण है—'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'। (साहित्य-दर्पण)। इसमें स्रग्धरा छन्द है ॥२२॥

नायकः—भोः पक्षिराज ! अलमनेनाध्यवसायेन, नायं प्रतीकारोऽस्य पाप्मनः ।

गरुडः—[जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः] भो महात्मन् ! कस्तर्हि कथ्यताम् ।

नायकः—प्रतिपालय क्षणमेकम् । पितरौ मे प्राप्तौ। यावदेतौ प्रणमामि।

गरुडः—एवं क्रियताम् ।

जीमूतकेतुः—[दृष्ट्वा सहर्षम्] देवि ! दिष्ट्या वर्धसे । अयमसौ वत्सो जीमूतवाहनो न केवलं ध्रियते, प्रत्युत पुरः कृताञ्जलिना गरुडेन शिष्येणेव पर्युपास्यमानस्तिष्ठति।

वृद्धा—महाराअ ! किअत्थम्हि । अक्खदसरीरस्स एव्व पुत्तअस्स मुहं दिट्ठा । (महाराज ! कृतार्थास्मि । अक्षतशरीरकस्यैव पुत्रकस्य मुखं दृष्टम् ।)

मलयवती—अहं अज्जउत्तं पेक्खन्तीव असंभावणीयं ति करिअ

ण पत्तिग्रामि। (ग्रहमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणाप्यसम्भावनीयमिति कृत्वा न प्रत्येमि।)

जीमूतकेतुः—[उपसृत्य] वत्स! एह्येहि। परिष्वजस्व माम्।

नायकः—[उत्थातुमिच्छन् पतितोत्तरीयो मूर्च्छति]

शङ्खचूडः—कुमार! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

जीमूतकेतुः—हा वत्स! कथं मां दृष्ट्वापि परित्यज्य गतोऽसि?

वृद्धा—हा पुत्तग्र! कहं वाग्रामेत्तकेण वि तुए ण संभाविदम्हि? (हा पुत्रक! कथं वाङ्मात्रेणापि त्वया न सम्भावितास्मि?)

मलयवती—हा ग्रज्जउत्त! कहं गुरुग्रओबि दे ण पेक्खिदव्वो? (हा ग्रार्यपुत्र! कथं गुरुजनोऽपि ते न प्रेक्षितव्यः?)

[सर्वे मोहं गच्छन्ति]

व्याख्या—ग्रध्यवसायेन—निश्चयेन चेष्टया वा। पाप्मनः—पापस्य, प्रतीकारः—प्रायश्चित्तम् उपायो वा। प्रतिपालय—प्रतीक्षस्व। ध्रियते—जीवितः तिष्ठति। प्रत्युत—वैपरीत्येन, पर्युपास्यसानः—सेव्यमानः। परिष्वजस्व—ग्रालिङ्ग।

ग्रनुवाद—नायक—हे पक्षियों के राजा! ऐसा निश्चय मत करो। इस पाप का यह प्रायश्चित्त नहीं है।

गरुड—[घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़कर] हे महात्मन्! तब क्या प्रायश्चित्त है?

नायक—एक क्षण ठहरो। मेरे माता-पिता ग्राये हैं, जब तक इनको प्रणाम कर लूँ।

गरुड—ऐसा कीजिए।

जीमूतकेतु—[देखकर हर्ष के साथ] देवी! भाग्य से बढ़ रही हो। यह वह पुत्र जीमूतवाहन केवल जीवित ही नहीं है, बल्कि शिष्य के समान सामने हाथ जोड़े हुए गरुड के द्वारा सेवित होता हुग्रा ग्रवस्थित है।

वृद्धा--महाराज ! मैं कृतार्थ हो गई। मैंने क्षति-रहित शरीर से युक्त ही पुत्र का मुख देखा है।

मलयवती--मैं आर्यपुत्र को देखती हुई भी असंभव जानकर विश्वास नहीं करती हूँ।

जीमूतकेतु--[पास जाकर] पुत्र ! आओ, आओ। मेरा आलिंगन करो।

नायक--[उठना चाहता हुआ चादर के गिर जाने से मूर्च्छित हो जाता है]

शंखचूड--कुमार ! आश्वस्त होइए, आश्वस्त होइए।

जीमूतकेतु--हाय पुत्र ! कैसे मुझे देखकर भी छोड़कर तुम चले गये ?

वृद्धा--हाय पुत्र ! क्यों वचनमात्र से भी तुमने मेरा सम्मान नहीं किया ?

मलयवती--हाय आर्यपुत्र ! क्या आपको माता-पिता को भी नहीं देखना चाहिए ?

[सब मूर्च्छित हो जाते हैं]

टिप्पणी--(१) अध्यवसायेन--निश्चय या चेष्टा। (२) प्रतीकारः--प्रायश्चित्त, शोध। (३) पाप्मनः--पाप का। 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा पापं किल्विषकल्मषम्' इत्यमरः। (४) प्रतिपालय--प्रतीक्षा करो। (५) दिष्ट्या वर्धसे--भाग्य से बढ़ रही हो, तुमको बधाई है। (६) ध्रियते--जी रहा है। (७) पर्युपास्यमानः--सेवित किया जाता हुआ। परि-उप√आस्+लट् (कर्मवाच्य)--शानच्। (८) अक्षतशरीरकस्य--जिसका शरीर क्षत=नष्ट या खोंच-खरोंच से युक्त नहीं हुआ है ऐसे (पुत्र) का। (९) असम्भावनीयम्--जिसकी संभावना नहीं की जा सकती है, असंभव। (१०) सम्भाविता--सम्मान किया।

शङ्खचूडः--हा शङ्खचूडहतक ! कथं गर्भ एव न विपन्नोऽसि, येनैवं क्षणे क्षणे मरणातिगं दुःखमनुभवसि ?

गरुडः—सर्वमिदं मम नृशंसस्यासमीक्ष्यकारितायाः विजृम्भितम् । तदेवं तावत् करोमि । [पक्षाभ्यां वीजयन्] भो महात्मन् ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

नायकः—[समाश्वस्य] शङ्खचूड ! समाश्वासय गुरून् ।

शङ्खचूडः—तात ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । अम्ब ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । समाश्वसितो जीमूतवाहनः, किं न पश्यथ । प्रत्युत युष्मानेव समाश्वासयितुमुपविष्ठस्तिष्ठति ।

[उभौ समाश्वसितः]

वृद्धा—पुत्त ! कहं पेक्खंताणं ज्जेव्व अम्हाणं किदंतहदएण अवहारीअसि ? (पुत्र ! कथं प्रेक्षमाणानामेवास्माकं कृतान्तकेनापह्रियसे ?)

जीमूतकेतुः—देवि ! मैवममङ्गलवादिनी भव । ध्रियत एवायुष्मान् । तद् वधूः समाश्वास्यताम् ।

वृद्धा—[मुखं वस्त्रेणावृत्य रुदती] पडिहदममंगलम् । ण रोइस्सं । मलअवदि ! समस्सस । वच्छे ! उट्ठेहि उट्ठेहि । वरं एत्ति अवेलं तुमं भत्तुणो मुहं पेक्ख । (प्रतिहतममङ्गलम् । न रोदिष्यामि । मलयवति ! समाश्वसिहि । वत्से ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ । वरमेतस्यां वेलायां त्वं भर्तुर्मुखं प्रेक्षस्व ।)

मलयवती—[समाश्वस्य] हा अज्जउत्त ! (हा आर्यपुत्र !)

वृद्धा—[मलयवत्या मुखं पिधाय] वच्छे ! मा एव्वं करेहि । पडिहदं क्खु एदं । (वत्से ! मैवं कुरु । प्रतिहतं खल्वेतत् ।)

व्याख्या—विपन्नोऽसि—मृतोऽसि । मरणातिगं—मरणमति गच्छतीति तत् मृत्युमप्यतिक्रम्य विद्यमानमिति यावत् । नृशंसस्य—घातुकस्य, असमीक्ष्यकारितायाः—विचारमन्तरेण कार्यकरणस्य, विजृम्भितं—फलमित्यर्थः । वीजयन्—पवनं कुर्वन् । प्रेक्षमाणानामेवास्माकं—त्वामवलोकयत एवास्मान् अनादृत्य, कृतान्तेन—मृत्युना, अपह्रियसे—अपनीयसे ।

अनुवाद—**शंखचूड**—हाय अभागा शंखचूड ! तू गर्भ में ही क्यों नहीं मर गया, जो तू इस प्रकार क्षण-क्षण में मृत्यु से भी अधिक दुःख भोग रहा है ?

गरुड—यह सब मुझ क्रूर के बिना विचारे काम करने का परिणाम है। इसलिए तब तक ऐसा करता हूँ। [पंखों से वायु करता हुआ] हे महात्मा ! आश्वस्त होइए, आश्वस्त होइए ।

नायक—[आश्वस्त होकर] शंखचूड ! गुरुजनों को आश्वस्त करो ।

शंखचूड—पिता जी ! आश्वस्त होइए, आश्वस्त होइए । माता जी ! आश्वस्त होइए, आश्वस्त होइए । जीमूतवाहन आश्वस्त हो गए । क्या नहीं देखते ? बल्कि आप ही लोगों को आश्वस्त करने के लिए उठ बैठे हैं।

[दोनों आश्वस्त हो जाते हैं]

वृद्धा—पुत्र ! क्या हम लोगों के देखते ही मृत्यु तुम्हारा अपहरण कर रहा है ?

जीमूतकेतु—देवी ! इस प्रकार अशुभ बोलने वाली मत होओ । चिरञ्जीव जीवित ही है । इसलिए बहू को आश्वासन दो ।

वृद्धा—[मुख को वस्त्र से ढककर रोती हुई] अशुभ नष्ट हो । नहीं रोऊँगी । मलयवती ! आश्वस्त होओ । बेटी ! उठो उठो । अच्छा है, इस समय तुम पति का मुख देख लो ।

मलयवती—[आश्वस्त होकर] हाय आर्य पुत्र !

वृद्धा—[मलयवती का मुँह ढककर] बेटी ! ऐसा मत करो । यह (अमंगल) नष्ट हो गया है ।

टिप्पणी—(१) **विपन्नः**—मृत, नष्ट । वि√पद्+क्त । (२) **मरणातिगम्**—मृत्यु से बढ़कर । मरणम् अतिक्रम्य गच्छतीति मरण-अति√गम्+ड । (३) **नृशंसस्य**—क्रूर, कठोर के । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । (४) **असमीक्ष्यकारितायाः**—बिना सोचे-समझे किये का । सम्√ईक्ष्+क्त्वा—ल्यप्=समीक्ष्य । न समीक्ष्य करोतीति असमीक्ष्यकारी (√कृ+णिनि), तस्य भावः असमीक्ष्यकारिता (असमीक्ष्यकारिन्+तल्+टाप्) । (५) **विजृम्भितम्**—प्रसार, फल । (६)

बीजयन्--पंखा करता हुआ। (७) प्रेक्षमाणानामेवास्माकम्--हमारे देखते ही अर्थात् हमें अनादृत करके। यहाँ 'षष्ठी चानादरे' सूत्र से अनादर में षष्ठी हुई। (८) कृतान्तहतकेन--दुष्ट मृत्यु द्वारा। हत एव हतकः हत+कन्। कृतान्तश्चासौ हतकः (कर्म० स०), तेन। (८) अमङ्गलवादिनी--अशुभ बात बोलने वाली। अमङ्गलं वदतीति अमङ्गल√वद्+णिनि+ङीप्।

जीमूतकेतुः--[सास्रमात्मगतम्]

विलुप्तशेषाङ्गतया प्रयातान्
निराश्रयत्वादिव काण्ठदेशम्।
प्राणांस्त्यजन्तं तनयं निरीक्ष्य
कथं न पापः शतधा व्रजामि ॥२३॥

अन्वय--विलुप्तशेषाङ्गतया निराश्रयत्वात् कण्ठदेशं प्रयातान् इव प्राणान् त्यजन्तं तनयं निरीक्ष्य पापः कथं शवधा न व्रजामि ? ॥२३॥

व्याख्या--विलुप्तशेषाङ्गतया--विलुप्तानि उत्कृत्य भक्षितानि शेषाणि कण्ठं विहाय इतराणि अङ्गानि अवयवाः यस्य तस्य भावः तया, निराश्रयत्वात्--निः नास्ति आश्रयः अवलम्बो येषां तेषां भावः तद्धेतुना, कण्ठदेशं प्रयातान् इव वहिर्निःसरणाय कण्ठं प्राप्तान् इव, प्राणान्--असून्, त्यजन्तं--मुञ्चन्तं, तनयं--पुत्रं, निरीक्ष्य--दृष्ट्वा, पापः--पापसम्पन्नः, (अहं) कथं--कस्मात्, शतधा--शतशः, न व्रजामि--न गच्छामि न विदीर्णो भवामीत्यर्थः ?॥२३॥

अनुवाद--जीमूतकेतु--[आंसू के साथ मन में]

(कंठ को छोड़कर) शेष अंगों के नष्ट हो जाने से आश्रयरहित हो जाने के कारण मानो कंठदेश में चले आये हुए प्राणों को छोड़ते हुए पुत्र को देखकर मैं पापी क्यों सौ टुकड़ों में नहीं हो जाता ? ॥२३॥

टिप्पणी--विलुप्तशेषाङ्गतया--शेष अंगों के लुप्त हो जाने से। (२) पापः--पापी। पापम् अस्ति अस्य इति पापः पाप+अच् अर्शआदित्वात्। (३) शतधा न व्रजामि--टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता हूँ। भाव यह है कि अपने समक्ष पुत्र को मारे जाते हुए देखकर मेरे हृदय को टूक-टूक हो जाना चाहिए। इस पद्य में उपजाति छन्द है ॥२३॥

मलयवती--हा अज्जउत्त ! अदिदुक्खरकारिणी क्खु अहं, जा ईरिसं अज्जउत्तं पेक्खंती अज्जवि जीविअ ण परिच्चआमि । (हा आर्यपुत्र ! अतिदुष्करकारिणी खल्वहं, या ईदृशमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणाद्यापि जीवितं न परित्यजामि ।)

वृद्धा--[नायकस्याङ्गानि स्पृशन्ती गरुडमुद्दिश्य] णिसंस ! कहं दाणिं तुए एदं आपूरिअमाणणवरूवजोव्वणसोहं तं ज्जेव्व एदावदवत्थं पुत्तअस्स मे सरीरं किदम् ? (नृशंस ! कथमिदानीं त्वया एतदापूर्यमाणनवरूपयौवनशोभं तदेव एतदवस्थं ,पुत्रकस्य मे शरीरं कृतम् ?)

नायकः--अम्ब ! मा मैवम् । किमनेन कृतम् ? ननु पूर्वमप्येतदीदृशमेव परमार्थतः । पश्य--

मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघातेऽस्मिंस्त्वचाऽऽवृते ।
शरीरनाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने ? ।।२४।।

अन्वय--मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघाते त्वचाऽऽवृते सदा बीभत्सदर्शने अस्मिन् शरीरनाम्नि का शोभा ? ।।२४।।

व्याख्या--नृशंस--क्रूर, आपूर्यमाणनवरूपयौवनशोभम् आपूर्यमाणानि भ्रियमाणानि नवं नवीनं रूपं स्वरूपं यौवनशोभाश्च यौवनसुलभाः कान्तयश्च यस्मिन् तथाभूतं, मे पुत्रकस्य शरीरम्, एतदवस्थं--चञ्च्वा निर्भिद्य नष्टप्रायं, कृतं—विहितम् । परमार्थतः--तात्त्विकदृष्ट्यावलोकने ।

मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघाते—मेदः वपा अस्थीनि कङ्कालः मांसः पललं मज्जा अस्थिगतः सारः असृक् रुधिरम् एतेषां संघातः संचयः तादृशे, त्वचावृते—चर्मणा आवृते, सदा--सर्वदा, बीभत्सदर्शने--जुगुप्साव्यञ्जके, अस्मिन्, शरीरनाम्नि--मनुष्यदेहरूपे वस्तुनि, का शोभा--नैव किञ्चित् सौन्दर्यं प्रतीयते इत्यर्थः ।।२४।।

अनुवाद--**मलयवती**--हाय आर्यपुत्र ! में बहुत ही कठोर कर्म करने वाली हूँ, जो इस तरह आर्यपुत्र को देखती हुई अब भी जीवन को नहीं त्याग रही हूँ ।

वृद्धा--[नायक के अंगों का स्पर्श करती हुई, गरुड को लक्ष्य करके] क्रूर! क्यों तू ने मेरे पुत्र के अभी भरते हुए नये रूप, यौवन तथा शोभा से युक्त उस शरीर को इस अवस्था में कर दिया ?

नायक--माता ! नहीं, ऐसा मत कहो। इन्होंने क्या किया ? यह (शरीर) वास्तव में पहले भी ऐसा ही था। देखो--

चर्बी, हड्डी, मांस, मज्जा तथा शोणित के ढेर, त्वजा से ढके हुए और सदा घृणित दिखाई देने वाले इस शरीर नामक वस्तु में क्या शोभा (हो सकती है) ? ॥२४॥

टिप्पणी--(१) अतिदुष्करकारिणी--अत्यन्त कठिन (कार्य) करने वाली, बड़ी ही कठोर या निर्दय। (२) त्वचावृते--त्वचा (चमड़े) से ढके हुए। भाव यह है कि तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह शरीर चमड़े से ढके हुए मांस, चर्बी, हड्डी आदि का ढेर ही तो दिखाई देता है। अतः इसको सुन्दर समझना भ्रम है। अन्यत्र भी कहा है--

मांसं मेदो रुधिरं रोम नखं देहतो विनैकैकम् ।
बीभत्सं संघाते रमणीयमहो विमोहमाहात्म्यम् ॥

शान्तिशतक में भी कहा है--

समाश्लिष्यत्युच्चर्घनपिशितपिण्डं स्तनधिया
मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिति ।
अमेध्ये क्लेदार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिको
महामोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति ॥

और देखिए--

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद् बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥

इस पद्य में अनुष्टुप् छन्द है ॥२४॥

गरुडः--भो महात्मन् ! नरकानलज्वालावलीढमिवात्मानं मन्यमानो दुःखं तिष्ठामि। तदुपदिश्यतां, येन मुच्येऽहमस्मादेनसः ।

नायकः——अनुजानातु मां तातः, यावदस्य पापस्य प्रतिपक्षमुपदिशामि ।

जीमूतकेतुः——वत्स ! एवं क्रियताम् ।

नायकः——वैनतेय ! श्रूयताम् ।

गरुडः——[जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः] आज्ञापय ।

नायकः——

नित्यं प्राणाभिघातात्प्रतिविरम कुरु प्राक्कृते चानुतापं
यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम् ।
मग्नं येनात्र नैनः फलति [1]परिमितप्राणिहिंसात्तमेतद्
[2]दुर्गाधापारवारेर्लवणपलमिव क्षिप्तमन्तर्ह्रदस्य ॥२५॥

अन्वय——नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम, च प्राक्कृते अनुतापं कुरु, सर्वसत्त्वेषु अभीतिं दिशन् यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु, येन दुर्गाधापारवारेः ह्रदस्य अन्तः क्षिप्तं लवणपलमिव परिमितप्राणिहिंसात्तम् एतत् एनः अत्र मग्नं न फलति ॥२५॥

व्याख्या—नरकानलज्वालावलीढं——नरकानलानां (प्रकृष्टपातकिनां दाहाय ज्वलतां) नरकाग्नीनां ज्वालाभिः अवलीढम् आस्वाद्यमानं दह्यमानमिति यावत्, आत्मानं——स्वदेहं, मन्यमानः——चिन्तयन्, दुःखं तिष्ठामि——कृच्छ्रेण स्थितिं करोमि । एनसः——पापात् । अनुजानातु——आज्ञापयतु, तातः——पिता । पापस्य प्रतिपक्षं——प्रतिकूलं पुण्यमिति यावत् ।

नित्यं——प्रतिदिनं, प्राणाभिघातात्——प्राणिनां हिंसनात्, प्रतिविरम——निवर्तस्व । च——तथा, प्राक्कृते——पूर्वं मोहादनुष्ठिते (पापकर्मणि), अनुतापं——प्रायश्चित्तं, कुरु——विधेहि, सर्वसत्त्वेषु——सकलप्राणिषु, अभीतिम्——अभयं, दिशन्——ददत्, यत्नात्——प्रयत्नमाधाय, पुण्यप्रवाहं——सन्तानवाहि सुकृतं, समुपचिनु——एकत्रीकुरु, येन——हेतुना, दुर्गाधापारवारेः——दुर्गाधम् अतीवागाधम् अपारं च वारि जलं यस्मिन् तादृशस्य, ह्रदस्य कासारस्य, अन्तः——मध्ये, क्षिप्तं——निहितं, लवणपलमिव——लवणस्य अल्पा मात्रा इव, परिमितप्राणिहिंसात्तं,——परिमिता-

---

१. परिणतं प्राणिहिंसासमुत्थं । २. दुर्गाधावारिपूरे ।

नाम् अल्पानां प्राणिनां जीवानां हिंसया आत्तं समुत्पादितम्, एतत्, एनः--पापम्, अत्र--सुकृते, मग्नम्--अन्तर्गतं, न फलति--न प्रसूते ।।२५।।

अनुवाद--गरुड--हे महात्मा ! नरक के अग्नियों की ज्वालाओं से जले हुए की तरह अपने को समझता हुआ मैं दुःख से रह रहा हूं। इसलिए उपदेश दीजिए, जिससे मैं इस पाप से मुक्त हो जाऊँ।

नायक--पिता जी मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं इस पाप के प्रतिकूल (पुण्य) का उपदेश करूँ।

जीमूतकेतु--वत्स ! ऐसा करो।

नायक--गरुड ! सुनो।

गरुड--[घुटने टेककर अंजलि बाँधे] आज्ञा दीजिए।

नायक--नित्य जीव-हिंसा से विरत रहो, पहले किये गये (क्रूर) कर्म के लिए पश्चात्ताप करो, समस्त प्राणियों को अभयदान देते हुए यत्नपूर्वक पुण्य का प्रवाह संचित करो, जिससे अथाह एवं पार करने न योग्य जल वाले तालाब में डाले गये पल-भर नमक की तरह परिमित प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न हुआ यह पाप इसमें डूब कर फल न दे।।

टिप्पणी--(१) नरकानलज्वालावलीढम्--नरकाग्नि की लपटों से आस्वादित अर्थात् भस्मीभूत। (२) एनसः--पाप से। 'एनः पापापराधयोः' इति मेदिनी। (३) मुच्ये--छूट जाऊँ। √मुच्+लट् (कर्मणि) उ० पु० ए०। (४) पापस्य प्रतिपक्षम्--पाप का प्रतिकूल पक्ष अर्थात् प्रायश्चित्त या पुण्य। (५) प्राणाभिघातात्--प्राणियों की हिंसा से। (६) प्रतिविरम--निवृत्त हो जाओ। (७) प्राक्कृते--पहले किये गये (बुरे कर्म) पर। (८) अनुतापम्--पछतावा। (९) दुर्गाधापारवारे--अत्यन्त अगाध और दुष्पार जल वाले। 'दुर्गाधे वारिपूरे' पाठ-भेद का अर्थ होगा--'अगाध जल-समूह में'। (१०) लवणपलमिव--थोड़े-से (छटाँक भर) नमक की तरह। 'पलं कर्षचतुष्टयम्' इत्यमरः। (११) परिमितप्राणिहिंसात्तम्--अल्प जीवहिंसा के अधीन अर्थात् थोड़ी-सी जीव-हिंसा से उत्पन्न किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे अगाध जलराशि वाले तालाब में फेंकी गई नमक की डली घुलकर अपना कोई

भी फल नहीं दिखाती, उसी प्रकार तुम्हारा थोड़ा-सा जीव-हिंसारूप पाप पुण्य-प्रवाह में घुलकर फलोत्पत्ति नहीं कर सकेगा। इस श्लोक के चतुर्थ चरण में उपमा अलंकार है और इसमें स्रग्धरा छन्द है ।।२५।।

गरुडः––यदाज्ञापयसि।

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः।
सर्वप्राणिवधादेष विरतोऽद्यप्रभृत्यहम् ।।२६।।

अन्वय––अज्ञाननिद्राशयितः भवता प्रतिबोधितः एषः अहम् अद्यप्रभृति सर्वप्राणिवधात् विरतः ।।२६।।

व्याख्या––अज्ञाननिद्राशयितः––अज्ञानं तत्त्वाग्रहणरूपं तदेव निद्रा विवेकरूपजागरराहित्येन यत्किञ्चित्कारित्वम् तया शयितः कर्तव्यविषयेषु विवेकवैधुर्यात् पराङ्मुखः, एषः, अहम्, अद्यप्रभृति––अद्यारभ्य, सर्वप्राणिवधात्––समस्तजीवहिंसातः, विरतः—निवृत्तो जातः ।।२६।।

अनुवाद—गरुड—जो आज्ञा दीजिए।

अज्ञानरूपी नींद में सोया और तुम्हारे द्वारा जगाया गया यह मैं आज से लेकर सब प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हो गया ।।२६।।

टिप्पणी––(१) **अज्ञाननिद्राशयितः––**अज्ञान रूपी नींद में सोया हुआ। (२) **प्रतिबोधितः—**जगाया गया। प्रति√बुध्+णिच्+क्त कर्मणि। (३) **सर्वप्राणिवधात्––**सकल प्राणियों की हत्या से। भाव यह है कि आज से मैं बिलकुल हिंसा नहीं करूँगा ।।२६।।

सम्प्रति हि––

क्वचिद् द्वीपाकारः पुलिनविपुलैर्भोगनिवहैः
कृतावर्त्तभ्रान्तिर्वलयितशरीरः क्वचिदपि।
व्रजन् कूलात् कूलं क्वचिदपि च सेतुप्रतिसमः
समाजो नागानां विहरतु महोदन्वति सुखम् ।।२७।।

अन्वय––क्वचित् पुलिनविपुलैः भोगनिवहैः द्वीपाकारः, क्वचित् अपि वलयितशरीरः कृतावर्त्तभ्रान्तिः, क्वचित् अपि च कूलात् कूलं व्रजन् सेतुप्रतिसमः नागानां समाजः महोदन्वति सुखं विहरतु ।।२७।।

व्याख्या—क्वचित्—कुत्रचित्, पुलिनविपुलैः—पुलिनवत् तीरस्थभूमिवत् विपुलैः विशालैः, भोगनिवहैः—भोगानां फणानां निवहैः समुच्चयैः, द्वीपाकारः—द्वीपस्येवाकारः स्वरूपं येषां तथाभूतः, क्वचित् अपि—कस्मिन्नपि प्रदेशे, वलयितशरीरः—वलयितानि स्वजातिस्वभावेन कुण्डलीकृतानि शरीराणि कायाः येन तादृशः, कृतावर्त्तभ्रान्तिः—कृता उत्पादिता आवर्त्तस्य अम्भसां भ्रमस्य भ्रान्तिः येन तादृशः, क्वचित् अपि च, कूलात्—एकस्मात् तटात्, कूलम्—अपरं तीरं, व्रजन्—गच्छन्, सेतुप्रतिसमः—सेतुसदृशः, नागानां—सर्पाणां, समाजः समूहः, महोदन्वति—महासमुद्रे, सुखम्—आनन्देन, विहरतु—विहारं करोतु ॥२७॥

अनुवाद—इस समय तो—

कहीं रेतीले तट की तरह विशाल फणों के समूहों से द्वीप जैसा बना हुआ, कहीं शरीर को कुंडलित कर देने से जलभँवर की भ्रान्ति उत्पन्न करता हुआ और कहीं एक किनारे से दूसरे किनारे तक जाता हुआ पुल जैसा (दीखने वाला) नागों का समूह महासमुद्र में सुखपूर्वक विहार करे ॥२७॥

टिप्पणी—(१) **पुलिनविपुलैः**—तीरस्थ भूमि के समान विशाल। (२) **भोगनिवहैः**—फणों या शरीरों के समूहों से। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। 'समूहनिवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः' इति चामरः। (३) **वलयितःशरीरः**—शरीरों को कुंडलाकार बनाये हुआ। (४) **कृतावर्त्तभ्रान्तिः**—जल के भँवर का भ्रम पैदा करने वाला। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। (५) **सेतुप्रतिसमः**—पुल के समान। (६) **महोदन्वति**—महासागर में। 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः। उदक+मतुप् 'उदन्वानुदधौ च' इति सूत्रेण उदकस्य उदन् आदेशः। तात्पर्य यह है कि मेरे भय से पाताल में छिपे नाग लोग अब अभय पा जाने से समुद्र के ऊपर आकर स्वेच्छा से कालयापन करें। इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है, जिसका लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥२७॥

अपि च—

स्रस्तानापादलम्बान् तिमिरचयनिभान् केशहस्तान् वहन्त्यः
सिन्दूरेणेव दिग्धैः प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः कपोलैः ।

आयासेनालसाङ्ग्योऽप्यवगणितरुजः कानने चन्दनाना-
मस्मिन् गायन्तु रागादुरगयुवतयः कीर्तिमेतां तवैव ॥२८॥

अन्वय—स्रस्तान् आपादलम्बान् तिमिरचयनिभान् केशहस्तान् वहन्त्यः प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः सिन्दूरेण इव दिग्धैः कपोलैः आयासेन अलसाङ्ग्यः अपि अवगणितरुजः उरगयुवतयः चन्दनानाम् अस्मिन् कानने तवैव एतां कीर्तिं रागात् गायन्तु ॥२८॥

व्याख्या--स्रस्तान्--विकीर्णान् च्युतान् वा, आपदालम्बान्--चरणपर्यन्तं लम्बायमानान्, तिमिरचयनिभान्--तिमिरस्य अन्धकारस्य चयः समूहः तत्तुल्यान्, केशहस्तान्—प्रशस्तान् केशान्, वहन्त्यः--धारयन्त्यः, प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः--प्रथमस्य रवेः उदयोन्मुखस्य सूर्यस्य कराणां किरणानां स्पर्शेन संघट्टनया ताम्रैः रक्तवर्णैः, (अतएव) सिन्दूरेण इव, दिग्धैः—उपलिप्तैः, कपोलैः—गण्डस्थलैः (उपलक्षिताः), आयासेन--परिश्रमेण, अलसाङ्ग्यः--परिम्लानगात्राः, अपि, अवगणितरुजः--अनिरूपितपरिश्रमाः, उरगयुवतयः--सर्पतरुण्यः, चन्दनानाम्, अस्मिन्, कानने--वने, तवैव--भवत एव, एतां--सर्वत्र प्रख्यातां, कीर्तिं—यशः, रागात्--स्नेहप्राचुर्यात्, गायन्तु—कीर्तयन्तु ॥२८॥

अनुवाद—और भी—

बिखरे हुए, पैर तक लटकने वाले और अन्धकार के समूह की तरह (काले-काले) केशकलापों को धारण करती हुई, उदयकालीन सूर्य की किरणों के स्पर्श से मानों सिन्दूर से पुते लाल-लाल गालों तथा श्रम के कारण अलसाये अंगों से युक्त होने पर भी क्लेश को न गिनने वाली नाग-युवतियाँ चन्दनों के इस वन में आप ही की इस कीर्ति को प्रेम से गाती रहें ॥२८॥

टिप्पणी--(१) **स्रस्तान्**--ढीले-ढीले या बिखरे हुए। √स्रंस्+क्त। (२) **आपादलम्बान्**--पैरों तक लम्बे। (३) **तिमिरचयनिभान्**--अंधकार के समूह के समान (काले)। यहाँ 'घनतिमिरनिभान्' पाठभेद मिलता है। (४) **केशपाशान्**--सुन्दर बालों को। प्रशस्ताः केशाः इति केशपाशाः 'प्रशंसावचनैश्च' इति सूत्रेण नित्यतत्पुरुषसमासः। 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः। 'बालस्तु तत्परः पाशो रचनाभार उच्चयः। हस्तः पक्ष कलापश्च केशभूयस्त्ववाचकाः ॥" (५) **प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः**--सूर्य की

किरणों के प्रथम स्पर्श से लाल। (६) सिन्दूरेण इव दिग्धैः--मानो सिन्दूर से पुते हुए। (७) कपोलैः--गालों से युक्त। यहाँ 'इत्थंभूतलक्षणे' सूत्र से उपलक्षण में तृतीया हुई। कपोलैः उपलक्षिताः। (८) अलसाङ्ग्यः--आलस्ययुक्त अंगों वाली। (९) अवगणितरुजः--श्रमजनित क्लेश को न गिनती हुई। (१०) उरगसुवतयः--नागों की युवतियाँ। इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है ॥२८॥

नायकः--साधु महासत्त्व! साधु, अनुमोदामहे। सर्वथा दृढसमाधानो भव। [शङ्खचूडं निर्दिश्य] शङ्खचूड! त्वयापि स्वगृहमिदानीं गम्यताम्।

शङ्खचूडः--[निःश्वस्याऽधोमुखस्तिष्ठति]

नायकः--[निःश्वस्य मातरं पश्यन्]

उत्प्रेक्षमाणा त्वां तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितम्।
त्वद्दुःखदुःखिता [1]दुःखमास्ते सा जननी तव ॥२९॥

अन्वय--त्वाम् तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितम् उत्प्रेक्षमाणा तव सा जननी त्वद्दुःखदुःखिता दुःखम् आस्ते ॥२९॥

व्याख्या--अनुमोदामहे--समर्थयामहे। दृढसमाधानः--दृढम् अविचलितं समाधानं चित्तस्यैकाग्रता यस्य तादृशः।

त्वाम्--भवन्तम्, तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितं--तार्क्ष्यस्य गरुडस्य चञ्च्वाः त्रोट्याः कोट्या अटन्या विपाटितं विदारितम्, उत्प्रेक्षमाणा--सम्भावयन्ती, तव--ते, सा, जननी--माता, त्वद्दुःखदुःखिता--तव दुःखेन कष्टेन दुःखिता आकुला (सती), दुःखं--कष्टेन, आस्ते--समयं नयति ॥२९॥

अनुवाद--नायक--ठीक है महाप्राणी! ठीक है।

हम इसका समर्थन करते हैं। सर्वथा दृढ निश्चयी बनो, [शंखचूड को लक्ष्य करके] शंखचूड! तुम भी अब अपना घर जाओ।

शंखचूड--[लंबी सांस लेकर मुँह नीचे किये हुए खड़ा रहता है]

---

१ नून०।

नायक--[आह भरकर माता की ओर देखता हुआ]

तुमको गरुड की चोंच के अग्रभाग से फाड़ा हुआ समझती हुई तुम्हारी वह माता तुम्हारे दुःख से दुःखित होकर कष्ट से रह रही है ॥२९॥

टिप्पणी--(१) दृढसमाधानः—जिसके चित्त की एकाग्रता अविचल हो ऐसा, अटल निश्चयी। (२) तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितम्--गरुड की चोंच के अग्रभाग से विदीर्ण किया हुआ। 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियौ' इत्यमरः। 'कोट्युत्कर्षाटनीसंख्याश्रीषु' इति हैमः ॥२९॥

वृद्धा--[सास्रम्] धण्णा क्खु सा जणणी, जा गरुडमुहपडिदस्स अक्खदसरीरस्स ज्जेव्व पुत्तअस्स मुहं पेक्खिस्सदि। (धन्या खलु सा जननी, या गरुडमुखपतितस्याक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं प्रेक्षिष्यते।)

शङ्खचूडः--अम्ब ! सत्यमेवैतत्, यदि कुमारः स्वस्थो भविष्यति।

नायकः--[वेदनां नाटयन्] हहह ! परार्थसम्पादनामृतरसास्वादाक्षिप्तत्वादेतावतीं वेलां मया न लक्षिताः, सम्प्रति तु मां बाधितुमारब्धा मर्मच्छेदिन्यो वेदनाः। [मरणावस्थां नाटयति]

जीमूतकेतुः--[ससम्भ्रमम्] हा वत्स ! किमेवं करोषि ?

वृद्धा--हा ! किं णु क्खु एव्वं वत्तदि ? [सोरस्ताडम्] परित्ताअह परित्ताअह। एसो क्खु मे पुत्तओ विवज्जइ। (हा ! किं नु खल्वेवं वर्तते ? परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। एष खलु मे पुत्रको विपद्यते।)

मलयवती—हा अज्जउत्त ! परिच्चइदुकामो विअ लक्खीअसि। (हा आर्यपुत्र ! परित्यक्तुकाम इव लक्ष्यसे।)

नायकः--[अञ्जलिं कर्तुमिच्छन्] शङ्खचूड ! समानय मे हस्तौ।

शङ्खचूडः--[कुर्वन्] कष्टम् !! अनाथीकृतं जगत्।

नायकः--[अर्धोन्मीलितचक्षुः पितरं पश्यन्] तात! अम्ब! अयं मे पश्चिमः प्रणामः।

गात्राण्यमूनि न वहन्ति [1]विचेतनानि
श्रोत्रं स्फुटाक्षरपदा न गिरः शृणोति।
कष्टं निमीलितमिदं सहसैव चक्षु-
र्हा तात! यान्ति विवशस्य ममासवोऽमी ॥३०॥

अथवा किमनेन प्रलपितेन [‘संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्’--इत्यादि[2] पठित्वा पतति]

अन्वय--विचेतनानि अमूनि गात्राणि न वहन्ति, श्रोत्रं स्फुटाक्षरपदाः गिरः शृणोति, न कष्टम्! इदं चिक्षुः सहसा एव निमीलितम्, हा तात! विवशस्य मम अमी असवः यान्ति ॥३०॥

व्याख्या--हहह--निरतिशयखेदसूचकमव्ययमेतत्। परार्थसम्पादनामृतरसास्वादाक्षिप्तत्वात्--परार्थानां परहितानां सम्पादने निष्पादने यः अमृततुल्यः रसः नितरामानन्दः तेन आक्षिप्तत्वात् मच्चित्तस्य आक्रान्तत्वात्, एतावतीं वेलाम्--इयन्तं कालम् (अभिव्याप्य), न लक्षिताः--न विदिताः, वेदनाः--पीडाः। ससम्भ्रमं--सभयमित्यर्थः।

विचेतनानि--विगता चेतना वस्तुग्रहणशक्तिः येभ्यः तादृशानि, अमूनि--एतानि, गात्राणि--अङ्गानि, न वहन्ति--न धारयन्ति स्वं स्वरूपमिति शेषः, श्रोत्रं--कर्णः, स्फुटाक्षरपदाः--स्फुटानि विशदम् उच्चारितानि अक्षराणि येषु तादृशानि पदानि सुप्तिङन्ताख्यानि यासु तथोक्ताः, गिरः--वाचः, न शृणोति--न आकर्णयति। कष्टम्--खेदः, इदं, चक्षुः--नेत्रं, सहसा एव--अकस्मादेव, हा तात--हा पितः, विवशस्य--विकलेन्द्रियस्य, मम--मे, अमी, असवः--प्राणाः, यान्ति--गच्छन्ति ॥३०॥

अनुवाद--वृद्धा--[आंसू के साथ] वह माता धन्य है, जो गरुड के मुख से गिरे हुए तथा घाव रहित शरीर से युक्त ही पुत्र का मुँह देखेगी।

शंखचूड--माता! यह सत्य ही है, यदि कुमार स्वस्थ हो जायँ।

---

१. सचेतनत्वं। २. चतुर्थेऽङ्के श्लोकः २६।

नायक--[वेदना का अभिनय करता हुआ] परोपकार रूपी अमृत रस के आस्वाद से आक्रान्त होने के कारण इतने समय तक तो मुझे पीड़ा नहीं मालूम हुई, किन्तु अब मर्मस्थलों को छेदती हुई वेदनायें मुझे कष्ट दे रही हैं। [मरण-दशा का अभिनय करता है]

जीमूतकेतु--[घबराहट के साथ] हाय बेटे! ऐसा क्यों कर रहे हो?

वृद्धा--हाय! ऐसा क्यों हो रहा है? [छाती पीटती हुई] बचाओ, बचाओ। यह मेरा बेटा मर रहा है।

मलवती--हाय आर्यपुत्र! आप हम लोगों को छोड़ने के इच्छुक जैसे दीख रहे हैं।

नायक--[अंजलि बांधना चाहता हुआ] शंखचूड! मेरे हाथों को मिला दो।

शंखचूड--[(वैसा) करता हुआ] कष्ट की बात है कि संसार अनाथ हो गया।

नायक--[आधे खुले हुए नेत्रों से पिता को देखता हुआ] पिता जी! यह मेरा अन्तिम प्रणाम है।

चेतना से रहित ये अंग (अपना स्वरूप) धारण नहीं करते; कान स्पष्ट अक्षरों से युक्त पदों वाली वाणी नहीं सुनता; कष्ट की बात है कि यह आँख एकाएक मूँद गई है। हाय पिता जी! विवश हुए मेरे ये प्राण जा रहे हैं ॥३०॥

अथवा इस प्रलाप से क्या लाभ? ['संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्' इत्यादि पढ़कर गिर पड़ता है]

टिप्पणी (१) परार्थसम्पादनामृतरसास्वादाक्षिप्तत्वात्--परोपकार करने में अमृत के समान रस के आस्वादन (अत्यन्त आनन्द) से आक्रान्त होने के कारण। (२) एतावतीं वेलाम्--इतने समय तक। इसमें 'कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे' सूत्र से द्वितीया हुई। (३) ससम्भ्रमम्--भय या घबराहट के साथ। 'सम्भ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्' इति मेदिनी (४) सोरस्ताडम्--छाती पीटती हुई। उरसः ताडः (ष० त०), उरस्ताडेन सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा

(तेन सहेति ब० स०), क्रियाविशेषणमेतत्। (५) परित्यक्तुकामः--त्यागने के इच्छुक। परित्यक्तुं कामः इच्छा यस्य सः (ब० स०), 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि' इति कारिकया मकारस्य लोपः। (६) समानय--जोड़ दो। (७) अर्धोन्मीलितचक्षुः--आधी खुली आंखों वाला। (८) पश्चिमः--अन्तिम। 'पश्चात् प्रतीच्यां चरमे' इत्यनेकार्थसंग्रहः। (९) विचेतनानि--चेतना-शून्य। यहाँ 'सचेतनत्वं' पाठ भेद रखने पर अर्थ होगा—'चेतना नहीं रखते'। (१०) स्फुटाक्षरपदा--स्पष्ट अक्षरों से युक्त पदों वाली या स्पष्ट अक्षरों और पदों वाली। इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ॥३०॥

वृद्धा--हा पुत्त ! हा वच्छ ! हा गुरुअणवच्छल ! कहिं सि ? देहि मे पडिवअणं। (हा पुत्र ! हा वत्स ! हा गुरुजन-वत्सल ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम्।)

जीमूतकेतुः--हा वत्स जीमूतवाहन ! हा प्रणयिजनवल्लभ ! हा सर्वगुणनिधे ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम्। [हस्तावुत्क्षिप्य]

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥३१॥

अन्वय--तनय ! त्वयि लोकान्तरगते धैर्यं निराधारं, विनयः कमिव शरणं यातु ? कः इह क्षान्तिं वोढुं क्षमः ? दानपरता विरता, सत्यं सत्यं हतम्, कृपणा करुणा अद्य क्व व्रजतु ? जगत् शून्यं जातम् ॥३१॥

व्याख्या--तनय--पुत्र !, त्वयि--भवति, लोकान्तरगते--(अस्मान् परित्यज्य) भिन्नं लोकं प्राप्ते (सति), धैर्यं--कष्ट-सहिष्णुता, निराधारं--निः नस्ति आधारः आश्रयः सस्य तादृशं, विनयः—नम्रता, कमिव--जनं, शरणम्--आश्रयाय, यातु--गच्छतु ? कः--जनः, इह—संसारे, क्षान्तिं--क्षमागुणं, वोढुं—धारयितुं, क्षमः—समर्थः ? दानपरता--वदान्यता, विरता—निवृत्ता, सत्यं—सत्यभाषणं, सत्यं--नूनं, हतं--नष्टं, कृपणा--दीना, करुणा—अनुक-

म्पागुणः, अद्य--अधुना, क्व--कुत्र, व्रजतु--गच्छतु ? जगत्--संसारः, शून्यं--निःसारं, जातम्--अभूत् ॥३१॥

अनुवाद--वृद्धा--हाय बेटे ! हाय बच्चे ! हाय गुरु जनों के प्यारे ! कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो।

जीमूतकेतु--हाय पुत्र जीमूतवाहन ! हाय स्नेही जनों के प्रिय ! हाय सब गुणों के खजाने ! कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो। [दोनों हाथों को उठाकर]

पुत्र ! तुम्हारे परलोक चले जाने पर धैर्य बिना आधार का हो गया। नम्रता (अब) किसकी शरण में जाये ? कौन यहाँ क्षमा के धारण में समर्थ होगा ? दानपरायणता उठ गई। सत्य की सचमुच हत्या हो गई। बेचारी करुणा अब कहाँ जाये ? संसार शून्य हो गया ॥३१॥

टिप्पणी--(१) लोकान्तरगते--दूसरे लोक में चले जाने पर अर्थात् स्वर्गवासी हो जाने पर। (२) निराधारम्--आधार या आश्रय से रहित। (३) वोढुम्--वहन या धारण करने के लिए। √वह्+तुमुन्, ओत्वं, घत्व, ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप। (४) क्षमः--समर्थ। √क्षम्+अच्। 'क्षमः शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। (५) दानपरता--दानशीलता या उदारता। दानम् एव परं प्रधानं यस्य स दानपरः (ब० स०), तस्य भावः दानपरता दानपर+तल्+टाप्। इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है ॥३१॥

मलयवती-- हा अज्जउत्त ! कहं परिच्चइअ गदोसि ? अदिणिग्घिणे मलअवदि ! किं दुए पेक्खिदव्वं जा एत्तिअं वेलं जीविआसि ? (हा आर्यपुत्र ! कथं परित्यज्य गतोऽसि ? अतिनिर्घृणे मलयवति ! किं त्वया प्रेक्षितव्यं या एतावतीं वेलां जीवितासि ?)

शङ्खचूडः--हा कुमार ! क्वेमं प्राणेभ्योऽपि वल्लभं जनं परित्यज्य गम्यते ? तदवश्यमन्वेति त्वां शङ्खचूडः।

गरुडः--[सोद्वेगम्] कष्टम् ! उपरतोऽयं महात्मा। तत् किमिदानीं करोमि ?

वृद्धा--[सास्रमूर्ध्वमवलोक्य] भअवंतो लोअपाला ! कहं पि अमिदेण सिंचिअ पुत्तअं मे जीआवेहि। (भगवन्तो लोकपालाः ! कथमप्यमृतेन सिक्त्वा पुत्रकं मे जीवयत।)

गरुडः--[सहर्षमात्मगतम्] अये ! अमृतसंकीर्तनात् साधु स्मृतम् । मन्ये प्रमृष्टमयशः । तद् यावत् त्रिदशपतिमभ्यर्थ्य तद्विसृष्टेनामृतवर्षणेन न केवलं जीमूतवाहनम्, एतानपि पूर्वभक्षितानस्थिशेषानाशीविषान् प्रत्युज्जीवयामि । यदि न ददात्यसौ तदाऽहम्--

[1]पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः पटुतरजवनैः प्रेर्यमाणैः समीरैः
नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः ।
चञ्च्वा सञ्चूर्ण्य शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान्
आजौ निर्जित्य देवान् क्षणममृतमयीं वृष्टिमभ्युत्सृजामि ॥३२॥

अन्वय--प्रेर्यमाणैः पटुतरजवनैः समीरैः पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः, नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः, चञ्च्वा शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान् सञ्चूर्ण्य आजौ देवान् निर्जित्य क्षणम् अमृतमयीं वृष्टिम् अभ्युत्सृजामि ॥३२॥

व्याख्या--प्रेर्यमाणैः--प्रतीपम् ईर्यमाणैः, पटुतरजवनैः--अतिशयवेगयुक्तैः, समीरैः--पवनैः, पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः--पक्षाभ्याम् उत्क्षिप्तः निरस्तः अम्बुनाथः समुद्रः येन तादृशः, नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः--नेत्रयोः चक्षुषोः यः अग्निः वह्निः तेन प्लोषः दाहः तस्य मूर्च्छया आतिशय्येन विधुराः अधिकतरतेजः संपातात् हीनाः विनिपतन्तः स्वस्थानात् च्यवन्तः सानलाः साग्नयः द्वादश अर्काः सूर्याः येन तादृशः, चञ्च्वा--त्रोट्या, शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान्--शक्रस्य इन्द्रस्य अशनिः वज्रं धनदस्य कुवेरस्य गदा प्रेतलोकेशस्य यमराजस्य दण्डः प्रहरणविशेषः एतानि आयुधानि, सञ्चूर्ण्य--निष्पीड्य, आजौ--संग्रामे, देवान्--सुरान्, निर्जित्य--विजित्य, क्षणं--क्षणकालं, वृष्टिं--वर्षणम्, अभ्युत्सृजामि--पातयामि ॥३२॥

अनुवाद--मलयवती--हाय आर्यपुत्र ! क्यों छोड़कर चले गये हो ? अत्यन्त निष्ठुर मलयवती ! तुम्हें (अब) क्या देखना है, जो इतने समय तक जीवित हो ?

---

१. पक्षे पीत्वाम्बुनाथः पटुजवपवनः । २. अन्तः संमग्नपक्षः ।

शंखचूड--हाय कुमार ! क्यों प्राणों से भी प्रिय इस जन को छोड़कर जा रहे हो ? इसलिए शंखचूड तुम्हारा अवश्य अनुगमन करेगा ।

गरुड--[उद्वेग के साथ] कष्ट की बात है कि यह महात्मा चल बसा । तो अब मैं क्या करू ?

वृद्धा--[आँसू के साथ ऊपर देखकर] हे भगवान् लोकपालो ! किसी भी प्रकार अमृत से सींचकर मेरे पुत्र को जिला दीजिए ।

गरुड--[हर्ष के साथ मन में] अरे ! अमृत का नाम लेने से ठीक स्मरण हो गया है। मैं समझता हूँ कि अपयश घुल गया । तो तब इन्द्र से प्रार्थना करके उनके द्वारा की गई अमृतवर्षा से न केवल जीमूतवाहन को अपितु पहले खाये गये इन अस्थि मात्र शेष वाले साँपों को भी जिला देता हूँ। यदि वे (इन्द्र) अमृत नहीं देंगे तो मैं--

(पंखों द्वारा) प्रेरित किये गये अत्यन्त समर्थ और वेगयुक्त पवनों के द्वारा पंखों से समुद्र को ऊपर फेंककर नेत्रों के अग्नि के दाह की अतिशयता के कारण व्याकुल हुए अग्नि सहित बारह सूर्यों को गिराता हुआ, चोंच से इन्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को और यम के दण्ड को चूर-चूर करके युद्ध में देवताओं को जीतकर थोड़ी देर अमृत की वर्षा कर दूँगा ॥३२॥

टिप्पणी--(१) **अतिनिर्घृणे**--अत्यन्त निर्दय या कठोर । (२) **प्राणेभ्योऽपि वल्लभम्**--प्राणों से भी बढकर प्रिय । शंखचूड के कहने का तात्पर्य है कि आपने मुझे बचाने के लिए ही तो अपने प्राण दिये हैं, इसलिए मैं आपको प्राणों से भी अधिक प्रिय हूँ । (३) **उपरतः**--मर गया । (४) **प्रमृष्टमयशः**--अपयश मिट गया अर्थात् बोधिसत्त्व की हत्या करने के कारण जो अपयश मिला वह मिट जाएगा, क्योंकि मैं अमृत लाकर इस महात्मा के साथ ही, पूर्वभक्षित साँपों को भी जिला दूँगा । (५) **लोकपालाः**--हे आठो दिशाओं और उपदिशाओं के पालक । लोकपाल ये कहलाते हैं--'इन्द्रो वह्निः पितृपतिः नैर्ऋतो वरुणो मरुत् । कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ॥' इत्यमरः । (६) **त्रिदशपतिम्** इन्द्र को । तिस्रः बालकौमारयौवनानि दशाः अवस्थाः येषां ते त्रिदशाः 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः, 'बहुव्रीहौ

संख्येये डजबहुगणात्' इति सूत्रेण डच् प्रत्ययः। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः। (७) अभ्यर्थ्य--प्रार्थना करके। अभि√अर्थ्+णिच्+क्त्वा--ल्यप्। (८) तद्विसृष्टेन--उसके द्वारा छोड़े गये या दिये गये। वि√सृज्+क्त=विसृष्ट। (९) आशीविषान् साँपों को। 'आशीविषो विषधरश्चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरः। 'आशीस्तालुगता दंष्ट्रा यया विद्धो न जीवति'। (१०) प्रेर्यमाणैः--प्रेरित (उत्पन्न) किये गये। प्र√ईर्+लट् (कर्मणि)--शानच्। (११) पटुतरजवनैः--अतिशय निपुण और वेगशाली (१२) पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः--पंखों से समुद्र को उछालता-आन्दोलित करता हुआ। (१३) नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः--(मेरे) नेत्रों के अग्नि की दाह (जलन) की अधिकता से व्याकुल होकर गिरते हुए अग्नि समेत बारहों सूर्यों वाला (१४) शक्राशनि०--इन्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को और यमराज के दण्ड को। (१५) आजौ--युद्ध में। इस श्लोक में विकट बन्ध होने से ओज नामक गुण है, रौद्र रस है और स्रग्धरा छन्द है ॥३२॥

तदयं गतोऽस्मि।

[इति सारोपं परिक्रम्य निष्क्रान्तः]

जीमूतकेतुः--वत्स शङ्खचूड! किमद्यापि स्थीयते? समाहृत्य दारूणि पुत्रस्य मे विरचय चितां, येन वयमप्यनेन सहैव गच्छामः।

वृद्धा--पुत्त शंखचूड! लहु सज्जेहि। दुक्खं अम्हेहि विणा भादुओ दे चिट्ठदि। (पुत्र शङ्खचूड! लघु सज्जय। दुःखमस्माभिर्विना भ्राता ते तिष्ठति।)

शङ्खचूडः--[सास्रम्] यदाज्ञापयन्ति गुरवः। नन्वग्रत एवाहं युष्माकम्। [उत्थाय चितारचनां कृत्वा] तात! अम्ब! सज्जीकृतेयं चिता।

जीमूतकेतुः--कष्टं! भोः कष्टम्!!

उष्णीषः स्फुट एष मूर्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
श्चक्षुस्तामरसानुकारि हरिणा वक्षः स्थलं स्पर्धते।
चक्राङ्कौ चरणौ तथापि हि कथं हा वत्स मद्दुष्कृत-
स्त्वं विद्याधरचक्रवर्ति पदवीमप्राप्य विश्राम्यसि ॥३३॥

अन्वय--एष: स्फुट: उष्णीष: मूर्धनि विभाति, भ्रुवो: अन्त: इयम् ऊर्णा विभाति, चक्षु: तामरसानुकारि, वक्षः स्थलं हरिणा स्पर्धते, चरणौ चक्राङ्कौ, तथापि हा वत्स ! मद्दुष्कृतैः विद्याधरचक्रर्वातिपदवीम् अप्राप्य हि त्वं कथं विश्राम्यसि ? ॥३३॥

व्याख्या--दारूणि--काष्ठानि, समाहृत्य--सञ्चित्य ।

एषः--अयम्, उष्णीषः--चक्रर्वातित्वसूचकः चिह्नविशेषः, मूर्धनि—शिरसि, विभाति, भ्रुवोः, अन्तः--मध्यभागे, इयम्--एषा, ऊर्णा--रोमावर्तः, विभाति—शोभते, चक्षुः--नेत्रं, तामरसानुकारि--रक्तोत्पलसदृशं, वक्षःस्थलम्--उरः-स्थलं, हरिणा--सिंहेन, स्पर्धते--स्पर्धां करोति, चरणौ--पादौ, चक्राङ्कौ--चक्रेण चिह्नितौ, तथापि--चक्रवर्तिनः समस्तचिह्नसद्भावेऽपि, हा वत्स ! मद्दुष्कृतैः--मम पापैः, विद्याधरचक्रवर्तिपदवीं--विद्याधराणां चक्रवर्तिनः सम्राजः पदवीं पदम्, अप्राप्य हि--अलब्ध्वैव, त्वं, कथं, विश्राम्यसि--विश्रामं करोषि ? ॥३३॥

अनुवाद--तो यह मैं चला।

[इस प्रकार आडम्बर के साथ घूमकर चला जाता है]

जीमूतकेतु--पुत्र शङ्खचूड ! क्या अब भी हम रहें? लकड़ियाँ इकट्ठी करके मेरे पुत्र की चिता बनाओ, जिससे हम भी इसी के साथ चले जायँ।

वृद्धा--पुत्र शंखचूड ! शीघ्र तैयार करो । हम लोगों के बिना तुम्हारा भाई दुःख से रहता होगा ।

शंखचूड--[आँसू के साथ] गुरुओं की जो आज्ञा । मैं आप लोगों से आगे ही रहूँगा । [उठकर चिता बनाकर] पिता जी ! माता जी ! यह चिता बना दी ।

जीमूतकेतु--कष्ट है ! अजी ! कष्ट है ! !

यह स्पष्ट उष्णीष-रेखा मस्तक पर विराजमान है, भौंहों के बीच यह (रोम-समूह) शोभित है, नेत्र रक्तकमल की समता धारण करता है, वक्षः-स्थल सिंह (की छाती) से होड़ लगाये बैठा है और चरण चक्र से चिह्नित हैं,

तो भी हाय वत्स ! मेरे पापों से विद्याधरसम्राट् की पदवी को बिना पाये ही तुम कैसे विश्राम कर रहे हो ? ॥३३॥

टिप्पणी—(१) साटोपम्—आडम्बर या अकड़ के साथ। (२) उष्णीष: आदि—दे० अंक १ श्लोक १८ की टिप्पणी ॥३३॥

देवि ! किमपरं रुद्यते ? तदुत्तिष्ठ, चितामारोहामः ।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति]

मलयवती—[बद्धाञ्जलिरूर्ध्वं पश्यन्ती] भअवदि गोरि ! तुए आणत्तं जहा—'विज्जाहरचक्कवट्टी भट्टा दे भविस्सदि' त्ति, ता कहं मम मन्दभग्गाए किदे तुमंपि अलीअवादिणी संवुत्ता ? (भगवति गौरि ! त्वया आज्ञप्तं, यथा—'विद्याधरचक्रवर्ती भर्ता ते भविष्यति' इति; तत् कथं मम मन्दभाग्यायाः कृते त्वमप्यलीकवादिनी संवृत्ता ?)

[ततः प्रविशति ससम्भ्रमा गौरी]

गौरी—महाराज जीमूतकेतो ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठातव्यम् ।

जीमूतकेतुः—अये ! कथममोघदर्शना गौरी !

गौरी—[मलयवतीमुद्दिश्य] वत्से ! कथमहमलीकवादिनी भवेयम् ? [नायकमुपसृत्य कमण्डलुजलेनाभ्युक्षन्ती]

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्स ! जीव जीमूतवाहन ॥३४॥

अन्वय—वत्स ! निजेन जीवितेन अपि जगताम् उपकारिणः ते परितुष्टा अस्मि, जीमूतवाहन ! जीव ॥३४॥

व्याख्या—अलीकवादिनी—मिथ्यावादिनी, संवृत्ता—संजाता। अमोघदर्शना—अमोघम् अव्यर्थं सफलमिति यावत् दर्शनं यस्याः तादृशी, गौरी—पार्वती। अभ्युक्षन्ती—सिञ्चन्ती।

वत्स—पुत्र, निजेन--स्वीयेन, जीवितेनापि--प्राणैरपि, जगतां--सर्वेषां जगद्वासिनाम्, उपकारिण:--कल्याणकर्तुः, ते--तव, परितुष्टास्मि—अतिशयेन प्रीतास्मि, जीमूतवाहन !, जीव--प्राणिहि ॥३४॥

अनुवाद—देवी ! और क्या रोती हो ? इसलिए उठो, चिता पर चढ़ें।

[सब उठ खड़े होते हैं]

मलयवती--[हाथ जोड़कर ऊपर देखती हुई] हे भगवती गौरी ! तुमने आज्ञा दी थी कि--'तुम्हारा स्वामी विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा'। सो क्यों मुझ अभागिन के लिए तुम भी मिथ्यावादिनी हो गई।

[तदनन्तर हड़बड़ी के साथ गौरी प्रवेश करती है]

गौरी--महाराज जीमूतकेतु ! नहीं नहीं, ऐसा दुःसाहस मत कीजिए।

जीमूतकेतु--अये ! क्या अमोघ दर्शन वाली गौरी हैं।

गौरी—[मलयवती को लक्ष्य करके] पुत्री ! मैं कैसे मिथ्यावादिनी हो सकती हूँ ? [नायक के समीप जाकर कमण्डलु के जल सींचती हुई]

पुत्र ! अपने प्राणों से भी संसार का कल्याण करने वाले तुमसे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ, जीमूतवाहन ! जीवित हो जाओ।

टिप्पणी--(१) अलीकवादिनी--असत्य बोलने वाली। अलीकं वदितुं शीलमस्याः इति अलीकवादिनी अलीक√वद्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, ततो ङीप्। (२) अमोघदर्शना--जिसका दर्शन व्यर्थ नहीं जाता है। (३) अभ्युक्षन्ती—छिड़कती हुई। (४) निजेन जीवितेन अपि—अपने प्राणों से भी ॥३४॥

[नायकः उत्तिष्ठति]

जीमूतकेतुः--[सहर्षम्] देवि ! दिष्ट्या वर्धसे। प्रत्युज्जीवितो वत्सः।

वृद्धा—भअवदीए पसादेण। (भगवत्याः प्रसादेन।)

[उभौ गौर्याः पादयोः पतित्वा नायकमालिङ्गतः]

मलयवती--[सहर्षम्] दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदो अज्जउत्तो। (दिष्ट्या प्रत्युज्जीवित आर्यपुत्रः।) [गौर्याः पादयोः पतति]

नायकः--[गौरीं दृष्ट्वा बद्धाञ्जलिः] भगवति!
अभिलषिताधिकवरदे! प्रणिपतितजनार्तिहारिणि! शरण्ये!।
चरणौ नमाम्यहं ते विद्याधरपूजिते! गौरि! ॥३५॥

अन्वय--अभिलषिताधिकवरदे, प्रणिपतितजनार्तिहारिणि, शरण्ये, विद्याधरपूजिते, गौरि, अहं ते चरणौ नमामि ॥३५॥

व्याख्या--अभिलषित०--अभिलषितात्--प्रार्थितात् अधिकं वरं ददातीति तथाभूते, प्रणिपतितजनार्तिहारिणि--प्रणिपतितानां शरणमागतानां जनानाम् आर्तिं पीडां हरतीति तच्छीले, शरण्ये--शरणे रक्षणे साध्वी तत्सम्बोधने, विद्याधरपूजिते--विद्याधरैः पूजिते अर्चिते, गौरि--पार्वति, अहं, ते--तव, चरणौ--पादौ, नमामि--वन्दे ॥३५॥

अनुवाद--[नायक उठ खड़ा होता है]

जीमूतकेतु--[हर्ष के साथ] देवी! भाग्य से बढ रही हो। पुत्र पुनर्जीवित हो गया।

वृद्धा--भगवती की कृपा से।

[दोनों गौरी के चरणों पर गिरकर नायक का आलिंगन करती हैं]

मलयवती--[हर्ष के साथ] भाग्य से आर्यपुत्र पुनर्जीवित हो गये। [गौरी के चरणों पर गिरती है]

नायक--[गौरी को देखकर अंजलि बांधे] भगवती!

कामना से भी अधिक वर देने वाली! प्रणाम करने वाले जनों की पीडा हरने वाली! शरणागतों की रक्षा करने में समर्थ या रुचि रखने वाली! विद्याधरों की पूजनीय! (भगवती) गौरी! मैं तुम्हारे चरणों को प्रणाम करता हूँ।।३५।।

टिप्पणी--(१) अभिलषित०--मनोरथ से भी अधिक वर देने वाली। (२) प्रणिपतित०--प्रणाम करने वाले या शरण में आये हुए के कष्ट मिटाने वाली। (३) शरण्ये--शरण देने या शरणागत की रक्षा करने में पटु।

शरणे साध्वी इति शरण्या शरण+यत्+टाप् तत्सम्बुद्धौ। यहाँ अभीष्टसिद्धि-सम्पादन आदि अभिप्रायगर्भित विशेषणों के होने से परिकर अलंकार है, जिसका लक्षण है—'अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु नः शिवः ।।' (कुवलयानन्द) ।।३५।।

[इति गौर्याः पादयोः पतति]

[सर्वे ऊर्ध्वं पश्यन्ति]

जीमूतकेतुः——अये ! कथमनभ्रा वृष्टिः !! भगवति ! किमेतत् ?

गौरी——राजन् जीमूतकेतो ! जीमूतवाहनं प्रत्युज्जीवयितुमेतांश्चास्थिशेषानुरगपतीन् समुपजातपश्चात्तापेन पक्षिपतिना देवलोकादियममृतवृष्टिः पातिता । [अङ्गुल्या निर्दिश्य] किं न पश्यति भवान् ?——

सम्प्राप्ताखण्डदेहाः स्फुटफणमणिभिर्भासुरैरुत्तमाङ्गै-
र्जिह्वाकोटिद्वयेन क्षितिममृतरसास्वादलोभाल्लिहन्तः ।
सम्प्रत्याबद्धवेगा मलयगिरिसरिद्वारिपूरा इवामी
वक्रैः प्रस्थानमार्गैर्विषधरपतयस्तोयराशिं विशन्ति ।।३६।।

अन्वय——सम्प्राप्ताखण्डदेहाः स्फुटफणमणिभिः भासुरैः उत्तमाङ्गैः अमृतरसास्वादलोभात् जिह्वाकोटिद्वयेन क्षितिं लिहन्तः अमी विषधरपतयः आबद्धवेगाः मलयगिरिसरिद्वारिपूराः इव वक्रैः प्रस्थानमार्गैः सम्प्रति तोयराशिं विशन्ति ।। ३६।।

व्याख्या——अनभ्रा——नास्ति अभ्रं मेघो यस्यां तादृशी, वृष्टिः——जलवर्षणम् । अस्थिशेषान्——कङ्कालमात्रावशिष्टान्, उरगपतीन्——सर्पराजान्, पक्षिपतिना——गरुडेन ।

सम्प्राप्ताखण्डदेहाः——सम्प्राप्तः सम्यक्रूपेण आसादितः अखण्डः सम्पूर्णः देहः शरीरं यैः तथोक्ताः, स्फुटफणमणिभिः——स्फुटाः विशदं लक्ष्यमाणाः फणानां मणयः येषु तादृशैः, भासुरैः——विद्योतिभिः, उत्तमाङ्गैः——शिरोभिः (उपलक्षिताः), अमृतरसास्वादलोभात्——अमृतरसस्य यः आस्वादः लेहनं तस्य लोभात् गार्ध्यात्, जिह्वाकोटिद्वयेन——जिह्वाद्वयाग्रभागेन, क्षितिं——पृथ्वीं, लिहन्तः——आस्वादयन्तः,

अमी—एते, विषधरपतयः—सर्पराजाः, आवद्धवेगाः—आबद्धः धृतः वेगः (पुत्रादीनां दर्शनार्थं गमने) त्वरा यैः तादृशाः, मलयगिरिसरिद्वारिपूराः—मलयगिरेः मलयपर्वतात् निः सरन्तीनां सरितां नदीनां वारिपूराः जलप्रवाहाः, इव, वक्रैः—कुटिलैः, प्रस्थानमार्गैः—गमनमार्गैः, सम्प्रति—अधुना, तोयराशि—समुद्रं, विशन्ति—प्राप्नुवन्ति ॥३६॥

अनुवाद—[यह कहकर गौरी के पैरों पर गिरता है]

[सभी ऊपर की ओर देखते हैं]

जीमूतकेतुः—अरे! बिना बादल की वृष्टि कैसी? भगवती! यह क्या है?

गौरी—राजन् जीमूतकेतु! जीमूतवाहन को तथा इन अस्थिशेष नागों को पुनर्जीवित करने के लिए पश्चात्ताप से युक्त गरुड ने देवलोक से यह अमृत की वर्षा की है। [अंगुली से दिखाकर] क्या आप नहीं देखते (कि)—

समूचे शरीर को प्राप्त किये हुए, स्पष्ट दिखाई देने वाली फणों की मणियों से चमकते हुए शिरों से युक्त और अमृतरस के स्वाद के लोभ के कारण जीभ की दोनों नोकों से भूमि को चाटते हुए ये सर्पराज वेगयुक्त होकर मलयपर्वत की नदियों के जलप्रवाह की भाँति टेढ़े-मेढ़े चलने के मार्गों से अब समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं ॥३६॥

टिप्पणी—(१) **अनभ्रा**—बिना बादल की। नास्ति अभ्रं यस्यां सा (नञ्बहुव्रीहि)। 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः। (२) **समुपजातपश्चात्तापेन**—जिसे पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ हो। समुपजातः पश्चात्तापो यस्य सः (ब० स०), तेन। (३) **सम्प्राप्ताखण्डदेहाः**—जिन्हें सम्पूर्ण शरीर मिल गया हो ऐसे। (४) **भासुरैः**—चमकने वाले। √भास्+घुरच् 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति सूत्रेण। (५) **उत्तमाङ्गैः**—मस्तकों से (उपलक्षित)। यहाँ 'इत्थंभूतलक्षणे' सूत्र से उपलक्षण में तृतीया हुई। (६) **जिह्वाकोटिद्वयेन**—जिह्वा के दोनों अग्र भागों से। (७) **मलयगिरिसरिद्वारिपूरा इव**—मलयाचल की नदियों के जल-प्रवाहों की तरह। (८) **वक्रैःप्रस्थानमार्गैः**—चलने के टेढ़े-मेढ़े मार्गों से। कहने का तात्पर्य है कि जैसे नदियों की जलधारायें तटों की ऊँचाई-नीचाई के अनुसार टेढ़े-मेढ़े मार्गों से होकर समुद्र में पहुँच जाती हैं उसी तरह फणा की मणियों से

चमकते हुए मस्तक वाले नाग अमृतरस के लोभ से अमृतसिक्त भूमि को चाटते हुए वेग के साथ टेढ़े-मेढ़े मार्ग से समुद्र में घुस रहे हैं। इस श्लोक में उपमा अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है ॥३६॥

[नायकमुद्दिश्य] वत्स जीमूतवहान ! न त्वं जीवितदानमात्रस्यैव योग्यः, तदयमपरस्ते प्रसादः ।

हंसांसाहतहेमपङ्कजरजः सम्पर्कपङ्कोज्झितै-
रुत्पन्नैर्मम मानसादुपनतैस्तोयैर्महापावनैः ।
स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैरेषाऽभिषिच्य स्वयं ।
त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनमहं प्रीत्या करोमि क्षणात् ॥३७॥

अन्वय--हंसांसाहतहेमपङ्कजरजः सम्पर्कपङ्कोज्झितैः मम मानसात् उत्पन्नैः महापावनैः स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैः उपनतैः तोयैः अभिषिच्य एषा अहं स्वयं प्रीत्या क्षणात् त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनं करोमि ॥३७॥

व्याख्या--हंसांसाहत०--हंसानां मानसौकसाम् अंसैः स्कन्धः आहतानां ताडितानां हेमपङ्कजानां स्वर्णकमलानां रजसः परागस्य सम्पर्के यः पङ्कः कर्दमः तेन उज्झितैः परित्यक्तैः, मम--मे, मानसात्--अन्तःकरणात्, उत्पन्नैः--जातैः, महापावनैः--अतिशयेन पवित्रैः, स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैः--स्वेच्छया संकल्पेन निर्मितेषु रचितेषु रत्नकुम्भेषु रत्नमयघटेषु निहितैः स्थापितैः, उपनतैः --इच्छानुसारेण प्राप्तैः, तोयैः--जलैः, अभिषिच्य--स्नापयित्वा, एषा, अहं, स्वयं, प्रीत्या--प्रेम्णा, क्षणात्--मुहूर्तमात्रेण, त्वां--भवन्तं, विद्याधरचक्रवर्तिनं --विद्याधराणां चक्रवर्तिनं सम्राजं, करोमि--विदधामि ॥३७॥

अनुवाद--[नायक को लक्ष्य करके] पुत्र जीमूतवाहन ! तुम केवल जीवनदान के ही योग्य नहीं हो, इसलिए तुम पर यह दूसरा अनुग्रह है।

हंसों के कंधों से हिलाये गये सुवर्ण-कमल के पराग के संसर्ग से होने वाले कीचड़ से रहित, मेरे मन से उत्पन्न, महापवित्र, स्वेच्छा से निर्मित रत्नों के घड़ों में रखे गये तथा इच्छानुसार प्राप्त हुए जलों से यह मैं स्वयं प्रसन्नता से अभिषेक करके थोड़ी ही देर में तुम्हें विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा बना देती हूँ ॥३७॥

टिप्पणी--(१) **हंसांसाहत०**--हंसों के कंधों से ताडित स्वर्ण-कमलों के हिलने से झड़ी हुई धूलि के संसर्ग से उत्पन्न कीचड़ से रहित। यहाँ 'हंसासेवित०' पाठभेद के अनुसार अर्थ होगा--'हंसों से उपभुक्त०'। (२) **मानसात्**----(१) अन्तःकरण से, (२) मानसरोवर से। यहाँ गौरी के मन रूपी मानसरोवर अर्थ अपेक्षित है। मानसरोवर के जल में पराग के अधिक गिरने से कीचड़ हो जाता है, पर गौरी के मन से उत्पन्न जल में ऐसी कलुषता नहीं है। (३) **स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैः**--अपने संकल्प से बनाये गये रत्नों के घड़ों में रखे हुए। (४) **उपनतैः**--इच्छानुसार प्राप्त हुए। (५) **तोयैः**--जल से। 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयम्' इत्यमरः। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥३७॥

अपि च--

अग्रेसरीभवतु काञ्चनचक्रमेत-
देष द्विपश्च धवलो दशनैश्चतुर्भिः।
श्यामो हरिर्मलयवत्यपि चेत्यमूनि
रत्नानि ते समवलोकय चक्रवर्तिन् ॥३८॥

अन्वय--एतत् काञ्चनचक्रम् अग्रेसरीभवतु च चतुर्भिः दशनैः (उपलक्षितः) एषः धवलः द्विपः, श्यामः हरिः, मलयवती अपि च अमूनि रत्नानि ते (सन्ति), चक्रवर्तिन्! समवलोकय ॥३८॥

व्याख्या--एतत्--पुरो दृश्यमानं, काञ्चनचक्रं--सुवर्णालङ्कृतं चक्रम्, अग्रेसरीभवतु--दीयमानेषु रत्नेषु प्रथमं भवतु, च--पुनः, चतुर्भिः, दशनैः--दन्तैः, (उपलक्षितः) एषः, धवलः--उज्ज्वलः, द्विपः--हस्ती, श्यामः--कृष्णवर्णः, हरिः--अश्वः, मलयवती, अपि च, अमूनि, रत्नानि, ते--तव (सन्ति), चक्रवर्तिन्--(विद्याधराणां) राजाधिराज!, समवलोकय--पश्य ॥३८॥

अनुवाद--और भी--यह सोने का बना हुआ चक्र सर्वप्रथम (तुम्हें प्राप्त) हो, चार दाँतों वाला यह सफेद हाथी, काला घोड़ा, मलयवती और ये रत्न तुम्हारे हैं; हे चक्रवर्ती! (इन्हें) देखो ॥३८॥

टिप्पणी--(१) **काञ्चनचक्रम्**--सोने का पहिया। (२) **अग्रेसरीभवतु**---आगे-आगे आने वाला, सर्वप्रथम। (३) **दशनैः**--दन्तों से। यहाँ 'इत्थंभूत-

लक्षणे' सूत्र से उपलक्षण में तृतीया हुई। 'दशनैः उपलक्षितः युक्त इत्यर्थः'। (४) हरिः--घोड़ा। 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" ।। इत्यमरः। (५) चक्रवर्तिन्--हे सार्वभौम राजा। चक्रवर्ती राजा के पास सात रत्न आवश्यक (मानी गई हैं) भार्या पुरोहितश्चैव सेनानी रथकृच्च यः। पत्त्यश्वौ कलभश्चेति प्राणिनः सप्त कीर्तिताः ॥' ललितविस्तर में भी सात ही का उल्लेख है--'चक्ररत्नं हस्तिरत्नम् अश्वरत्नं स्त्रीरत्नं मणिरत्नं गृहपतिरत्नं परिणायकरत्नमेव सप्तमम्'। किन्तु हर्षदेव ने यहाँ चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न तथा स्त्रीरत्न--इन चार ही रत्नों का उल्लेख किया है। इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ॥३८॥

अपि च--

आलोक्यन्तामनी[1] मत्प्रचोदिताश्चटुलचूडामणिमरीचिरचितेन्द्रचापपंक्तयो भक्त्यावनतपूर्वकायाः प्रणमन्ति मतङ्गदेवादयो विद्याधरपतयः। तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

नायकः--[जानुभ्यां स्थित्वा] अतः परमपि प्रियमस्ति ?

त्रातोऽयं शङ्खचूडः पतगपतिमुखाद्वैनतेयो विनीत-
स्तेन प्राग्भक्षिता ये विषधरपतयो जीवितास्तेऽपि सर्वे।
मत्प्राणाप्त्या विमुक्ता न गुरुभिरसवश्चक्रवर्तित्वमाप्तं
साक्षात् त्वं देवि ! दृष्टा प्रियमपरमतः किं पुनः प्रार्थ्यते यत् ? ॥३९॥

अन्वय--अयं शङ्खचूडः पतगपतिमुखात् त्रातः, वैनतेयः विनीतः, तेन प्राग् ये विषधरपतयः भक्षिताः ते सर्वेऽपि जीविताः, मत्प्राणाप्त्या गुरुभिः असवः न विमुक्ताः, चक्रवर्तित्वम् आप्तम्। देवि ! त्वं साक्षात् दृष्टा, अतः परं किं प्रियं यत् पुनः प्रार्थ्यते ? ॥३९॥

व्याख्या--मत्प्रचोदिताः--मया प्रेरिताः, चटुलचूडामणिमरीचिरचितेन्द्रचापपंक्तयः--चटुलानां (प्रणामत्वरया) चञ्चलानां चूडामणीनां शिरःप्रसाधनानां मरीचिभिः किरणैः रचिताः इन्द्रचापानाम् इन्द्रधनुषां पंक्तयः श्रेणयः यैः तथाभूताः, भक्त्या--पूज्येषु अनुरागेण, अवनतपूर्वकायाः--अवनतः प्रणतिव्यापारे नम्रः पूर्वकायः शिरः येषां तथोक्ताः।

---

१ शारदशशाङ्कनिर्मलबालव्यजनहस्ता।

अयं--दृश्यमानः, शङ्खचूडः, पतगपतिमुखात्--गरुडाननात्, त्रातः--रक्षितः, वैनतेयः--गरुडः, विनीतः--स्वतो विनयं प्रापितः, तेन--गरुडेन, प्राक्--पूर्वं, ये, विषधरपतयः--सर्पराजाः, भक्षिताः--खादिताः, ते, सर्वेऽपि, जीविताः--पुनर्जीवनं प्रापिताः, मत्प्राणाप्त्या--मम जीवितस्य लाभेन, गुरुभिः--पूज्यजनैः, असवः--प्राणाः, न विमुक्ताः--न त्यक्ताः, चक्रवर्तित्वं--सार्वभौमपदम्, आप्तं--लब्धम् । देवि, त्वं--भवती, साक्षात्--स्वयं, दृष्टा--नेत्रगोचरीकृता, अतः परम्--अस्मात् अधिकं, किं, प्रियम्--अभीष्टं, यत्, पुनः--भूयः, प्रार्थ्यते--याच्यते ? ।।३९।।

अनुवाद--और भी--इन्हें देखो कि--मेरी प्रेरणा से चंचल चूडामणि की किरणों के कारण इन्द्रधनुषों की श्रेणियाँ बनाते हुए तथा भक्ति से मस्तक झुकाये हुए मतंगदेव आदि विद्याधरराज तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं। पुनः तुम्हारा कौन-सा प्रिय उपकार करूँ ?

नायक--[घुटनों के बल अवस्थित होकर] क्या इससे भी बढ़कर कोई बात प्रिय हो सकती है ?--

इस शंखचूड की गरुड के मुख से रक्षा हो गई, गरुड विनम्र हो गया, उसने पहले जिन नागराजों को खाया था, वे सभी जीवित हो गये, मेरे प्राणों के प्राप्त हो जाने से गुरुजनों ने प्राण नहीं छोड़े और मैंने चक्रवर्ती-पद प्राप्त कर लिया। हे देवी ! आपका साक्षात् दर्शन हुआ; इससे बढ़कर क्या प्रिय (वस्तु) है, जो पुनः माँगूं ? ।।३९।।

टिप्पणी --(१) मत्प्रचोदिताः--मुझसे प्रेरित । यहाँ 'शारदशशाङ्कनिर्मलबालव्यजनहस्ताः' पाठ भेद का अर्थ होगा--'शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह स्वच्छ चँवरों को हाथों में रखे'। (२) चटुलचूडामणिमरीचिरचितेन्द्रचापपंक्तयः--हिलते-डुलते चूडामणियों की कान्तियों से इन्द्रधनुषों की पंक्तियाँ बनाये हुए। (३) अवनतपूर्वकायाः--शिर को झुकाये हुए। (४) यत्पुनः प्रार्थ्यते--जिसके लिए पुनः प्रार्थना करूँ। भाव यह है कि आपकी कृपा से मेरे सभी मनोरथ पूरे हो गये, कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है। इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है ।।३९।।

तथाऽपीदमस्तु । [भरतवाक्यम्]

वृष्टिं हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतो मुञ्चन्तु काले घनाः
कुर्वन्तु प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां क्षितिम् ।
चिन्वानाः सुकृतानि वीतविपदो निर्मत्सरैर्मानसै-
र्मोदन्तां[1] घनबद्धबान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः प्रजाः ।।४०।।

---

१ सन्तत च ।

अन्वय--हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतः घनाः काले वृष्टिं मुञ्चन्तु, क्षितिं प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां कुर्वन्तु, निर्मत्सरैः मानसैः सुकृतानि चिन्वानाः वीतविपदः घनबद्धबान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः प्रजाः मोदन्ताम् ।।४०।।

व्याख्या--भरतवाक्यम्--नटवाक्यम् ।

हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतः--हृष्टानाम् आह्लादितानां शिखण्डिनां मयूराणां ताण्डवानि उद्धतनृत्यानि बिभ्रतीति तथोक्ताः, घनाः--मेघाः, काले--उपयुक्ते समये, वृष्टिं--जलवर्षणं, मुञ्चन्तु--किरन्तु, क्षितिं--पृथ्वीं, प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां--प्रतिरूढानि सेकसम्बन्धेन विरूढानि सन्ततानि अविरलानि हरिन्ति हरिद्वर्णानि शस्यानि घास एव उत्तरीयं वस्त्रं यस्याः तथाभूतां, कुर्वन्तु--विदधतु, . निर्मत्सरैः--अन्यशुभद्वेषरहितैः, मानसैः--चेतोभिः, सुकृतानि--पुण्यानि, चिन्वानाः--पुनः पुनः सम्पादयन्त्यः, वीतविपदः--विपत्तिहीनाः, घनबद्धबान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः--घनं निबिडं यथा स्यात् तथा बद्धः स्थिरीकृतः बन्धूनां बान्धवानां सुहृदां मित्राणां च गोष्ठीषु नृत्यगीतादिसमाजेषु प्रमोदः आनन्दः याभिः तथाभूताः, प्रजाः--प्रकृतयः, मोदन्ताम्--प्रहृष्यन्तु ।।४०।।

अनुवाद--तो भी यह हो । [भरतवाक्य]

हर्षित मयूरों के नृत्य को पुष्ट करने वाले मेघ समय पर वर्षा करें तथा पृथ्वी को उगे हुए हरे सस्यों की चादर ओढ़ाये रहें। दूसरे की भलाई के प्रति द्वेष करने से रहित मन से पुण्यों का संचयन करती हुई, विपत्तियों से रहित और बन्धुओं एवं मित्रों की मण्डलियों में छककर आनन्द मनाने वाली प्रजायें प्रमुदित रहें ।।४०।।

टिप्पणी--(१) भरतवाक्यम्--नाटक के अन्त में आशीर्वाद रूप में अभिनेताओं द्वारा गाये जाने वाले पद्य को 'भरतवाक्य' कहते हैं--'भरतानां नटानां वाक्यं गेयं पद्यम्' । यह भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि के स्मरण के रूप में नाटक का अन्तिम श्लोक पढ़ा जाता है। भरतवाक्य को काव्यसंहार तथा प्रशस्ति भी कहते हैं। प्रशस्ति का लक्षण--'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते' । 'प्रशस्तिः शुभशंसनम्' । 'भरतवाक्य' शब्द नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में भी पाया जाता है। फिर यह कबसे और कैसे चल पड़ा, यह अन्वेषणीय है। (२) हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतः--हर्षित मयूरों के उद्धत नृत्य को धारण या पुष्ट करने वाले। कहते हैं कि वर्षाकाल में बादलों के घिर आने पर मयूर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं। शिखण्डः चूडा विद्यते यस्य स शिखण्डी=मयूरः । शिखण्ड+इनि । 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः । (३) प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयाम्--उगे हुए सतत हरे रंग के धान्यों की चादर वाली। कहने का तात्पर्य है कि मेघ समय पर वर्षा करते रहें, जिससे पृथ्वी सस्यशामला बनी रहे।

(४) निर्मत्सरैः--द्वेष-रहित। (५) सुकृतानि--पुण्य। (६) चिन्वानाः--बटोरते हुए। (७) वीतविपदः--विपत्ति से रहित। वीताः समाप्ताः विपदः आपत्तयो यासां ताः (ब० स०)। (८) घनबद्धबन्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः--बन्धु-बान्धवों एवं मित्रों की मण्डलियों में जमकर आमोद-प्रमोद करने वाली। जो अपना वियोग सहन न कर सके वह बन्धु है और जो सदा अनुगामी रहे वह सुहृद् है--'अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुगतः सुहृत्'। श्लोक का भाव यह है कि मेघ समय पर बरसें, पृथ्वी धान्यसम्पन्न बनी रहे और प्रजायें पुण्य-संचय करती हुई विपत्तिरहित होकर मित्र-मण्डली में आमोद-प्रमोद करें। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।।४०।।

अपि च--

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ।।४१।।

अन्वय--सर्वजगतां शिवम् अस्तु, भूतगणाः परहितनिरताः भवन्तु, दोषाः नाशं प्रयान्तु, लोकः सर्वत्र सुखी भवतु ।।४१।।

व्याख्या--सर्वजगतां--निखिलविश्वस्य, शिवं--कल्याणम्, अस्तु--भवतु, भूतगणाः--प्राणिनः, परहितनिरताः--परेषाम् अन्येषां हितेषु कल्याणसाधनेषु, निरताः--तदेकपराः, भवन्तु--जायन्ताम्, दोषाः--कामक्रोधादयो दश चित्त-विकारहेतवः, नाशं--क्षयं, प्रयान्तु--गच्छन्तु, लोकः--जनः, सर्वत्र--सर्वस्मिन् स्थाने, सुखी--सुखसम्पन्नः, भवतु--जायताम् ।।४१।।

अनुवाद--और भी--

सारे संसार का कल्याण हो, समस्त प्राणी दूसरे की भलाई करने में लगे रहें, बुराइयाँ दूर हो जायँ और लोग सभी जगह सुखी रहें ।।४१।।

टिप्पणी--(१) शिवम्--कल्याण। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः। (२) दोषाः--चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले दस प्रकार के दोष माने गये हैं--'कामः क्रोधो मदो मानः पैशुन्यं परिवादिता। लोभाहंकारनष्ठुर्यदम्भा दोषा दश स्मृताः' ।।४१।।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति पञ्चमोऽङ्कः।

[इसके बाद, सब चले जाते हैं]

पाँचवाँ अंक समाप्त।

नागानन्दं समाप्तम्

० शं भूयात् ०

Bhawan's Sri Sankaracharya Bharatiya Vidya Bhavan's Vidyalaya
730

Bhawan's Sri Sankaracharya ... Bharatiya Vidya ...

संस्कृत साहित्य के अद्वितीय ग्रंथ

- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास——डा० रामजी उपाध्याय
  भाग १ (काव्य साहित्य) १२.००; भाग २ (नाट्य साहित्य-पूर्वार्ध) १०.००
- भारत की संस्कृति साधना—डा० रामजी उपाध्याय १०.००
- प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति—डा० रामजी उपाध्याय १२.००
- भारतीय संस्कृति का उत्थान—डा० रामजी उपाध्याय १.७५
- भारत की सामाजिक क्रान्ति—डा० रामजी उपाध्याय ३.००
- संस्कृत के महाकवि और काव्य—डा० रामजी उपाध्याय ८.००
- भारतीय संस्कृति—डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ५.५०
- संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका—डा० बाबूराम सक्सेना ६.००
- संस्कृत निबन्ध दर्पण—Aptes Guide to Sanskrit Composition ५.००
- सिद्धान्तकौमुदी-कारकदीपिका—पं० मोहन वल्लभ पंत ४.७५
- लघुसिद्धान्तकौमुदी—संज्ञा-संधि ०.६०; अजन्त पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग २.००
  कृदन्त कारक, समास, तद्धित, २.५०; पुंल्लिंग सुबन्त, लकारार्थ, स्त्रीप्रत्यय १०.५०
- श्रीमद्वाल्मीकि रामायण—दस खण्ड (सटीक)—द्वारका प्रसाद शर्मा २४.००
- रघुवंशम्—सर्ग २–२.२५; सर्ग १३-२.०० व सर्ग, ३, ४, ५, ६, ८, १४ प्रत्येक २.००

रघुवंशम्—सर्ग १	३.२५	मुद्राराक्षस-नाटकम्	७.५०
नलोपाख्यानम्	३.००	वेणीसंहार-नाटकम्	५.५०
प्रतिमानाटकम्—कपिलदेव द्विवेदी	८.५०	स्वप्नवासवदत्तम्	६.००
मेघदूतम्—पूर्व २.५० व उत्तर	२.५०	ऊरुभंगम्	१.७५
कुमारसंभवम्—सर्ग १, १.०० व सर्ग ५	२.५०	रत्नावली-नाटिका	४.५०
शिशुपालवधम्—सर्ग १ ४.०० व सर्ग २	२.००	मालविकाग्निमित्रम्	३.००
किरातार्जुनीयम्—सर्ग १ ३.०० व सर्ग २	१.२५	विक्रमोर्वशीयम्	६.००
हर्षचरित—प्रथम उच्छ्वास	२.२५	भोजप्रबन्ध	२.००
काव्यप्रकाश—पञ्चम् उल्लास	३.२५	नीतिशतक	३.००
बुद्धचरितम्—सर्ग १–१.८० सर्ग ३	०.७५	वैराग्यशतक	२.००
उत्तररामचरितम्—सर्ग ३	१.५०	अमरकोष	५.५०
मित्रलाभ—हितोपदेश	३.२५	ईशावास्योपनिषद्	५.२५
पंचतन्त्र पंचम भवन	२.००	कठोपनिषद्	२.५०
कादम्बरी—	८.५०	शुकनासोपदेश	१.५०
दशकुमारचरित—पूर्व पीठिका	२.००	महाश्वेतावृत्तान्त	३.२५
पंचतन्त्र—अपरीक्षितकारक	२.४०	विक्रमचरितम्	४.००

रामनारायणलाल विजयकुमार

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता

२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२११००२

२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२